जनवरी-मार्च, 2017 [संयुक्तांक]

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका

प्रधान संपादक
डा. एम. सी. पांडेय

संपादक
विनोद कुमार आर्य

महत्वपूर्ण निर्णय

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 25 और अनुच्छेद 51क(च) – नैतिक शिक्षा – राष्ट्रीय हित में नैतिक मूल्यों को मन में बैठाने और राष्ट्रीय भावना को पोषित करने के लिए कक्षा 1 से 12 के पाठ्यक्रम में अनिवार्य विषय के रूप में नैतिक विज्ञान को सम्मिलित करने का परमादेश जारी नहीं किया जा सकता क्योंकि शिक्षा प्रदान करने और शिक्षा नीति को लागू करने का उत्तरदायित्व कार्यपालिका पर है जो ऐसे विशेषज्ञों जिनके पास समाज, शिक्षा और छात्रों से संबंधित विशेषज्ञता प्राप्त है, की सिफारिशों पर कार्य करता है ।

संतोष सिंह बनाम **भारत संघ और अन्य** 103

विधि साहित्य प्रकाशन

संसद् के अधिनियम

अनुसूचित जनजाति और अन्य परंपरागत वन निवासी (वन अधिकारों की मान्यता) अधिनियम, 2006 (1) – (15)

पृष्ठ संख्या 1 – 191 [2017] 1 उम. नि. प.

विधि साहित्य प्रकाशन
विधायी विभाग
विधि और न्याय मंत्रालय
भारत सरकार

संपादक-मंडल

डा. जी. नारायण राजू,
सचिव, विधायी विभाग

डा. रीटा वशिष्ठ, अपर सचिव,
विधायी विभाग

डा. बी. एन. मणि,
सेवानिवृत्त अपर विधि सलाहकार,
विधि मंत्रालय

डा. सुरेन्द्र कुमार शर्मा, प्रिन्सिपल,
विधि विभाग, डी आई आर डी, गुरु
गोविंद सिंह इन्द्रप्रस्थ विश्वविद्यालय

डा. ऋषिपाल सिंह,
सेवानिवृत्त संयुक्त सचिव एवं विधायी
परामर्शी, राजभाषा खंड

श्री कृष्ण गोपाल अग्रवाल,
सेवानिवृत्त संपादक, वि.सा.प्र.

डा. अनुराग दीप,
एसोसिएट प्रोफेसर,
भारतीय विधि संस्थान

डा. मिथिलेश चन्द्र पांडेय,
प्रधान संपादक

श्री विनोद कुमार आर्य,
संपादक

श्री कमला कान्त,
संपादक

श्री अविनाश शुक्ला,
संपादक

सहायक संपादक : सर्वश्री असलम खान और पुण्डरीक शर्मा

उप-संपादक : सर्वश्री महीपाल सिंह और जसवन्त सिंह

कीमत : डाक-व्यय सहित

एक प्रति : ₹ 57

वार्षिक : ₹ 225

© 2017 भारत सरकार, विधि और न्याय मंत्रालय

प्रकाशन और विक्रय प्रबंधक, विधि साहित्य प्रकाशन, विधि और न्याय मंत्रालय (विधायी विभाग), भगवानदास मार्ग, नई दिल्ली-110001 द्वारा प्रकाशित तथा..... द्वारा मुद्रित ।

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका

जनवरी-मार्च, 2017

निर्णय-सूची

	पृष्ठ संख्या
अजय कुमार पांडेय **बनाम** जम्मू-कश्मीर राज्य (देखिए – पृष्ठ संख्या 66)	
अनीता कुशवाहा **बनाम** पुष्प सूदन	66
एल. नारायण स्वामी **बनाम** कर्नाटक राज्य और अन्य	152
कल्पना तिवारी **बनाम** रजनीकांत तिवारी (देखिए – पृष्ठ संख्या 66)	
कुनपारेड्डी **उर्फ** नुकाला शंका बालाजी **बनाम** कुनपारेड्डी स्वर्ण कुमारी और एक अन्य	49
गुंजन वजीर **बनाम** विवेक वजीर (देखिए – पृष्ठ संख्या 67)	
गुंजन वजीर **बनाम** विवेक वजीर और अन्य (देखिए – पृष्ठ संख्या 67)	
गीता भाटिया **बनाम** माधव भाटिया (देखिए – पृष्ठ संख्या 67)	
गोविंदास्वामी **बनाम** केरल राज्य	178
तमना सोढी **बनाम** तिलक चौधरी (देखिए – पृष्ठ संख्या 67)	
नेहा **बनाम** संदीप वैष्णवी (देखिए – पृष्ठ संख्या 67)	
प्रभू चावला **बनाम** राजस्थान राज्य	142
बालू पुत्र ओंकार पुंड और अन्य **बनाम** महाराष्ट्र राज्य	1
भाविका भारती **बनाम** नकुल महाजन (देखिए – पृष्ठ संख्या 67)	

पृष्ठ संख्या

मंजू बाला **बनाम** विनोद कुमार
(देखिए – पृष्ठ संख्या 68)

मनोज कुमार शर्मा **बनाम** छत्तीसगढ़ राज्य 116

राखी चौधरी बल्दोत्रा **बनाम** योगेश कुमार बल्दोत्रा
(देखिए – पृष्ठ संख्या 66)

शाहिद खान **बनाम** राजस्थान राज्य 38

संतोष सिंह **बनाम** भारत संघ और अन्य 103

साधु शरण सिंह **बनाम** उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य 14

सुप्रिया **बनाम** पंकज धर
(देखिए – पृष्ठ संख्या 66)

सोनाली पिम्पले **उर्फ** सोनाली मोरे और अन्य **बनाम** सी. के. मोरे
(देखिए – पृष्ठ संख्या 66)

संसद् के अधिनियम

अनुसूचित जनजाति और अन्य परंपरागत वन निवासी
(वन अधिकारों की मान्यता) अधिनियम, 2006 1 – 15

पृष्ठ संख्या

घरेलू हिंसा से महिला संरक्षण अधिनियम, 2005 (2005 का 43)

– धारा 12, 19 से 23 और 31 – मूल अर्जी में संशोधन – ऐसे दंड न्यायालय जो संहिता द्वारा शासित हैं में परिवादों में संशोधन का पूर्ण अवरोध नहीं है किंतु सीमित परिस्थितियों में सावधानी और सतर्कता के साथ संशोधन अनुज्ञात करने की शक्ति का प्रयोग किया जाना चाहिए ।

कुनपारेड्डी उर्फ **नुकाला शंका बालाजी** बनाम **कुनपारेड्डी स्वर्ण कुमारी और एक अन्य** 49

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2)

– धारा 154 और 174 – पुलिस को मृतका द्वारा आत्महत्या करने की इत्तिला प्राप्त होना – जांच करने पर मामला फांसी लगाने का पाया जाना और किसी कूटकर्म का चिह्न प्रकट न होना – कोई संज्ञेय अपराध कारित न होने का उल्लेख करते हुए पुलिस द्वारा उप-मंडल मजिस्ट्रेट के समक्ष अंतिम रिपोर्ट प्रस्तुत किया जाना – रिपोर्ट स्वीकार करते हुए मामला बंद किया जाना – पांच वर्ष पश्चात् अपीलार्थियों के विरुद्ध नए सिरे से प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज किया जाना – संधार्यता – पुलिस द्वारा पूर्ववर्ती इत्तिला के आधार पर जो अन्वेषण किया गया था, वह धारा 174 के अधीन की जाने वाली जांच थी, इसलिए बाद में धारा 154 के अधीन दर्ज की गई प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को एक ही घटना की दूसरी प्रथम इत्तिला रिपोर्ट होने के आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती ।

मनोज कुमार शर्मा बनाम **छत्तीसगढ़ राज्य** 116

– धारा 154 और 482 [दंड संहिता, 1860 की धारा 304ख और 498क] – मृतका-पत्नी द्वारा की गई आत्महत्या फांसी लगाने का मामला पाए जाने और कोई कूटकर्म का

पृष्ठ संख्या

चिह्न पाए जाने पर पुलिस द्वारा अंतिम रिपोर्ट प्रस्तुत किया जाना – उप-मंडल अधिकारी द्वारा रिपोर्ट स्वीकार करते हुए मामला बंद किया जाना – मृतका के भाई द्वारा पांच वर्ष पश्चात् मृतका की मृत्यु दहेज के लिए की गई एक पूर्वनियोजित हत्या बताते हुए अपीलार्थियों के विरुद्ध नए सिरे से प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज किया जाना – प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज कराने में विलंब – घटना के पश्चात् अपीलार्थी और प्रत्यर्थियों के बीच सौहार्दपूर्ण संबंध बने रहने के कारण प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज कराने में किए गए असाधारण विलंब से इसमें किए गए अभिकथनों की सत्यता पर गंभीर संदेह उत्पन्न होता है, इसलिए न्याय के हित में इसे अभिखंडित करना उचित होगा ।

मनोज कुमार शर्मा बनाम **छत्तीसगढ़ राज्य** 116

– धारा 156, 177 और 178 [दंड संहिता, 1860 की धारा 304ख और 498क] – मृतका-पत्नी द्वारा 'अम्बाला' में आत्महत्या किया जाना – अम्बाला पुलिस द्वारा इत्तिला प्राप्त होने पर धारा 174 की अपेक्षाओं का पालन करते हुए जांच किया जाना – मामला फांसी लगाने का पाया जाना और किसी कूटकर्म का चिह्न प्रकट न होना – मृतका के नातेदारों द्वारा कोई संदेह प्रकट न किया जाना और धारा 154 के अधीन कोई प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज न किया जाना – पुलिस द्वारा मामले की अंतिम रिपोर्ट उप-मंडल मजिस्ट्रेट के समक्ष प्रस्तुत किया जाना और रिपोर्ट स्वीकार करते हुए मामला बंद किया जाना – पांच वर्ष पश्चात् अपीलार्थियों के विरुद्ध भिलाई नगर, जिला दुर्ग में नए सिरे से प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज किया जाना – क्षेत्रीय अधिकारिता – अभिकथित अपराध का संपूर्ण वाद हेतुक तात्पर्यित रूप से अंबाला शहर में उद्भूत हुआ था, इसलिए अधिकारिता के आधार पर अपीलार्थियों के विरुद्ध दर्ज की गई दांडिक कार्यवाहियां अभिखंडित किए जाने योग्य हैं ।

मनोज कुमार शर्मा बनाम **छत्तीसगढ़ राज्य** 116

पृष्ठ संख्या

– धारा 482 और धारा 397 – उच्च न्यायालय की अंतर्निहित अधिकारिता – उच्च न्यायालय को धारा 482 के अधीन अपनी अंतर्निहित शक्तियों का प्रयोग करते हुए न्याय के प्रयोजनों को पूरा करने और किसी न्यायालय की प्रक्रिया के दुरुपयोग को रोकने की असाधारण शक्ति है, चूंकि धारा 397 अंतर्वर्ती आदेश से भिन्न सभी आदेशों को लागू होती है अतः धारा 482 के अधीन अंतर्निहित शक्ति की उपलब्धता को सीमित करना अन्यायसंगत होगा ।

प्रभू चावला बनाम **राजस्थान राज्य** 142

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45)

– धारा 300 और 325 – हत्या – मृत्यु दंड – आशय – अभियुक्त द्वारा रेलगाड़ी के महिला डिब्बे में चढ़कर अकेली यात्रा कर रही मृतका पर हमला और उसे अभिकथित रूप से चलती गाड़ी से नीचे गिराकर क्षतिग्रस्त हालत में बलात्संग – चिकित्सा साक्ष्य से यह दर्शित होना कि विपदग्रस्त की मृत्यु उसे पहुंची क्षतियों और मैथुन करने के लिए उसे ऊर्ध्वमुख स्थिति में रखने के कारण हुई थी – मृतका द्वारा अपने को बचाने के लिए स्वयं चलती गाड़ी से कूदने की संभाव्यता को न नकारा जाना – मृतका को पहुंची इन क्षतियों के लिए अभियुक्त को उत्तरदायी ठहराने के लिए कोई साक्ष्य न होना – अभियुक्त द्वारा मृतका को क्षतिग्रस्त दशा में ऊर्ध्वमुख स्थिति में रखने का आशय उसके साथ बलात्संग करना था न कि उसकी हत्या और यह भी कि अभियुक्त को यह ज्ञान था कि उसके ऐसे कृत्य से उसकी मृत्यु होना संभाव्य है – इसलिए उसकी धारा 302 के अधीन दोषसिद्धि और दंडादेश को अपास्त करके हमला आदि के कृत्य के लिए धारा 325 के अधीन दोषसिद्ध और दंडादिष्ट करना उचित होगा ।

गोविंदास्वामी बनाम **केरल राज्य** 178

पृष्ठ संख्या

– धारा 302 – हत्या – जहां मामले के तथ्यों और परिस्थितियों, चिकित्सीय साक्ष्य और प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों की परीक्षा तीन दिन बाद कराए जाने और साक्षियों का साक्ष्य संदिग्ध पाए जाने से युक्तियुक्त संदेह से परे यह साबित नहीं होता है कि हत्या का अपराध अभियुक्तों द्वारा किया गया वहां अभियुक्त व्यक्तियों को दोषसिद्ध ठहराना न्यायोचित नहीं है ।

शाहिद खान बनाम **राजस्थान राज्य** 38

– धारा 302, 148 और 149 – हत्या – सामान्य उद्देश्य – प्रत्यक्षदर्शी साक्षी के साक्ष्य में कोई विसंगति और विपथन न होने, चिकित्सीय साक्ष्य और प्रत्यक्षदर्शी साक्ष्य में छुट-पुट विसंगतियों की दशा में प्रत्यक्षदर्शी साक्ष्य को स्वीकार करने, साक्ष्यों के आलोक में संदेह से परे घटनास्थल के साबित होने, अभिकथित घटना के लिए युक्तियुक्त हेतु साबित होने और अभियुक्तों द्वारा अन्यत्र होने के अभिवाक् को साबित करने में असफल रहने पर, अभियुक्त दोषसिद्ध ठहराए जाने और दंडादिष्ट किए जाने के योग्य हैं ।

साधु शरण सिंह बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य** 14

– धारा 302 और धारा 304 भाग I – हत्या – हत्या की कोटि में न आने वाला मानव वध – जहां मृतका की हत्या करने का कोई आशय या हेतु न हो, मृतका की अभियुक्त के साथ कोई पूर्व शत्रुता न हो और हत्या के आशय के बिना अचानक झगड़ा होने का मामला हो वहां अभियुक्त द्वारा मृतका को क्षति पहुंचाने के स्पष्ट कृत्य के अभाव में अभियुक्त को हत्या कारित करने के अपराध के बजाय हत्या की कोटि में न आने वाले मानव वध के अपराध के लिए दोषसिद्ध किया जाना उचित और न्यायसंगत है ।

बालू पुत्र ओंकार पुंड और अन्य बनाम **महाराष्ट्र राज्य** 1

पृष्ठ संख्या

– धारा 376 और 397 – बलात्संग और लूट – अभियुक्त द्वारा रेलगाड़ी के महिला डिब्बे में चढ़कर अकेली यात्रा कर रही विपदग्रस्त पर हमला – उसे अभिकथित रूप से चलती गाड़ी से धक्का दिया जाना – उसके साथ क्षतिग्रस्त हालत में बलात्संग और उसका सामान लूटा जाना – आजीवन कारावास – मरणोत्तर परीक्षा रिपोर्ट, डी. एन. ए. रेखाचित्र और डाक्टर के साक्ष्य से यह साबित होने पर कि अभियुक्त ने ही विपदग्रस्त के साथ बलात्संग किया था और अपराध करने के पश्चात् उसका मोबाइल फोन आदि ले गया था तथा अपराध जिस पाश्विक और घृणास्पद रीति में किया गया, उसको देखते हुए उस पर अधिरोपित आजीवन कारावास का दंडादेश न्यायोचित है ।

गोविंदास्वामी बनाम **केरल राज्य** 178

भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 (1947 का 2)

– धारा 13(2), 13(1)(घ) और 19 [सपठित भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 34, 120(ख), 427, 447 और 506] – लोक सेवक द्वारा अपने पद का दुरुपयोग – अभियोजन हेतु सक्षम प्राधिकारी की पूर्व-मंजूरी – यदि किसी लोक सेवक द्वारा अपने पद का दुरुपयोग किया जाता है और उसके विरुद्ध परिवाद के आधार पर मामले का संज्ञान उस समय लिया जाता है जब वह उस लोक पद पर नहीं रहता है तो उसके विरुद्ध अभियोजन हेतु सक्षम प्राधिकारी की मंजूरी लेना आवश्यक नहीं होता है ।

एल. नारायण स्वामी बनाम **कर्नाटक राज्य और अन्य** 152

संविधान, 1950

– अनुच्छेद 14 और 21 – न्याय तक पहुंच – न्याय तक पहुंच का अधिकार संविधान के अनुच्छेद 21 के अधीन प्राण के अधिकार का एक पहलू है और यह अनुच्छेद 14 में गारंटीकृत विधि के समक्ष समता और विधि के समान

पृष्ठ संख्या

संरक्षण का भी एक भाग है ।

अनीता कुशवाहा बनाम **पुष्प सूदन** 66

– अनुच्छेद 25 और अनुच्छेद 51क(च) – नैतिक शिक्षा – राष्ट्रीय हित में नैतिक मूल्यों को मन में बैठाने और राष्ट्रीय भावना को पोषित करने के लिए कक्षा 1 से 12 के पाठ्यक्रम में अनिवार्य विषय के रूप में नैतिक विज्ञान को सम्मिलित करने का परमादेश जारी नहीं किया जा सकता क्योंकि शिक्षा प्रदान करने और शिक्षा नीति को लागू करने का उत्तरदायित्व कार्यपालिका पर है जो ऐसे विशेषज्ञों जिनके पास समाज, शिक्षा और छात्रों से संबंधित विशेषज्ञता प्राप्त है, की सिफारिशों पर कार्य करता है ।

संतोष सिंह बनाम **भारत संघ और अन्य** 103

– अनुच्छेद 32, 136 और 142 [सपठित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (1908 का 1) – धारा 25, दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) – धारा 406, जम्मू-कश्मीर राज्य सिविल प्रक्रिया संहिता, 1977 और जम्मू-कश्मीर दंड प्रक्रिया संहिता, 1989] – मामलों का अंतरण – उच्चतम न्यायालय को सिविल प्रक्रिया संहिता, दंड प्रक्रिया संहिता, जम्मू-कश्मीर सिविल प्रक्रिया संहिता और जम्मू-कश्मीर दंड प्रक्रिया संहिता में जम्मू-कश्मीर राज्य के किसी न्यायालय से देश के किसी अन्य न्यायालय में या देश के किसी अन्य न्यायालय से जम्मू-कश्मीर राज्य के न्यायालय में मामलों को अंतरित करने का कोई उपबंध न होने के बावजूद संविधान के अनुच्छेद 32, 136 और 142 के अधीन अपनी व्यापक शक्तियों का प्रयोग करते हुए लोकहित में देश के किसी न्यायालय में मामलों को अंतरित करने का अधिकार है ।

अनीता कुशवाहा बनाम **पुष्प सूदन** 66

तुलनात्मक सारणी

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका

[2017] 1 उम. नि. प.

जनवरी-मार्च, 2017

क्र. सं.	निर्णय का नाम व तारीख	उम. नि. प.	ए. आई. आर. (एस. सी.)	एस. सी. सी.
1	2	3	4	5
1.	बालू पुत्र ओंकार पुंड और अन्य **बनाम** महाराष्ट्र राज्य (2.2.2015)	[2017] 1	1 2015 949	(2015) 3 409
2.	साधू शरण सिंह **बनाम** उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य (26.2.2016)	14	2016 1160	(2016) 4 357
3.	शाहिद खान **बनाम** राजस्थान राज्य (2.3.2016)	38	1178	4 96
4.	कुनपारेड्डी उर्फ नुकाला शंका बालाजी **बनाम** कुनपारेड्डी स्वर्ण कुमारी और एक अन्य (18.3.2016)	49	2519	11 774
5.	अनीता कुशवाहा **बनाम** पुष्प सूदन (19.7.2016)	66	3506	8 509
6.	संतोष सिंह **बनाम** भारत संघ और अन्य (22.7.2016)	103	3456	8 253

1	2	3			4		5	
7.	मनोज कुमार शर्मा **बनाम** छत्तीसगढ़ राज्य (23.8.2016)	[2017] 1	116	2016	3930		(2016) 9	1
8.	प्रभू चावला **बनाम** राजस्थान राज्य (5.9.2016)		142		-		-	-
9.	एल. नारायण स्वामी **बनाम** कर्नाटक राज्य और अन्य (6.9.2016)		152		4125		9	558
10.	गोविंदास्वामी **बनाम** केरल राज्य (15.9.2016)		178		-		-	-

[2017] 1 उम. नि. प. 1

बालू पुत्र ओंकार पुंड और अन्य

बनाम

महाराष्ट्र राज्य

2 फरवरी, 2015

न्यायमूर्ति दीपक मिश्र और न्यायमूर्ति अभय मनोहर सप्रे

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) – धारा 302 और धारा 304 भाग I – हत्या – हत्या की कोटि में न आने वाला मानव वध – जहां मृतका की हत्या करने का कोई आशय या हेतु न हो, मृतका की अभियुक्त के साथ कोई पूर्व शत्रुता न हो और हत्या के आशय के बिना अचानक झगड़ा होने का मामला हो वहां अभियुक्त द्वारा मृतका को क्षति पहुंचाने के स्पष्ट कृत्य के अभाव में अभियुक्त को हत्या कारित करने के अपराध के बजाय हत्या की कोटि में न आने वाले मानव वध के अपराध के लिए दोषसिद्ध किया जाना उचित और न्यायसंगत है ।

अप्पाराव राजाराम पुंड और माधवराव रंगनाथराव रंगे दोनों ही ग्राम इतिलापुर, जिला परभानी के निवासी हैं और एक-दूसरे के अच्छे मित्र हैं । दोनों कृषक हैं । सावित्री बाई माधवराव रंगे की पत्नी थी । लगभग 25-30 वर्ष पूर्व माधवराव ने इसी ग्राम में अपने मवेशियों के लिए अप्पाराव से 2 कट्ठा भूमि क्रय की थी और उसने उस भूमि का कब्जा भी ले लिया था । तथापि, इन दोनों व्यक्तियों के बीच कोई भी विक्रय-विलेख निष्पादित नहीं किया गया था किंतु माधवराव ने वहां पर पशुशाला को बने रहने दिया । समय बीतने के साथ-साथ दोनों अभियुक्त राजनीति में आ गए और उन्होंने ग्राम के सरपंच के निर्वाचन के लिए अपने-अपने पैनल बना लिए । इस निर्वाचन में माधवराव रंगे द्वारा बनाया गया पैनल विजयी घोषित किया गया और अप्पाराव पुंड का पैनल पराजित घोषित किया गया । इस घटना के कारण उन दोनों के बीच ऐसे सौहार्द संबंध नहीं रहे जैसे पूर्व में हुआ करते थे । इसके पश्चात् अप्पाराव, माधवराव पर यह दबाव डालने लगा कि वह उसकी भूमि से अपना कब्जा हटाए और पशुशाला का कब्जा अप्पाराव को

सौंपे और ऐसा न किए जाने पर उसे गंभीर परिणाम भोगने की धमकी दी । तारीख 15 जनवरी, 2008 को लगभग 7.30 से 8.00 बजे पूर्वाह्न में अपीलार्थी हथियारों से लैस होकर पशुशाला में घुस आए छत पर लगी हुई लोहे की चादरें हटाने लगे । माधवराव ने अपीलार्थियों से चादरें न हटाने का निवेदन किया । चूंकि अपीलार्थियों ने माधवराव की बात पर ध्यान नहीं दिया और वे चादरें हटाते ही रहे, इस पर माधवराव ने प्रतिरोध किया और उन्हें रोकने का प्रयास किया । उस समय सावित्री बाई और माधवराव का पुत्र अर्थात् उधव ने जो घटनास्थल पर मौजूद थे, हस्तक्षेप किया और अपीलार्थियों को चादरें हटाने से रोका । इसके परिणामस्वरूप अप्पाराव, सचिन, अच्युत और माधवराव के बीच गुत्थम-गुत्था हो गई । अभियुक्त सं. 1, 3 और 4 ने घूंसों और लातों से माधवराव की पिटाई की और उसे पशुशाला से बाहर फेंक दिया । अप्पाराव ने जो मिट्टी के तेल की बोतल लिए हुए था सम्पूर्ण तेल पशुशाला में उड़ेल दिया और सचिन ने पशुशाला में आग लगा दी । सावित्री बाई जो अपीलार्थियों का प्रतिरोध कर रही थी, को आग लग गई और उसे घातक दाह क्षतियां पहुंचीं । यह देखकर माधवराव ने अपनी पत्नी सावित्री बाई को बचाने के लिए पशुशाला में प्रवेश करने का प्रयास किया । इसके पश्चात् गोपाल ने माधवराव के सिर पर कुल्हाड़ी से प्रहार किया जिसके परिणामस्वरूप माधवराव के शरीर से रक्त बहने लगा । जब माधवराव सहायता के लिए चिल्लाया, तब नवनाथ और अन्य व्यक्ति वहां पहुंचे और उन्होंने आग बुझाने का प्रयास किया । इसके पश्चात् उन्होंने एक कपड़े में सावित्री को लपेटा और उसे लगभग 10.00 बजे पूर्वाह्न में सिविल अस्पताल ले गए । इसी दौरान, नानल पेठ पुलिस थाने में तैनात पुलिस निरीक्षक मोहम्मद बशीर शेख उमर को सूचना प्राप्त हुई कि एक महिला को अस्पताल में भर्ती कराया गया है जिसको दाह क्षतियां कारित हुई हैं । अतः, पुलिस निरीक्षक उस महिला का कथन अभिलिखित करने के लिए तुरंत अस्पताल के लिए रवाना हो गया । चिकित्सक से यह प्रमाणन प्राप्त करने के पश्चात् कि सावित्री बाई अपना कथन देने के लिए ठीक हालत में है, पुलिस निरीक्षक ने उसका कथन अभिलिखित किया । इसी दौरान, किशोर अच्युत देशमुख अर्थात् उस क्षेत्र का तहसीलदार प्रभारी अस्पताल पहुंचा और उसने सावित्री बाई का कथन अभिलिखित किया । इसके पश्चात् सहायक पुलिस निरीक्षक अन्नासाहब घोलप ने 2008 का अपराध मामला सं. 6 दर्ज किया और अन्वेषण आरंभ किया । उसी दिन 5 अभियुक्तों को गिरफ्तार किया गया, पंचनामा तैयार किया गया और घटनास्थल से कई वस्तुएं बरामद की गईं । तारीख 16

जनवरी, 2008 को 6.15 बजे पूर्वाह्न में दाह क्षतियों के कारण सावित्री बाई की मृत्यु अस्पताल में हो गई । इसके पश्चात् अन्य अभियुक्तों को भी गिरफ्तार किया गया और इन सब अभियुक्तों के विरुद्ध भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 149 के साथ पठित धारा 147, 148, 323, 324, 436, 440, 448 और 506 के अतिरिक्त धारा 302 के अधीन अपराध के लिए मामला रजिस्ट्रीकृत किया गया । इसके पश्चात् मामला विचारण के लिए सेशन न्यायालय को सुपुर्द कर दिया गया । अभियुक्तों ने दोषी होने से इनकार किया और विचारण किए जाने की मांग की । अभियोजन पक्ष ने 16 साक्षियों की परीक्षा कराई । दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 313 के अधीन अभियुक्तों के कथन अभिलिखित किए गए । सेशन न्यायाधीश ने अपीलार्थी अभियुक्तों को दोषसिद्ध किया और प्रत्येक अपीलार्थी को ऊपर विनिर्दिष्ट रूप में दंड अधिरोपित किया । उक्त आदेश को चुनौती देते हुए, अपीलार्थियों ने अपनी दोषसिद्धि के विरुद्ध उच्च न्यायालय में अपीलें फाइल कीं । उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय द्वारा उनकी अपीलें खारिज कर दीं और विचारण न्यायालय द्वारा प्रत्येक अपीलार्थी को अधिनिर्णीत दोषसिद्धि और दंडादेश की पुष्टि की । अपीलार्थियों ने उक्त आदेश के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय के समक्ष विशेष इजाजत द्वारा अपीलें प्रस्तुत कीं । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपीलें भागतः मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – प्रथमतः, सावित्री बाई की हत्या करने का किसी भी अपीलार्थी का न तो कोई हेतु था और न ही कोई आशय । द्वितीयतः, सावित्री बाई की किसी भी अपीलार्थी के साथ कोई भी शत्रुता नहीं थी । तृतीयतः, अपीलार्थी पशुशाला पर कब्जा करने गए थे और उनका माधवराव रंगे के परिवार के किसी भी सदस्य की हत्या करने का कोई आशय नहीं था । चतुर्थतः, यदि किसी प्रकार की कोई शत्रुता या ईर्ष्या मान ली जाए, तब भी वह अभियुक्त-1 के साथ हो सकती थी जिसका पैनल निर्वाचन में विजयी हुआ था । सावित्री बाई को निर्वाचन से कोई लेना देना नहीं था क्योंकि उसने निर्वाचन में कभी भी भाग नहीं लिया था । पंचमतः, अपीलार्थियों के हथियारों से लैस होने के बावजूद, उनमें से किसी भी अपीलार्थी ने सावित्री बाई को कोई भी क्षति नहीं पहुंचाई और न ही उस पर कोई वार किया था किंतु एक ही वार किया गया था जो कि माधवराव पर किया गया था और माधवराव भाग्यवश बच गया । छठा, सावित्री बाई की मृत्यु दाह क्षतियों से हुई है जिसका कारण यह था कि अपीलार्थियों ने मिट्टी का तेल उड़ेल कर पशुशाला में आग लगाई थी । दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यदि अपीलार्थियों ने पशुशाला में आग न लगाई

होती तो सावित्री की मृत्यु न होती । सातवां, पशुशाला का कब्जा किसी व्यक्ति की हत्या के आशय के बिना लेने के मुद्दे पर दो पुरुष दलों के बीच अचानक झगड़ा होने का मामला है और अंतिमतः यह कहा जा सकता है, किसी भी अपीलार्थी द्वारा सावित्री को क्षति पहुंचाने के लिए कोई भी स्पष्ट कृत्य किए जाने के अभाव में अपीलार्थियों को सावित्री की हत्या कारित करने के अपराध का दोषी दंड संहिता की धारा 302 के अधीन नहीं ठहराया जा सकता था और इसके बजाय उन्हें दंड संहिता की धारा 304 भाग I के अधीन हत्या की कोटि में न आने वाले मानव वध के अपराध के लिए दोषसिद्ध किया जाना चाहिए था । (पैरा 19)

अवलंबित निर्णय

पैरा

[2006] (2006) 11 एस. सी. सी. 444 :
पुलिचेरला नागार्जु उर्फ **नागराजा रेड्डी** बनाम
आंध्र प्रदेश राज्य ; 17

[1958] [1958] एस. सी. आर. 1495 :
विरसा सिंह बनाम **पंजाब राज्य** । 15

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2015 की दांडिक अपील सं. 175, 2015 की दांडिक अपील सं. 164-165 और 166-167.

2011 की दांडिक अपील सं. 225 में मुम्बई उच्च न्यायालय, औरंगाबाद के तारीख 3 फरवरी, 2014 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थियों की ओर से सर्वश्री गोपाल जैन (ज्येष्ठ अधिवक्ता), सुधांशु एस. चौधरी, अनीस आर. शाह और शिवाजी एम. जाधव

प्रत्यर्थी की ओर से सर्वश्री सुशील करंजकर और अनिरुद्ध पी. माई

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति अभय मनोहर सप्रे ने दिया ।

न्या. सप्रे – ये अपीलें अभियुक्त द्वारा 2011 की दांडिक अपील सं. 215 और 225 में मुम्बई उच्च न्यायालय की औरंगाबाद न्यायपीठ द्वारा पारित किए गए तारीख 1 फरवरी, 2014 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध फाइल

की गई हैं और उच्च न्यायालय में फाइल की गई ये अपीलें 2008 के सेशन विचारण मामला सं. 80 में सेशन न्यायाधीश, परभानी द्वारा पारित किए गए तारीख 11 अप्रैल, 2011 के निर्णय/आदेश से उद्भूत हैं ।

2. अभियुक्त सं. 5, 8, 9 और 10 ने 2014 की विशेष इजाजत याचिका (दांडिक) सं. 8715 फाइल की है और अभियुक्त सं. 1 और 4 ने 2004 की विशेष इजाजत याचिका (दांडिक) सं. 10109-10110 फाइल की हैं और अभियुक्त सं. 2, 3 और 6 द्वारा 2014 की विशेष इजाजत याचिका (दांडिक) सं. 9524-9525 फाइल की गई हैं ।

3. उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय के अनुसार, विद्वान् विचारण न्यायाधीश द्वारा अपीलार्थियों को अधिनिर्णीत दोषसिद्धि और दंडादेश की पुष्टि की है । यहां यह कहना पर्याप्त होगा कि अपीलार्थियों को अन्य अपराधों के अतिरिक्त दंड संहिता की धारा 149 के साथ पठित धारा 302 के अधीन दोषसिद्ध किया गया और आजीवन कारावास भोगने तथा 10,000/- रुपए के जुर्माने का संदाय करने जिसका व्यतिक्रम किए जाने पर अतिरिक्त 6 मास का कठोर कारावास भोगने का दंडादेश दिया । अन्य अपराधों के लिए जो दंडादेश अधिरोपित किए गए हैं वे 7 वर्ष के कम अवधि के हैं और सभी दंडादेशों को साथ-साथ चलाए जाने का निदेश दिया गया ।

4. अपीलार्थियों के विद्वान् काउंसेल द्वारा किए गए निवेदनों के संबंध में इस प्रश्न पर विचार करना होगा कि विद्वान् विचारण न्यायाधीश तथा उच्च न्यायालय ने घटना की उत्पत्ति और तथ्यों पर पूर्ण रूप से विचार करते हुए दंड संहिता की धारा 149 के साथ पठित धारा 302 के अधीन अपीलार्थियों को दोषसिद्ध करने में न्यायोचित किया है या नहीं या उन्हें दंड संहिता की धारा 304 भाग I के अधीन दोषसिद्ध किया जाना चाहिए था या नहीं ।

5. इन अपीलों से संबंधित मुद्दे पर विचार करने के लिए, सुसंगत तथ्यों पर संक्षेप में विचार करना आवश्यक होगा ।

6. अप्पाराव राजाराम पुंड (अभियुक्त-1) और माधवराव रंगनाथराव रंगे (अभियुक्त-3) दोनों ही ग्राम इतिलापुर, जिला परभानी के निवासी हैं और एक-दूसरे के अच्छे मित्र हैं । दोनों कृषक हैं । सावित्री बाई (मृतका) माधवराव रंगे की पत्नी थी । लगभग 25-30 वर्ष पूर्व माधवराव ने इसी ग्राम में अपने मवेशियों के लिए अप्पाराव से 2 कट्ठा भूमि क्रय की थी और उसने उस भूमि का कब्जा भी ले लिया था । तथापि, इन दोनों व्यक्तियों के बीच कोई भी विक्रय-विलेख निष्पादित नहीं किया गया था किंतु

माधवराव ने वहां पर पशुशाला को बने रहने दिया ।

7. समय बीतने के साथ-साथ दोनों अभियुक्त राजनीति में आ गए और उन्होंने ग्राम के सरपंच के निर्वाचन के लिए अपने-अपने पैनल बना लिए । इस निर्वाचन में माधवराव रंगे द्वारा बनाया गया पैनल विजयी घोषित किया गया और अप्पाराव पुंड का पैनल पराजित घोषित किया गया । इस घटना के कारण उन दोनों के बीच ऐसे सौहार्द संबंध नहीं रहे जैसे पूर्व में हुआ करते थे । इसके पश्चात् अप्पाराव, माधवराव पर यह दबाव डालने लगा कि वह उसकी भूमि से अपना कब्जा हटाए और पशुशाला का कब्जा अप्पाराव को सौंपे और ऐसा न किए जाने पर उसे गंभीर परिणाम भोगने की धमकी दी ।

8. तारीख 15 जनवरी, 2008 को लगभग 7.30 से 8.00 बजे पूर्वाह्न में अपीलार्थी हथियारों से लैस होकर पशुशाला में घुस आए छत पर लगी हुई लोहे की चादरें हटाने लगे । माधवराव ने अपीलार्थियों से चादरें न हटाने का निवेदन किया । चूंकि अपीलार्थियों ने माधवराव की बात पर ध्यान नहीं दिया और वे चादरें हटाते ही रहे, इस पर माधवराव ने प्रतिरोध किया और उन्हें रोकने का प्रयास किया । उस समय सावित्री बाई और माधवराव का पुत्र अर्थात् उधव (अभि. सा. 5) ने जो घटनास्थल पर मौजूद थे, हस्तक्षेप किया और अपीलार्थियों को चादरें हटाने से रोका । इसके परिणामस्वरूप अप्पाराव (अभियुक्त-1), सचिन (अभियुक्त-4), अच्युत (अभियुक्त-3) और माधवराव (अभि. सा. 3) के बीच गुत्थम-गुत्था हो गई । अभियुक्त सं. 1, 3 और 4 ने घूंसों और लातों से माधवराव की पिटाई की और उसे पशुशाला से बाहर फेंक दिया । अप्पाराव (अभियुक्त-1) ने जो मिट्टी के तेल की बोतल लिए हुए था सम्पूर्ण तेल पशुशाला में उड़ेल दिया और सचिन (अभियुक्त-4) ने पशुशाला में आग लगा दी । सावित्री बाई जो अपीलार्थियों का प्रतिरोध कर रही थी, को आग लग गई और उसे घातक दाह क्षतियां पहुंचीं । यह देखकर माधवराव ने अपनी पत्नी सावित्री बाई को बचाने के लिए पशुशाला में प्रवेश करने का प्रयास किया । इसके पश्चात् गोपाल (अभियुक्त-2) ने माधवराव के सिर पर कुल्हाड़ी से प्रहार किया जिसके परिणामस्वरूप माधवराव के शरीर से रक्त बहने लगा । जब माधवराव सहायता के लिए चिल्लाया, तब नवनाथ और अन्य व्यक्ति वहां पहुंचे और उन्होंने आग बुझाने का प्रयास किया । इसके पश्चात् उन्होंने एक कपड़े में सावित्री को लपेटा और उसे लगभग 10.00 बजे पूर्वाह्न में सिविल अस्पताल ले गए ।

9. इसी दौरान, नानल पेठ पुलिस थाने में तैनात पुलिस निरीक्षक मोहम्मद बशीर शेख उमर (अभि. सा. 2) को सूचना प्राप्त हुई कि एक महिला को अस्पताल में भर्ती कराया गया है जिसको दाह क्षतियां कारित हुई हैं । अतः, पुलिस निरीक्षक उस महिला का कथन अभिलिखित करने के लिए तुरंत अस्पताल के लिए रवाना हो गया । चिकित्सक से यह प्रमाणन प्राप्त करने के पश्चात् कि सावित्री बाई अपना कथन देने के लिए ठीक हालत में है, पुलिस निरीक्षक (अभि. सा. 2) ने उसका कथन (प्रदर्श 45) अभिलिखित किया । इसी दौरान, किशोर अच्युत देशमुख (अभि. सा. 1) अर्थात् उस क्षेत्र का तहसीलदार प्रभारी अस्पताल पहुंचा और उसने सावित्री बाई का कथन (प्रदर्श पी. 42) अभिलिखित किया ।

10. इसके पश्चात् सहायक पुलिस निरीक्षक अन्नासाहब घोलप (अभि. सा. 16) ने 2008 का अपराध मामला सं. 6 दर्ज किया और अन्वेषण आरंभ किया । उसी दिन 5 अभियुक्तों को गिरफ्तार किया गया, पंचनामा (प्रदर्श पी. 58) तैयार किया गया और घटनास्थल से कई वस्तुएं बरामद की गईं । तारीख 16 जनवरी, 2008 को 6.15 बजे पूर्वाह्न में दाह क्षतियों के कारण सावित्री बाई की मृत्यु अस्पताल में हो गई । इसके पश्चात् अन्य अभियुक्तों को भी गिरफ्तार किया गया और इन सब अभियुक्तों के विरुद्ध भारतीय दंड संहिता, 1860 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "दंड संहिता" कहा गया है) की धारा 149 के साथ पठित धारा 147, 148, 323, 324, 436, 440, 448 और 506 के अतिरिक्त धारा 302 के अधीन अपराध के लिए मामला रजिस्ट्रीकृत किया गया । इसके पश्चात् मामला विचारण के लिए सेशन न्यायालय को सुपुर्द कर दिया गया । अभियुक्तों ने दोषी होने से इनकार किया और विचारण किए जाने की मांग की । अभियोजन पक्ष ने 16 साक्षियों की परीक्षा कराई । दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 313 के अधीन अभियुक्तों के कथन अभिलिखित किए गए ।

11. सेशन न्यायाधीश ने अपीलार्थी अभियुक्तों को दोषसिद्ध किया और प्रत्येक अपीलार्थी को ऊपर विनिर्दिष्ट रूप में दंड अधिरोपित किया । उक्त आदेश को चुनौती देते हुए, अपीलार्थियों ने अपनी दोषसिद्धि के विरुद्ध उच्च न्यायालय में अपीलें फाइल कीं । उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय द्वारा उनकी अपीलें खारिज कर दीं और विचारण न्यायालय द्वारा प्रत्येक अपीलार्थी को अधिनिर्णीत दोषसिद्धि और दंडादेश की पुष्टि की । अपीलार्थियों ने उक्त आदेश के विरुद्ध इस न्यायालय के समक्ष विशेष इजाजत द्वारा ये अपीलें प्रस्तुत की हैं ।

12. आक्षेपित निर्णय की विधिकता और शुद्धता को चुनौती देते हुए अपीलार्थियों के विद्वान् काउंसेल श्री सुधांशु एस. चौधरी ने केवल एक मुद्दे पर दलील दी । काउंसेल के अनुसार अभियोजन पक्षकथन पर प्रथमदृष्ट्या विचार करने पर यह पता चलता है कि आरंभ में यह मामला सावित्री बाई की हत्या का नहीं था इसलिए न्यायालय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन अपीलार्थियों को दोषसिद्ध नहीं कर सकते किंतु यह मामला दंड संहिता की धारा 304 भाग I के अधीन आता है । विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी है कि किसी भी अपीलार्थी का आशय सावित्री बाई की हत्या कारित करने का नहीं था और न ही अपीलार्थी ऐसे आशय के साथ घटनास्थल पर गए थे । इसके अतिरिक्त विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी है कि अपीलार्थियों का आशय केवल पशुशाला का कब्जा लेने का था और यह घटना बलपूर्वक कब्जा लेने, दोनों दलों के बीच अचानक झगड़ा होने के परिणामस्वरूप गठित हुई और पशुशाला में आग लग जाने के कारण सावित्री बाई को दाह क्षतियां कारित हुईं जिसके परिणामस्वरूप दुर्भाग्यवश उसकी मृत्यु हो गई । यह भी दलील दी गई है कि यदि अपीलार्थी सावित्री बाई की हत्या करने के आशय के साथ घटनास्थल पर आते तब उस दल का कोई भी सदस्य सबसे पहले सावित्री बाई को निशाना बनाता और उसे क्षति पहुंचाता जो कि अपने पति (अभि. सा. 3) के साथ घटनास्थल पर पहले से मौजूद थी । ऐसा नहीं किया गया । विद्वान् काउंसेल के अनुसार मृतका की मृत्यु दाह क्षतियों के कारण हुई है क्योंकि वह पशुशाला के भीतर मौजूद थी जिसमें आग लग गई थी । अतः, विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी है कि इस न्यायालय को यह परिवर्तन करना चाहिए कि दंड संहिता की धारा 302 के बजाय दंड संहिता की धारा 304 के अधीन दंडादेश देना चाहिए क्योंकि यह हत्या का मामला नहीं है अपितु हत्या की कोटि में न आने वाला मानव वध का मामला है ।

13. इसके प्रतिकूल प्रत्यर्थी के विद्वान् काउंसेल ने आक्षेपित आदेश का समर्थन किया है और यह दलील दी है कि दोनों न्यायालयों ने अपीलार्थी को सावित्री बाई की हत्या कारित करने का ठीक ही दोषी पाया है और इस प्रकार ये अपीलें खारिज किए जाने योग्य हैं और इनमें कोई भी हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं है ।

14. पक्षकारों की ओर से विद्वान् काउंसेलों को सुनने और मामले के अभिलेख का परिशीलन करने के पश्चात् हमें अपीलार्थियों के विद्वान् काउंसेल की दलील में बल दिखाई देता है ।

15. इससे पहले कि हम वर्तमान मामले की तथ्यात्मक स्थिति पर विचार करें, इस न्यायालय द्वारा इस प्रश्न पर अधिकथित विधि पर विचार करना उचित होगा कि दंड संहिता की धारा 300 "तीसरा" के अधीन मानव वध कब हत्या बन जाता है और अभियोजन पक्ष को किन तत्वों को सिद्ध करना चाहिए । इस न्यायालय ने **विरसा सिंह** बनाम **पंजाब राज्य**[1] वाले मामले में इस मुद्दे पर विस्तार से विचार किया है ।

16. विद्वान् न्यायाधीश विवियन बोस ने अपनी विशेष लेखन शैली का प्रयोग करते हुए गहराई से निम्न मत व्यक्त किया है :–

> "13. इस पर विचार करने के लिए कि जो क्षति पहुंचाई गई है वैसी ही क्षति कारित करने का आशय था या नहीं इसके लिए आवश्यक रूप से विचार किया जाना चाहिए, उदाहरणार्थ, क्या शरीर के नाजुक अंग पर वार किया गया था या नहीं और जो क्षति कारित की गई है वह पर्याप्त बल द्वारा कारित की गई थी या नहीं । वास्तव में प्रत्येक बारीकी पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है, उदाहरणार्थ, क्या अपराधी ने अंतड़ियों पर वार करने का आशय किया था या उसने यकृत या वृक्कों या हृदय को बेधने का आशय किया था । अन्यथा, ऐसा व्यक्ति जिसे शल्य चिकित्सा की कोई जानकारी न हो, उसे इस क्षति के लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि उसे यह मालूम नहीं होता है कि शरीर में हृदय या वृक्क या अंतड़ियों की स्थिति कैसी है, यह नहीं कहा जा सकता है कि उसने इन अंगों को क्षति पहुंचाने का आशय किया था । वास्तव में, ऐसी जांच-पड़ताल नहीं की जानी चाहिए । इस पर सरसरी तौर पर विचार किया जाना चाहिए और सामान्य बुद्धि का प्रयोग किया जाना चाहिए : इस प्रकार की जांच-पड़ताल ऐसी होनी चाहिए जिसे **अधिकांश बुद्धिमान व्यक्ति उचित कहें** ।
>
> 14. संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अभियोजन पक्ष को दंड संहिता की धारा 300 के भाग 'तीसरा' के अंतर्गत मामले को लाने के पूर्व निम्न तथ्यों को साबित करना चाहिए ;
>
> 15. पहला तथ्य यह है कि यह पूर्णतया उद्देश्यात्मक रूप से सिद्ध होना चाहिए कि शारीरिक क्षति कारित की गई है ;
>
> 16. दूसरा तथ्य यह है कि क्षति की प्रकृति साबित की जानी

---

[1] [1958] एस. सी. आर. 1495.

चाहिए ; ये पूर्णतया उद्देश्यात्मक अन्वेषण है ।

17. तीसरा तथ्य यह है कि यह साबित किया जाना चाहिए कि जो क्षति कारित हुई है उसी क्षति को कारित करने का आशय किया गया था अर्थात् यह क्षति दुर्घटना के परिणामस्वरूप या बिना किसी आशय के कारित नहीं की गई है या अन्य कोई क्षति कारित करने का आशय किया गया था ।

18. जब एक बार ये तीनों बातें साबित हो जाती हैं तब आगे जांच की जानी चाहिए और,

19. चौथा तथ्य यह है कि यह साबित किया जाना चाहिए जिस प्रकार की क्षति का वर्णन किया गया है वह उपरोक्त तीन तत्वों के अनुसार कारित हुई है और वह प्रकृति के सामान्य अनुक्रम में मृत्यु कारित करने के लिए पर्याप्त है । जांच का यह भाग पूर्णतया उद्देश्यात्मक और निर्णायक है और इस क्षति का अपराधी के आशय के साथ कोई लेना-देना नहीं है ।

20. जब एक बार अभियोजन पक्ष द्वारा ये चारों तत्व सिद्ध किए जाते हैं (चूंकि वास्तव में साबित करने का भार अभियोजन पक्ष पर होता है) तब अपराध दंड संहिता की धारा 300 के भाग 'तीसरा' के अंतर्गत आएगा । यह महत्वपूर्ण नहीं है कि अपराधी का आशय मृत्यु कारित करने का नहीं था । यह भी महत्वपूर्ण नहीं है कि ऐसी क्षति कारित करने का अपराधी का आशय नहीं था जो प्रकृति के सामान्य अनुक्रम में मृत्यु कारित करने के लिए पर्याप्त हो (दोनों स्थितियों में कोई वास्तविक अंतर नहीं है) । यह भी महत्वपूर्ण नहीं है कि अपराधी को यह जानकारी नहीं थी कि इस प्रकार के कृत्य से मृत्यु हो सकती है । जब एक बार ऐसी शारीरिक क्षति कारित करने का आशय साबित हो जाता है जो क्षति पाई गई है, तब शेष जांच पूर्णतया उद्देश्यात्मक हो जाती है और शेष प्रश्न यह रह जाता है कि क्या पूर्णतया उद्देश्यात्मक निष्कर्ष को ध्यान में रखते हुए यह क्षति प्रकृति के सामान्य अनुक्रम में मृत्यु कारित करने के लिए पर्याप्त है । किसी भी व्यक्ति को यह अधिकार नहीं है कि वह किसी को मात्र इतनी क्षति कारित करे जो प्रकृति के सामान्य अनुक्रम में मृत्यु कारित करने के लिए पर्याप्त हो और फिर वह यह दावा करे कि वह हत्या के अपराध का दोषी नहीं है । यदि अपराधी इस प्रकार की क्षति कारित करते हैं तब उन्हें परिणाम भुगतने होंगे और वे केवल हत्या के अपराध

से तब बच सकते हैं जब वे यह साबित कर सकें या युक्तियुक्त रूप से यह निष्कर्ष निकलता हो कि कारित की गई क्षति दुर्घटनात्मक है या अनाशयित है ।"

17. विधि के उपर्युक्त सिद्धांत का अवलंब लेते हुए इस न्यायालय ने हाल ही में **पुलिचेरला नागार्जु** उर्फ **नागराजा रेड्डी** बनाम **आंध्र प्रदेश राज्य**[1] वाले मामले में पुनः इस मुद्दे पर विचार किया है कि इस प्रश्न को विनिश्चित करते समय कि वर्तमान मामला दंड संहिता की धारा 302 या 304 भाग I या भाग II के अधीन आता है या नहीं, कौन-कौन से सुसंगत तथ्यों को ध्यान में रखना चाहिए । न्यायमूर्ति रविन्द्रन ने निर्णय के पैरा 29 में निम्न मत व्यक्त किया है :–

"29. अतः, न्यायालय को आशय से संबंधित निर्णायक प्रश्न को कड़ी सावधानी और सतर्कता से विनिश्चित करना चाहिए क्योंकि इस प्रश्न से यह स्पष्ट होता है कि मामला दंड संहिता की धारा 302 या धारा 304 भाग I या धारा 304 भाग II के अधीन आता है या नहीं । बहुत से तुच्छ या छोटे-मोटे मामले अर्थात् वृक्ष से फल तोड़ना, मवेशियों का इधर-उधर चलना-फिरना, बच्चों का आपस में लड़ना, गाली-गलौज करना या बुरी नजर से देखना, ऐसे मामले हैं जिनमें कहा-सुनी हो जाती है और गुटों में लड़ाई होने के परिणामस्वरूप मृत्यु भी हो जाती है । ऐसे मामलों में सामान्य हेतु अर्थात् प्रतिशोध, लालच, ईर्ष्या या संदेह का भाव पूर्णतया नहीं पाया जाता । ऐसे मामलों में अपराध करने का कोई आशय नहीं होता । अपराध करने का कोई पूर्व-चिन्तन भी नहीं होता । वास्तव में ऐसे मामलों में अपराधिता नहीं पाई जाती । दूसरा पहलू यह भी है कि हत्या के कुछ ऐसे मामले होते हैं जिसमें अपराधी हत्या के दंड से बचने के लिए यह साबित करने का प्रयास करता है कि उसका आशय मृत्यु कारित करने का नहीं था । यह न्यायालय का कर्तव्य है कि वह यह सुनिश्चित करे कि दंड संहिता की धारा 302 के अधीन दंडनीय हत्या के मामले दंड संहिता की धारा 304 भाग I/ भाग II में परिवर्तित न हो जाएं, और हत्या की कोटि में न आने वाले मानव वध के मामले दंड संहिता की धारा 302 के अधीन हत्या के मामले में परिवर्तित न हो जाएं । मृत्यु कारित करने का आशय सामान्य रूप से अन्य कारकों

---

[1] (2006) 11 एस. सी. सी. 444.

सहित निम्न बातों के संयोजन से साबित किया जा सकता है – (i) प्रयोग किए गए हथियार की प्रकृति कैसी है ; (ii) क्या अभियुक्त के पास हथियार पहले से था या उसने घटनास्थल से प्राप्त किया था ; (iii) क्या वार शरीर के नाजुक अंग पर कारित करने का आशय किया गया था ; (iv) वार करने में कितने बल का प्रयोग किया गया था ; (v) क्या कृत्य अचानक लड़ाई के दौरान या सभी के एक-दूसरे के साथ मार-पीट के दौरान किया गया था ; (vi) क्या घटना अचानक घटित हुई थी या पूर्वचिन्तन के परिणामस्वरूप हुई थी ; (vii) क्या अभियुक्तों की पहले से शत्रुता चली आ रही थी या मृतका कोई अजनबी थी ; (viii) क्या गंभीर और अचानक प्रकोपन किया गया था और यदि ऐसा हुआ था तब ऐसे प्रकोपन का कारण क्या था ; (ix) क्या कृत्य आवेश की तीव्रता में किया गया था ; (x) क्या क्षति कारित करने वाले व्यक्ति ने असम्यक् लाभ लिया था या उसने क्रूरतापूर्ण और असामान्य रीति में कृत्य किया था ; और (xi) क्या अभियुक्त ने केवल एक वार किया था ; या अनेक । वास्तव में, परिस्थितियों की उपरोक्त सूची विस्तृत नहीं है अर्थात् कुछ अन्य प्रकार की विशेष परिस्थितियां भी हो सकती हैं जो प्रत्येक मामले में अलग होती हैं जिनके आधार पर आशय के प्रश्न का समाधान किया जा सकता है । कैसी भी परिस्थितियां हो सकती हैं ।"

18. विधि के उपर्युक्त सिद्धांत को वर्तमान मामले के तथ्यों को लागू करते हुए और अभियोजन साक्ष्य पर विचार करते समय उक्त सिद्धांत को ध्यान में रखते हुए, हमारा यह निष्कर्ष है कि यह ऐसा मामला है जिसमें अपीलार्थियों को दंड संहिता की धारा 302 के बजाय धारा 304 भाग I के अधीन दंडनीय अपराध के लिए दोषसिद्ध किया जाना चाहिए था ।

19. यही कारण है कि प्रथमतः, सावित्री बाई की हत्या करने का किसी भी अपीलार्थी का न तो कोई हेतु था और न ही कोई आशय । द्वितीयतः, सावित्री बाई की किसी भी अपीलार्थी के साथ कोई भी शत्रुता नहीं थी । तृतीयतः, अपीलार्थी पशुशाला पर कब्जा करने गए थे और उनका माधवराव रंगे के परिवार के किसी भी सदस्य की हत्या करने का कोई आशय नहीं था । चतुर्थतः, यदि किसी प्रकार की कोई शत्रुता या ईर्ष्या मान ली जाए, तब भी वह अभियुक्त-1 के साथ हो सकती थी जिसका पैनल निर्वाचन में विजयी हुआ था । सावित्री बाई को निर्वाचन से कोई लेना देना नहीं था क्योंकि उसने निर्वाचन में कभी भी भाग नहीं लिया

था । पंचमतः, अपीलार्थियों के हथियारों से लैस होने के बावजूद, उनमें से किसी भी अपीलार्थी ने सावित्री बाई को कोई भी क्षति नहीं पहुंचाई और न ही उस पर कोई वार किया था किंतु एक ही वार किया गया था जो कि माधवराव पर किया गया था और माधवराव भाग्यवश बच गया । छठा, सावित्री बाई की मृत्यु दाह क्षतियों से हुई है जिसका कारण यह था कि अपीलार्थियों ने मिट्टी का तेल उड़ेल कर पशुशाला में आग लगाई थी । दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है, यदि अपीलार्थियों ने पशुशाला में आग न लगाई होती तब सावित्री की मृत्यु न होती । सातवां, पशुशाला का कब्जा किसी व्यक्ति की हत्या के आशय के बिना लेने के मुद्दे पर दो पुरुष दलों के बीच अचानक झगड़ा होने का मामला है और अंतिमतः यह कहा जा सकता है कि किसी भी अपीलार्थी द्वारा सावित्री को क्षति पहुंचाने के लिए कोई भी स्पष्ट कृत्य किए जाने के अभाव में अपीलार्थियों को सावित्री की हत्या कारित करने के अपराध का दोषी दंड संहिता की धारा 302 के अधीन नहीं ठहराया जा सकता था और इसके बजाय उन्हें दंड संहिता की धारा 304 भाग I के अधीन हत्या की कोटि में न आने वाले मानव वध के अपराध के लिए दोषसिद्ध किया जाना चाहिए था ।

20. पूर्वगामी चर्चा को ध्यान में रखते हुए, हम इन अपीलों को भागतः मजूंर करते हैं । तद्नुसार अपीलार्थियों को दंड संहिता की धारा 302 के बजाय धारा 304 भाग I के अधीन दंडनीय अपराध के लिए दोषसिद्ध किया जाता है और एतद्द्वारा प्रत्येक अपीलार्थी को 7 वर्ष का कठोर कारावास अधिनिर्णीत किया जाता है ।

21. जहां तक निचले न्यायालयों द्वारा अनेक अन्य धाराओं के अधीन अधिनिर्णीत दोषसिद्धि और दंडादेश का संबंध है, जैसाकि ऊपर विनिर्दिष्ट किया गया है, वे बिना किसी हस्तक्षेप के कायम रखे जाते हैं । सभी दंडादेश साथ-साथ चलेंगे ।

अपीलें भागतः मंजूर की गई ।

अस.

[2017] 1 उम. नि. प. 14

साधु शरण सिंह

बनाम

उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य

26 फरवरी, 2016

न्यायमूर्ति दीपक मिश्र और न्यायमूर्ति एन. वी. रमण

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) – धारा 302, 148 और 149 – हत्या – सामान्य उद्देश्य – प्रत्यक्षदर्शी साक्षी के साक्ष्य में कोई विसंगति और विपथन न होने, चिकित्सीय साक्ष्य और प्रत्यक्षदर्शी साक्ष्य में छुट-पुट विसंगतियों की दशा में प्रत्यक्षदर्शी साक्ष्य को स्वीकार करने, साक्ष्यों के आलोक में संदेह से परे घटनास्थल के साबित होने, अभिकथित घटना के लिए युक्तियुक्त हेतु साबित होने और अभियुक्तों द्वारा अन्यत्र होने के अभिवाक् को साबित करने में असफल रहने पर, अभियुक्त दोषसिद्ध ठहराए जाने और दंडादिष्ट किए जाने के योग्य हैं ।

संक्षेप में अभियोजन पक्ष द्वारा तथ्य इस प्रकार प्रस्तुत किए गए हैं कि भोला सिंह इस मामले में इत्तिलाकर्ता है जो ग्राम कांसो, जिला मऊ का निवासी है और तारीख 4 अक्तूबर, 1994 को लगभग 8.00 बजे पूर्वाह्न में जब उसके पुत्र अर्थात् शिव कुमार, अवधेश और योगेन्द्र (तीनों मृतक) मवेशियों की नांद की मरम्मत कर रहे थे जहां पर इत्तिलाकर्ता का जीजा गंगा सिंह और बैजनाथ सिंह मौजूद थे और उसी समय हथियारों से लैस होकर अभियुक्त रामाश्रय सिंह, सत्येन्द्र सिंह, बृजेन्द्र सिंह, उनके पिता रामचन्द्र सिंह इत्तिलाकर्ता भोला सिंह की बैठक पर पहुंचे और इन अभियुक्तों के साथ कमला सिंह और राम सरन सिंह भी थे और अभियुक्तों ने उन्हें गालियां दीं । जब रामचन्द्र सिंह ने अपने पुत्रों को आहत के सम्पूर्ण परिवार को जान से मारने के लिए उकसाया, तब अभियुक्त रामाश्रय सिंह और कमला सिंह ने बंदूक से गोली चलाई और सत्येन्द्र सिंह तथा बृजेन्द्र सिंह ने भोला सिंह के तीनों पुत्रों पर कट्टे से हमला किया । अन्य अभियुक्तों ने भी अपने-अपने हथियारों से आहत पक्ष पर हमला किया । इस हमले में, अभि. सा. 1 के तीनों पुत्रों को क्षतियां पहुंचीं और वे जमीन पर गिर गए तथा अभि. सा. 1 के जीजा गंगा सिंह को अग्न्यायुध से क्षतियां पहुंचीं । इस झगड़े के दौरान, भोला सिंह ग्राम की ओर दौड़ा और उसने बचाव के लिए चीख-पुकार की जिस पर हमलावर भाग गए । इस हमले के

परिणामस्वरूप इत्तिलाकर्ता के दो पुत्रों अर्थात् शिव शंकर और अवधेश की घटनास्थल पर ही मृत्यु हो गई जबकि एक अन्य पुत्र अर्थात् योगेन्द्र की मृत्यु अस्पताल ले जाते समय रास्ते में ही हो गई । इत्तिलाकर्ता के कहने पर प्रथम इत्तिला रिपोर्ट उसी दिन 9.15 बजे पूर्वाह्न में पुलिस थाना हलधरपुर में दर्ज कराई गई जिसमें अभि. सा. 1 ने यह कथन किया कि यह घटना दोनों पक्षों के बीच भूमि विवाद के कारण चली आ रही शत्रुता के परिणामस्वरूप घटित हुई है । कांस्टेबल मुहर्रिर राम मनोहर मौर्या ने चिक रिपोर्ट तैयार की और दंड संहिता की धारा 147, 148, 149, 302, 307 और 504 के अधीन एक मामला सं. 219/94 दर्ज किया । इसके पश्चात् आहत गंगा सिंह को प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र चिकित्सीय उपचार के लिए भेज दिया गया । पुलिस उपनिरीक्षक रियायतुल्लाह खां (अन्वेषण अधिकारी) ने घटनास्थल का मुआयना किया, शवों की समीक्षा की, स्थल नक्शा तैयार किया और इत्तिलाकर्ता का कथन अभिलिखित किया । इसके पश्चात् अन्वेषण अधिकारी ने रक्त-रंजित मिट्टी और सादा मिट्टी प्राप्त की और इस संबंध में ज्ञापन तैयार किया । डा. ओ. पी. सिंह ने, जिन्होंने आहत गंगा सिंह की चिकित्सा परीक्षा की थी, अपनी रिपोर्ट में यह राय दी है कि सभी क्षतियां 6 घंटों के भीतर अग्न्यायुध से कारित कीं गई हैं । विचारण न्यायालय ने विचारण की सम्पूर्ण कार्यवाही करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला कि अभियुक्त क्रूर और जघन्य अपराध के दोषी हैं और तारीख 22 मई, 2003 को पारित अपने विस्तृत निर्णय द्वारा राम सरन सिंह, सत्येन्द्र सिंह और बृजेन्द्र सिंह को दंड संहिता की धारा 302/149 के अधीन अपराध के लिए आजीवन कारावास भोगने और 10,000/- रुपए जुर्माने का संदाय करने जिसका व्यतिक्रम किए जाने पर 2 वर्ष का अतिरिक्त कठोर कारावास भोगने के लिए दंडादिष्ट किया । अभियुक्तों को दंड संहिता की धारा 307/149 के अधीन भी दोषसिद्ध किया गया और 7 वर्ष का कठोर कारावास भोगने तथा 5,000/- रुपए जुर्माने का संदाय करने जिसका व्यतिक्रम किए जाने पर 1 वर्ष का अतिरिक्त कठोर कारावास भोगने के लिए दंडादिष्ट किया । इन अपीलार्थियों को दंड संहिता की धारा 148 के अधीन भी दोषसिद्ध किया गया । उन्हें 2 वर्ष का कठोर कारावास भोगने और 1,000/- रुपए जुर्माने का संदाय करने जिसके व्यतिक्रम किए जाने पर अतिरिक्त 6 मास का कठोर कारावास भोगने के लिए दंडादिष्ट किया गया । अभियुक्त रामाश्रय सिंह और कमला सिंह पर दंड संहिता की धारा 302/149 के अधीन मृत्यु दंड अधिरोपित किया गया और साथ ही 10,000/- रुपए जुर्माने का संदाय करने जिसका व्यतिक्रम किए जाने पर

2 वर्ष का अतिरिक्त कारावास भोगने का दंडादेश दिया गया । उन्हें दंड संहिता की धारा 307/149 के अधीन भी दोषसिद्ध किया गया और 7 वर्ष का कठोर कारावास भोगने तथा 5,000/- रुपए के जुर्माने का संदाय करने जिसका व्यतिक्रम किए जाने पर 1 वर्ष का अतिरिक्त कठोर कारावास भोगने का दंडादेश दिया गया । इन अपीलार्थियों को दंड संहिता की धारा 148 के अधीन भी दोषसिद्ध किया गया । उन्हें 2 वर्ष का कठोर कारावास भोगने और 1,000/- रुपए जुर्माने का संदाय करने जिसका व्यतिक्रम किए जाने पर 6 मास का अतिरिक्त कठोर कारावास भोगने का दंडादेश दिया गया । इस आदेश से व्यथित होकर, सभी अभियुक्तों ने उच्च न्यायालय के समक्ष दांडिक अपीलें फाइल कीं । उच्च न्यायालय ने सेशन न्यायाधीश द्वारा निकाले गए निष्कर्षों के प्रति पूर्ण रूप से असहमति अभिलिखित की और अभियुक्तों की ओर से फाइल की गई अपीलें मंजूर करते हुए विचारण न्यायालय का निर्णय अपास्त कर दिया तथा उन्हें आरोपों से दोषमुक्त कर दिया, साथ ही अभियुक्त रामाश्रय सिंह और कमला सिंह के संबंध में पारित किए गए मृत्यु दंड की पुष्टि के लिए फाइल किए गए निर्देश को भी खारिज कर दिया । उच्च न्यायालय द्वारा पारित किए गए दोषमुक्ति के आदेश से व्यथित होकर मृतक-इत्तिलाकर्ता के भाई की ओर से विशेष इजाजत द्वारा वर्तमान अपीलें फाइल की गई हैं । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपीलें मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – प्रत्येक निष्कर्ष तर्क पर आधारित होता है, समुचित कारण के बिना निष्कर्ष अर्थहीन हो जाता है । उच्च न्यायालय द्वारा पारित आक्षेपित निर्णय और आदेश, विचारण न्यायालय द्वारा पारित निर्णय पर विचार करने तथा अभिलेख का परिशीलन करने और विधि की सुस्थापित स्थिति के आलोक में वर्तमान मामले के तथ्यों पर सावधानीपूर्वक विचार करने के पश्चात् न्यायालय की यह सुविचारित राय है कि उच्च न्यायालय का निर्णय तर्कणा के अभाव में अपास्त किए जाने योग्य है । उच्च न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया है कि मृतक के पिता भोला सिंह ने अपनी दूसरी बार कराई गई मुख्य परीक्षा में दिए गए वृत्तांत में परिवर्तन किया है । घटनाक्रम पर सावधानीपूर्वक विचार करने पर न्यायालय का यह निष्कर्ष है कि विचारण आरंभ होने के पश्चात्, अभि. सा. 1 का साक्ष्य तारीख 9 अगस्त, 1996 को प्रारंभ हुआ था जो कि तारीख 21 अगस्त, 1996 को सम्पूर्ण हुआ । तारीख 9 जनवरी, 1997 को प्रतिपरीक्षा आरंभ की गई और इसके पश्चात् तारीख 29 मई, 1997 को दोबारा की गई

क्योंकि कुछ अभियुक्तों ने इस दौरान न्यायालय के समक्ष अभ्यर्पण किया था । तारीख 29 मई, 1997 को जो मुख्य परीक्षा दोबारा की गई थी वह तारीख 19 जून, 1997 को सम्पूर्ण हुई । तारीख 17 जुलाई, 1997 को दूसरी बार प्रतिपरीक्षा का आरंभ किया गया जो तारीख 24 जुलाई, 1997 को सम्पूर्ण हुई । जैसाकि विभिन्न तारीखों से पता चलता है, अभिलेख से यह उपदर्शित होता है कि अभि. सा. 1 की जो मुख्य परीक्षा पहली बार तारीख 9 अगस्त, 1996 को हुई थी, वह तारीख 24 जुलाई, 1997 को द्वितीय प्रतिपरीक्षा होने के पश्चात् पूर्ण हुई थी । इसलिए, अभि. सा. 1 के साक्ष्य से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि मुख्य परीक्षा और प्रतिपरीक्षा कई बार खंडों में की गई थी और न्यायालय को मुख्य परीक्षा बार-बार करानी पड़ी क्योंकि कुछ अभियुक्तों ने बाद में अभ्यर्पण किया था । अभि. सा. 1 के साक्ष्य का मूल्यांकन करते समय न्यायालय को इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि अभियोजन साक्षियों के साक्ष्य अभिलिखित किए जाने में लंबा समय लगा है । अभि. सा. 1 के साक्ष्य का परिशीलन करने पर उच्च न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया है कि उसके साक्ष्य में फर्क और विचलन है । न्यायालय की सुविचारित राय में, अभि. सा. 1 जो प्रत्यक्षदर्शी साक्षी है और जिसके तीन पुत्रों की मृत्यु इस दुर्भाग्यपूर्ण घटना में हुई है, का साक्ष्य सुसंगत है और उसके साक्ष्य में बड़े विचलन या विरोधाभास नहीं हैं और यदि अभि. सा. 1 के साक्ष्य में तुच्छ विरोधाभास आ गए हैं, तब इसका कारण यह हो सकता है कि इस साक्ष्य की परीक्षा एक लंबे समय के बाद कराई गई है, इसके अतिरिक्त साक्ष्य में आए ऐसे विरोधाभास महत्वपूर्ण नहीं हैं जिनके आधार पर अभियुक्त का दोष साबित किया जा सके, न्यायालय को इस साक्षी के साक्ष्य को अविश्वसनीय ठहराने का किसी भी प्रकार का कोई भी कारण दिखाई नहीं देता है । अभि. सा. 1 के कथनों की सम्पुष्टि समुचित रूप से अभि. सा. 2 के कथनों से होती है । इस प्रकार, न्यायालय की यह सुविचारित राय है कि यह घटना भोला सिंह की बैठक के सामने घटित हुई थी और उसने उक्त घटना बैजनाथ तथा आहत गंगा सिंह के साथ देखी थी । घटना के समय मौजूद एक अन्य प्रत्यक्षदर्शी साक्षी है, के साक्ष्य को अविश्वसनीय ठहराने का किसी प्रकार का कोई कारण दिखाई नहीं देता है । इस साक्षी के साक्ष्य को अविश्वसनीय ठहराने के लिए प्रतिरक्षा पक्ष द्वारा व्यर्थ प्रयास किया गया है कि यह साक्षी मात्र एक संयोगी साक्षी है न कि घटना का प्रत्यक्षदर्शी साक्षी और यह कि उसकी मौजूदगी संदिग्ध है । किंतु, इस साक्षी की मुख्य परीक्षा या प्रतिपरीक्षा से ऐसी कोई बात सामने नहीं आई है जिसके आधार पर उसके

कथन की विश्वसनीयता पर संदेह किया जा सके । इसके अतिरिक्त, इस साक्षी ने संगत रूप से अपना साक्ष्य दिया है और अभियोजन वृत्तांत का पूर्ण रूप से समर्थन किया है । तथापि, इस साक्षी ने यह स्वीकार किया है कि पंचनामा तैयार किए जाने के समय पर उसने दरोगा जी के कहने पर हस्ताक्षर कर दिए थे और अभि. सा. 1 ने उससे पूछा था कि पंचनामे में किस-किस के नाम लिखे जाएं और किस-किस के नाम छोड़ दिए जाएं, इस कथन पर पंचनामा तैयार किए जाने के संदर्भ में विचार करना चाहिए और इससे उसके साक्ष्य को अन्यथा अविश्वसनीय नहीं ठहराया जाएगा । न्यायालय का यह मत है कि उच्च न्यायालय ने प्रत्यर्थियों को दोषमुक्त् करने के लिए मुख्य रूप से चिकित्सीय साक्ष्य का अवलंब अत्यंत अनुचित रूप में लिया है । जब चिकित्सक ने अपनी मुख्य परीक्षा में स्पष्ट रूप से यह कथन किया है कि घटना 8.00 बजे पूर्वाह्न में घटित हो सकती थी जिससे कि इत्तिलाकर्ता के साक्ष्य की सम्पुष्टि भी होती है, तब ऐसी स्थिति में इस तथ्य पर विश्वास करने का कोई कारण नहीं हो सकता कि घटना 2.00 बजे पूर्वाह्न से 4.00 बजे पूर्वाह्न के बीच घटित हुई थी जोकि मात्र चिकित्सक द्वारा उसकी प्रतिपरीक्षा में दिए गए अस्पष्ट कथन पर आधारित है । न्यायालय का यह भी विश्वास है कि मात्र इस कारण से मृतक के शरीर पर कोई भी कुंद क्षति मौजूद नहीं थी, अभि. सा. 1 का सम्पूर्ण साक्ष्य त्यक्त नहीं किया जा सकता क्योंकि छोटे-मोटे विरोधाभास होने पर प्रत्यक्ष साक्ष्य को वरीयता दी जानी चाहिए । जहां तक चिकित्सीय साक्ष्य और प्रत्यक्ष साक्ष्य के बीच असंगतता का संबंध है, विधि सुस्थापित है कि जब तक कि मौखिक साक्ष्य पूर्ण रूप से चिकित्सीय साक्ष्य के असंगत न हो तब तक मौखिक साक्ष्य को वरीयता दी जाएगी । चिकित्सीय और प्रत्यक्ष साक्ष्य के बीच विरोधाभास होने पर, साक्षी के प्रत्यक्ष परिसाक्ष्य का साक्षियक महत्व चिकित्सीय साक्ष्य की अपेक्षा अधिक होता है और जब चिकित्सीय साक्ष्य के आधार पर मौखिक परिसाक्ष्य असंभावी हो जाए तब ऐसे साक्ष्य का मूल्यांकन करने की प्रक्रिया में वह एक सुसंगत कारक बन जाता है । ऐसा केवल तब होता है जब दोनों प्रकार के साक्ष्यों में विरोधाभास इतना अधिक होता है कि चिकित्सीय साक्ष्य सत्य होने के आधार पर सभी संभाव्यताओं को पूर्णतया खारिज कर दे तब प्रत्यक्ष साक्ष्य अविश्वसनीय ठहराए जाने योग्य होगा । न्यायालय की यह भी राय है कि भोला सिंह, बैजनाथ, कांस्टेबल राम मनोहर मौर्या और उप निरीक्षक रियायतुल्लाह खां के साक्ष्य के आधार पर घटनास्थल संदेह के परे साबित हो गया है । इसके अतिरिक्त, अन्वेषण अधिकारी ने रक्त-रंजित मिट्टी और सादा मिट्टी घटनास्थल से

प्रदर्श क-8 के अनुसार बरामद की है और उसने घटनास्थल से ही कारतूस भी बरामद किए हैं । न्यायालयिक रिपोर्ट के अनुसार मिट्टी पर मानवरक्त पाया गया है । उपर्युक्त परिस्थितियों से स्पष्ट रूप से यह सिद्ध होता है कि घटनास्थल इत्तिलाकर्ता की बैठक है न कि ग्राम पकवेनर जैसाकि प्रतिरक्षा पक्ष द्वारा अभिकथन किया गया है । आहत साक्षी गंगा सिंह की परीक्षा न कराए जाने के मुद्दे पर विचार करने पर यह उल्लेख करना सुसंगत होगा कि विचारण न्यायालय ने इस तथ्य का मूल्यांकन किया है कि यद्यपि अभियोजन पक्ष ने गंगा सिंह को न्यायालय में प्रस्तुत करने का प्रयास किया था किंतु वे ऐसा करने में असफल रहे क्योंकि सुसंगत समय के दौरान गंगा सिंह का अपहरण कर लिया गया था । यह बात तारीख 12 सितंबर, 1997 और 6 अक्तूबर, 1997 को दर्ज की गई दो प्रथम इत्तिला रिपोर्टों से साबित होती है जिससे यह तथ्य सिद्ध हो जाता है कि गंगा सिंह को धमकी दी गई थी और उसका अपहरण किया गया था । अतः, आहत गंगा सिंह की परीक्षा न कराया जाना अभियोजन पक्षकथन के लिए घातक नहीं हो सकता और इस आधार पर अभि. सा. 1 और अभि. सा. 2 के साक्ष्य को त्यक्त नहीं किया जा सकता । इस प्रकार, गंगा सिंह की परीक्षा न कराए जाने से अभियोजन पक्ष के विरुद्ध प्रतिकूल निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता । जहां तक अन्य किसी स्वतंत्र साक्षी की परीक्षा न कराए जाने का संबंध है, कोई संदेह नहीं है कि अभियोजन पक्ष कोई भी स्वतंत्र साक्षी प्रस्तुत नहीं कर सका किंतु, अभियोजन पक्षकथन पर मात्र इस आधार पर संदेह नहीं किया जा सकता । इन दिनों सभ्य लोग आमतौर पर किसी भी आपराधिक मामले में साक्ष्य देने में निष्क्रियता से काम लेते हैं । जब तक कि अपरिहार्य परिस्थिति न हो, आमतौर पर लोग न्यायालय से दूर ही रहते हैं क्योंकि उन्हें यह कार्य तनावपूर्ण महसूस होता है । यद्यपि मनुष्य का ऐसा आचरण वास्तव में दुर्भाग्यपूर्ण है किंतु आमतौर पर ऐसा होता ही है । न्यायालय अपने कर्तव्य के प्रति अन्वेषण अभिक्रम की विक्लांगता को अनदेखा नहीं कर सकते । प्रत्यक्षदर्शी साक्षी भले ही हितबद्ध साक्षी हैं किंतु उसका साक्ष्य विश्वासप्रद है और इस बात को दृष्टिगत करते हुए न्यायालय मात्र स्वतंत्र साक्षी प्रस्तुत न किए जाने के आधार पर सम्पूर्ण मामले को खारिज नहीं कर सकते । अभियुक्त/प्रत्यर्थियों की ओर से दृढ़तापूर्वक यह दलील दी गई है कि अभियोजन पक्ष अभिकथित घटना का हेतु सिद्ध करने में असफल रहा है । तथापि, शिकायतकर्ता ने पक्षकारों के बीच चल रहे भूमि विवाद की विद्यमानता के बारे में अभिसाक्ष्य दिया है और इस संबंध में इस घटना के पूर्व भी शिकायतें दर्ज कराई गई थीं । विचारण न्यायालय ने

यह आगे निर्धारित किया है कि पक्षकारों के बीच भूमि विवाद चल रहा था और इस संबंध में शिकायतकर्ता द्वारा पुलिस में शिकायतें दर्ज कराई गईं । यह न्यायालय विचारण न्यायालय के मत से सहमत है कि भूमि विवाद को लेकर अभियुक्त/प्रत्यर्थी और शिकायतकर्ता के बीच शत्रुता चली आ रही थी और इस बात से भी सहमत हैं कि प्रदर्श क-2 और प्रदर्श क-3 इस घटना के पूर्व दर्ज कराई गई शिकायतें हैं और इसे बाद में आया विचार नहीं कहा जा सकता क्योंकि दोनों प्रदर्शों पर पुलिस द्वारा प्राप्त किए जाने के संबंध में हस्ताक्षर और तारीख विद्यमान हैं । इस प्रकार, उपर्युक्त चर्चा को दृष्टिगत करते हुए यह अभिनिर्धारित किया जा सकता है कि शिकायतकर्ता पक्ष के विरुद्ध अपराध कारित करने से संबंधित अभियुक्त/प्रत्यर्थियों का स्पष्ट हेतु था । उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय और आदेश पारित करते समय इस बात पर विचार नहीं किया है कि रामाश्रय सिंह और कमला सिंह अन्यत्र उपस्थित होने के अपने अभिवाक् को साबित नहीं कर सके हैं । जिला और सेशन न्यायाधीश, मऊ को लिखे गए रक्षा मंत्रालय के पत्र से यह स्पष्ट है कि अभियुक्त रामाश्रय सिंह और वीरेन्द्र सिंह को तारीख 4 सितंबर, 1994 को पठानकोट से सिकंदराबाद जाने का निदेश दिया गया था । यह उल्लेख किया गया है कि तारीख 6 अक्तूबर, 1994 को उक्त वीरेन्द्र सिंह ने फ्यूज्ड मिसाइल जमा कर दिए थे और अभियुक्त/प्रत्यर्थी रामाश्रय सिंह उस दिन मौजूद नहीं था और वह तारीख 11 अक्तूबर, 1994 को सिकंदराबाद में उपस्थित हुआ । जहां तक अभियुक्त कमला सिंह का संबंध है उसने अन्यत्र उपस्थित होने का अभिवाक् किया है कि वह जम्मू में हवलदार के पद पर तैनात था । तथापि, वह इस संबंध में कोई भी साक्ष्य प्रस्तुत करने में असफल रहा है । इस साक्षी ने यह भी कथन किया है कि वह जम्मू स्थित अपने क्वार्टर पर मौजूद था । तथापि, ओंकार सिंह ने यह कथन किया है कि वह अभियुक्त कमला सिंह के साथ वैष्णों देवी गया था किंतु वह इस संबंध में कोई भी तर्कसम्मत साक्ष्य प्रस्तुत नहीं कर सका । इस प्रकार, अभिलेख पर प्रस्तुत सामग्री का परिशीलन करने पर यह न्यायालय विचारण न्यायालय द्वारा निकाले गए निष्कर्ष से सहमत है कि अभियुक्त अन्यत्र उपस्थित होने का अभिवाक् सिद्ध करने में असफल रहा है । न्यायालय की यह भी सुविचारित राय है कि अभियुक्त की दोषसिद्धि और दंडादेश को उलटने के लिए उच्च न्यायालय द्वारा निकाले गए निष्कर्ष तर्कहीन, न चलने योग्य और साक्ष्य के अनुचित मूल्यांकन किए जाने पर आधारित हैं । विचारण न्यायालय ने रामाश्रय सिंह और कमला सिंह को मृत्यु दंड अधिनिर्णीत किया है । इस मुद्दे पर यह न्यायालय विचारण

न्यायालय द्वारा व्यक्त किए गए मत से सहमत नहीं है क्योंकि विचारण न्यायालय द्वारा जो कारण दिए गए हैं उनसे न्यायालय सहमत नहीं है कि यह मामला विरल से विरलतम मामले की कोटि में आता है जिसमें मृत्यु दंड अपेक्षित हो । (पैरा 21)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[1998]	(1998) 5 एस. सी. सी. 412 : **संबासिवन और अन्य** बनाम **केरल राज्य** ;	18
[2007]	(2007) 4 एस. सी. सी. 415 : **चन्द्रप्पा** बनाम **कर्नाटक राज्य** ।	20

अपीली दांडिक अधिकारिता : 2005 की दांडिक अपील सं. 1467-1468.

2003 की दांडिक अपील सं. 2701 और 5802 में इलाहाबाद उच्च न्यायालय द्वारा तारीख 17 दिसंबर, 2004 को पारित निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थी की ओर से — सर्वश्री विश्वजीत सिंह, (सुश्री) रीधिमा सिंह, पंकज सिंह, गौरव सिंह और गौरव त्रिपाठी

प्रत्यर्थियों की ओर से — सर्वश्री रंजीत राव (अपर महाधिवक्ता), प्रमोद स्वरूप (ज्येष्ठ अधिवक्ता), प्रशांत चौधरी, सुषमा वर्मा, अनुवृत शर्मा और (सुश्री) अलका सिन्हा

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति एन. वी. रमण ने दिया ।

न्या. रमण – ये अपीलें 2003 की दांडिक अपील सं. 2701 और 5802 में तारीख 7 दिसंबर, 2004 को इलाहाबाद उच्च न्यायालय द्वारा पारित उस निर्णय और आदेश के विरुद्ध प्रस्तुत की गईं हैं जिसके द्वारा उच्च न्यायालय ने इस मामले के अभियुक्त-प्रत्यर्थियों की ओर से फाइल की गईं अपीलें मंजूर करते हुए उन्हें भारतीय दंड संहिता, 1860 (जिसे संक्षेप में "दंड संहिता" कहा गया है) की धारा 147, 148, 140, 302, 307 और 504 के अधीन अपराधों से दोषमुक्त कर दिया ।

2. यह उल्लेखनीय है कि हमारे समक्ष प्रस्तुत मामले का अपीलार्थी निचले न्यायालयों में पक्षकार नहीं था और वर्तमान अपीलें इस न्यायालय की इजाजत से इस अपीलार्थी द्वारा प्रस्तुत की गईं हैं । अपीलार्थी की हैसियत यह है कि वह इत्तिलाकर्ता भोला सिंह (अभि. सा. 1) का भाई है जिसकी मृत्यु उच्च न्यायालय के समक्ष लंबित अपील के दौरान हो गई थी और अपीलार्थी मृतकों (इत्तिलाकर्ता भोला सिंह के तीन पुत्र) का मामा भी है ।

3. संक्षेप में अभियोजन पक्ष द्वारा तथ्य इस प्रकार प्रस्तुत किए गए हैं कि भोला सिंह (अभि. सा. 1) इस मामले में इत्तिलाकर्ता है जो ग्राम कांसो, जिला मऊ का निवासी है और तारीख 4 अक्तूबर, 1994 को लगभग 8.00 बजे पूर्वाह्न में जब उसके पुत्र अर्थात् शिव कुमार, अवधेश और योगेन्द्र (तीनों मृतक) मवेशियों की नांद की मरम्मत कर रहे थे जहां पर इत्तिलाकर्ता का जीजा गंगा सिंह और बैजनाथ सिंह (अभि. सा. 2) मौजूद थे और उसी समय हथियारों से लैस होकर अभियुक्त रामाश्रय सिंह, सत्येन्द्र सिंह, बृजेन्द्र सिंह, उनके पिता रामचन्द्र सिंह इत्तिलाकर्ता भोला सिंह की बैठक पर पहुंचे और इन अभियुक्तों के साथ कमला सिंह और राम सरन सिंह भी थे और अभियुक्तों ने उन्हें गालियां दीं । जब राम चन्द्र सिंह ने अपने पुत्रों को आहत के सम्पूर्ण परिवार को जान से मारने के लिए उकसाया, तब अभियुक्त रामाश्रय सिंह और कमला सिंह ने बंदूक से गोली चलाई और सत्येन्द्र सिंह तथा बृजेन्द्र सिंह ने भोला सिंह (अभि. सा. 1) के तीनों पुत्रों पर कट्टे से हमला किया । अन्य अभियुक्तों ने भी अपने-अपने हथियारों से आहत पक्ष पर हमला किया । इस हमले में, अभि. सा. 1 के तीनों पुत्रों को क्षतियां पहुंचीं और वे जमीन पर गिर गए तथा अभि. सा. 1 के जीजा गंगा सिंह को अग्न्यायुध से क्षतियां पहुंचीं । इस झगड़े के दौरान, भोला सिंह (अभि. सा. 1) ग्राम की ओर दौड़ा और उसने बचाव के लिए चीख-पुकार की जिस पर हमलावर भाग गए । इस हमले के परिणामस्वरूप इत्तिलाकर्ता के दो पुत्रों अर्थात् शिव शंकर और अवधेश की घटनास्थल पर ही मृत्यु हो गई जबकि एक अन्य पुत्र अर्थात् योगेन्द्र की मृत्यु अस्पताल ले जाते समय रास्ते में ही हो गई ।

4. इत्तिलाकर्ता (अभि. सा. 1) के कहने पर प्रथम इत्तिला रिपोर्ट (प्रदर्श क-1) उसी दिन 9.15 बजे पूर्वाह्न में पुलिस थाना हलधरपुर में दर्ज कराई गई जिसमें अभि. सा. 1 ने यह कथन किया कि यह घटना दोनों पक्षों के बीच भूमि विवाद के कारण चली आ रही शत्रुता के परिणामस्वरूप घटित हुई है । कांस्टेबल मुहर्रिर राम मनोहर मौर्या (अभि. सा. 3) ने चिक

रिपोर्ट (प्रदर्श क-4) तैयार की और दंड संहिता की धारा 147, 148, 149, 302, 307 और 504 के अधीन एक मामला सं. 219/94 दर्ज किया । इसके पश्चात् आहत गंगा सिंह को प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र चिकित्सीय उपचार के लिए भेज दिया गया ।

5. पुलिस उप-निरीक्षक रियायतुल्लाह खां (अन्वेषण अधिकारी) ने घटनास्थल का मुआयना किया, शवों की समीक्षा की, स्थल नक्शा तैयार किया और इत्तिलाकर्ता का कथन अभिलिखित किया । इसके पश्चात् अन्वेषण अधिकारी ने रक्त-रंजित और सादा मिट्टी प्राप्त की और इस संबंध में ज्ञापन तैयार किया । डा. ओ. पी. सिंह (अभि. सा. 6) ने, जिन्होंने आहत गंगा सिंह की चिकित्सा परीक्षा की थी, अपनी रिपोर्ट (प्रदर्श क-33) में यह राय दी है कि सभी क्षतियां 6 घंटों के भीतर अग्न्यायुध से कारित की गईं हैं ।

6. डा. जितेन्द्र कुमार (अभि. सा. 7) ने तीनों मृतकों के शवों का शव-परीक्षण किया । चिकित्सक ने अपनी रिपोर्ट क-34, क-35 और क-36 के अनुसार यह राय व्यक्त की है कि संभवतः यह घटना 8.00 बजे पूर्वाह्न में घटित हुई है और तीनों मृतकों की आंतों में अधपचा भोजन पाया गया है और आहतों को जो क्षतियां पहुंचीं हैं वे अग्न्यायुध से कारित की गईं हैं और कुंद वस्तु से कोई भी क्षति कारित नहीं की गई है । तारीख 7 दिसंबर, 1994 को अन्वेषण अधिकारी ने रामचन्द्र सिंह और राम सरन सिंह को गिरफ्तार किया और साक्षियों के कथन अभिलिखित किए । अन्वेषण अधिकारी ने सभी 6 अभियुक्तों के विरुद्ध आरोप पत्र (प्रदर्श क-32) फाइल किया । चूंकि अभियुक्तों ने आरोपों से इनकार किया और विचारण किए जाने की मांग की, इसलिए मामला सेशन न्यायालय को सुपुर्द कर दिया गया ।

7. अभियोजन पक्ष ने अपने पक्षकथन के समर्थन में दो प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों अर्थात् तीनों मृतकों के पिता इत्तिलाकर्ता भोला सिंह (अभि. सा. 1) और बैजनाथ सिंह (अभि. सा. 2) तथा पांच औपचारिक साक्षियों अर्थात् डा. ओ. पी. सिंह (अभि. सा. 6) और डा. जितेन्द्र कुमार सिंह (अभि. सा. 7), अन्वेषण अधिकारी (अभि. सा. 5), पुलिस उप-निरीक्षक (अभि. सा. 4) और कांस्टेबल राम मनोहर मौर्या (अभि. सा. 3) जिसने चिक प्रथम इत्तिला रिपोर्ट तैयार की थी और मामला दर्ज कराए जाने से संबंधित साधारण डायरी (जिमनी) तैयार की थी, की परीक्षा कराई । इसके प्रतिकूल, अभियुक्तों की ओर से प्रतिरक्षा में 4 साक्षियों को प्रस्तुत किया गया ।

विचारण के लंबित रहने के दौरान, अभियुक्त राम चन्द्र सिंह की मृत्यु हो गई ।

8. विचारण न्यायालय ने विचारण की सम्पूर्ण कार्यवाही करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला कि अभियुक्त क्रूर और जघन्य अपराध के दोषी हैं और तारीख 22 मई, 2003 को पारित अपने विस्तृत निर्णय द्वारा राम सरन सिंह, सत्येन्द्र सिंह और बृजेन्द्र सिंह को दंड संहिता की धारा 302/149 के अधीन अपराध के लिए आजीवन कारावास भोगने और 10,000/- रुपए जुर्माने का संदाय करने जिसका व्यतिक्रम किए जाने पर 2 वर्ष का अतिरिक्त कठोर कारावास भोगने के लिए दंडादिष्ट किया । अभियुक्तों को दंड संहिता की धारा 307/149 के अधीन भी दोषसिद्ध किया गया और 7 वर्ष का कठोर कारावास भोगने तथा 5,000/- रुपए जुर्माने का संदाय करने जिसका व्यतिक्रम किए जाने पर 1 वर्ष का अतिरिक्त कठोर कारावास भोगने के लिए दंडादिष्ट किया । इन अपीलार्थियों को दंड संहिता की धारा 148 के अधीन भी दोषसिद्ध किया गया । उन्हें 2 वर्ष का कठोर कारावास भोगने और 1,000/- रुपए जुर्माने का संदाय करने जिसके व्यतिक्रम किए जाने पर अतिरिक्त 6 मास का कठोर कारावास भोगने के लिए दंडादिष्ट किया गया । अभियुक्त रामाश्रय सिंह और कमला सिंह पर दंड संहिता की धारा 302/149 के अधीन मृत्यु दंड अधिरोपित किया गया और साथ ही 10,000/- रुपए जुर्माने का संदाय करने जिसका व्यतिक्रम किए जाने पर 2 वर्ष का अतिरिक्त कारावास भोगने का दंडादेश दिया गया । उन्हें दंड संहिता की धारा 307/149 के अधीन भी दोषसिद्ध किया गया और 7 वर्ष का कठोर कारावास भोगने तथा 5,000/- रुपए के जुर्माने का संदाय करने जिसका व्यतिक्रम किए जाने पर 1 वर्ष का अतिरिक्त कठोर कारावास भोगने का दंडादेश दिया गया । इन अपीलार्थियों को दंड संहिता की धारा 148 के अधीन भी दोषसिद्ध किया गया । उन्हें 2 वर्ष का कठोर कारावास भोगने और 1,000/- रुपए जुर्माने का संदाय करने जिसका व्यतिक्रम किए जाने पर 6 मास का अतिरिक्त कठोर कारावास भोगने का दंडादेश दिया गया ।

9. इस आदेश से व्यथित होकर, सभी अभियुक्तों ने उच्च न्यायालय के समक्ष दांडिक अपीलें फाइल कीं । उच्च न्यायालय ने सेशन न्यायाधीश द्वारा निकाले गए निष्कर्षों के प्रति पूर्ण रूप से असहमति अभिलिखित की और अभियुक्तों की ओर से फाइल की गई अपीलें मंजूर करते हुए विचारण न्यायालय का निर्णय अपास्त कर दिया तथा उन्हें आरोपों से दोषमुक्त कर

दिया, साथ ही अभियुक्त रामाश्रय सिंह और कमला सिंह के संबंध में पारित किए गए मृत्यु दंड की पुष्टि के लिए फाइल किए गए निर्देश को भी खारिज कर दिया । उच्च न्यायालय द्वारा पारित किए गए दोषमुक्ति के आदेश से व्यथित होकर मृतक-इत्तिलाकर्ता के भाई की ओर से विशेष इजाजत द्वारा वर्तमान अपीलें फाइल की गईं हैं ।

10. हमने अपीलार्थी की ओर से विद्वान् काउंसेल श्री विश्वजीत सिंह और राज्य की ओर से विद्वान् अपर महाधिवक्ता श्री रंजीत राव और इस मामले के अभियुक्त-प्राइवेट प्रत्यर्थियों की ओर से विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल श्री प्रमोद स्वरूप को सुना ।

11. अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल श्री विश्वजीत सिंह ने दृढ़तापूर्वक यह दलील दी है कि उच्च न्यायालय ने अभि. सा. 1 और अभि. सा. 2 के साक्ष्यों का विश्लेषण करने में स्पष्ट और गंभीर गलती की है और उसने अभियुक्तों को बिना सोचे-समझे दोषमुक्त कर दिया । उच्च न्यायालय को इत्तिलाकर्ता भोला सिंह (अभि. सा. 1) जो कि इस घटना में आहत हुआ है और तीन मृतकों का पिता है, के प्रत्यक्षदर्शी साक्ष्य को खारिज नहीं करना चाहिए था । उच्च न्यायालय का यह निष्कर्ष कि अभि. सा. 1 घटनास्थल पर मौजूद नहीं था, चलने योग्य नहीं है और मामले की वास्तविक प्रकृति और परिस्थितियों को दृष्टिगत करते हुए इस साक्षी के साक्ष्य को अविश्वसनीय मानना पूर्णतया अनुचित है और विधि की दृष्टि से गलत है । अभि. सा. 1 के साक्ष्य का प्रज्ञापूर्ण विश्लेषण करने से यह स्पष्ट होता है कि उसके साक्ष्य में कोई भी फर्क नहीं पाए गए हैं बल्कि उसके साक्ष्य से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि वह अत्यंत विश्वसनीय साक्षी है और उसका साक्ष्य विश्वासप्रद है ।

12. इसी प्रकार, उच्च न्यायालय द्वारा व्यक्त किया गया यह मत कि घटनास्थल पर बैजनाथ सिंह (अभि. सा. 2) की मौजूदगी संदिग्ध है और यह एक बाद में आया विचार है, जो चलने योग्य नहीं है क्योंकि भोला सिंह (अभि. सा. 1) द्वारा दर्ज कराई गई प्रथम इत्तिला रिपोर्ट से एकमत रूप से यह दर्शित होता है कि बैजनाथ सिंह (अभि. सा. 2) का नाम प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में निर्दिष्ट किया गया था और घटनास्थल पर उसकी मौजूदगी युक्तियुक्त संदेह के परे साबित हो गई है । इसके अतिरिक्त, इस साक्षी की मुख्य परीक्षा या प्रतिपरीक्षा में ऐसी कोई सामग्री सामने नहीं आई है जिसके आधार पर उसके कथन की सत्यता पर संदेह किया जा सके । इसके साथ-साथ यह साक्षी अपना साक्ष्य देने में अडिग रहा है जिससे

अभियोजन वृत्तांत का पूर्णतया समर्थन होता है ।

13. आहत साक्षी गंगा सिंह के व्यपहरण के तथ्य पर ध्यान न देने के संबंध में उच्च न्यायालय द्वारा व्यक्त किए गए मत पर खेद प्रकट करते हुए विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी कि गंगा सिंह को अभियोजन पक्ष द्वारा साक्षी कठघरे में प्रस्तुत नहीं किया जा सका क्योंकि अभियुक्तों ने उसे धमकी देकर और उसके साथ मारपीट करने के पश्चात् उसका अपहरण कर लिया था । इस संबंध में, तारीख 12 सितंबर, 1997 और तारीख 6 दिसंबर, 1997 को दो प्रथम इत्तिला रिपोर्टें दर्ज कराई गईं थीं जिनसे यह दर्शित होता है कि गंगा सिंह का प्रयोजनार्थ अपहरण उस दौरान किया गया था जब उसे न्यायालय में साक्ष्य अभिलिखित किए जाने के दौरान अपना साक्ष्य देने जाना था और उच्च न्यायालय ने यह गलत उल्लेख किया है कि अंतिम रिपोर्ट की फोटोकापी से यह दर्शित होता है कि अपहरण का अभिकथन कूटरचित है यद्यपि विचारण न्यायालय या उच्च न्यायालय के समक्ष ऐसा कोई भी दस्तावेज प्रदर्शित नहीं किया गया था । विद्वान् काउंसेल के अनुसार उपरोक्त अपहरण और धमकी देने के उपर्युक्त कृत्य का समय इस तथ्य से मेल नहीं खाता है कि भोला सिंह (अभि. सा. 1) का कथन तारीख 24 जुलाई, 1997 को पूरा हो गया था और बैजनाथ सिंह (अभि. सा. 2) का कथन तारीख 13 नवंबर, 1997 को पूरा हो गया था । चिकित्सीय और प्रत्यक्षदर्शी साक्ष्य के बीच छोटे-मोटे फर्क के संबंध में यह दलील दी गई है कि इस बात से अभियोजन पक्षकथन प्रभावित नहीं होता है क्योंकि ऐसी असंगतता गंभीर प्रकृति की नहीं है और सुस्थापित विधि के अनुसार प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों के साक्ष्य को भी महत्व दिया जाना चाहिए । मात्र इस कारण से कोई परिणाम नहीं निकलेगा कि शरीर पर कुंद आयुध से कारित की गई कोई भी क्षति नहीं पाई गई है, जबकि शिकायत में ऐसा अभिकथन किया गया है ।

14. उच्च न्यायालय द्वारा, घटनास्थल के संबंध में, निकाले गए निष्कर्ष का खंडन करते हुए विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी है कि उच्च न्यायालय ने इस मामले पर समुचित दृष्टिकोण नहीं अपनाया है । अभिलेख पर प्रस्तुत सम्पूर्ण साक्ष्य का परिशीलन करने पर घटनास्थल स्पष्ट रूप से साबित हो जाता है और यह भी सिद्ध हो जाता है कि अभियोजन पक्ष ने सफलतापूर्वक युक्तियुक्त संदेह के परे दोष साबित कर दिया है । अभिलेख पर प्रस्तुत साक्ष्य से स्पष्ट रूप से यह प्रकट होता है कि अन्वेषण अधिकारी ने रक्त-रंजित मिट्टी और सादा मिट्टी घटनास्थल से बरामद की थी जो

परीक्षण के लिए भेज दी गई और विश्लेषण के पश्चात् इस मिट्टी में मानव रक्त पाया गया । प्रत्यक्षदर्शी साक्षी भोला सिंह (अभि. सा. 1) और बैजनाथ सिंह (अभि. सा. 2) का साक्ष्य भी उक्त पहलू के साथ पूर्णतया संगत है और इसीलिए उच्च न्यायालय ने घटनास्थल पर विवाद उठाकर गलत किया है । घटना के समय के संबंध में उच्च न्यायालय द्वारा किए गए संदेह पर आगे प्रतिवाद करते हुए विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी कि उच्च न्यायालय ने चिकित्सा रिपोर्ट में अधपचे भोजन की मौजूदगी पर अत्यधिक बल दिया है और यह अभिनिर्धारित किया है कि इस बात से घटना के समय के संबंध में किया गया अभियोजन का पक्षकथन पूर्णतया टकराता है, जबकि चिकित्सकों (अभि. सा. 6 और अभि. सा. 7) ने अपनी मुख्य परीक्षा में स्पष्ट रूप से यह कथन किया है कि संभवतः घटना 8.00 बजे पूर्वाह्न में घटित हुई है । इस प्रकार उच्च न्यायालय ने इस साक्ष्य के प्रतिकूल निष्कर्ष अभिलिखित करके त्रुटि की है विशेषकर इस कारण से कि ग्राम में आमतौर पर लोग प्रातःकाल जाग जाते हैं और नाश्ता करने के पश्चात् शीघ्र ही अपना काम-काज आरंभ कर लेते हैं, अतः अधपचे भोजन की मौजूदगी से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि मृतक की मृत्यु रात में हुई थी । विद्वान् काउंसेल ने अंत में यह दलील दी है कि उपर्युक्त सभी कारणों के आधार पर उच्च न्यायालय को विचारण न्यायालय द्वारा निकाले गए सकारण निर्णय में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए था । विद्वान् काउंसेल ने अपनी दलील के समर्थन में इस न्यायालय के अनेक निर्णयों का अवलंब लिया है ।

15. राज्य के विद्वान् काउंसेल ने अपीलार्थी की दलीलों का समर्थन किया है और यह स्वीकार किया है कि उच्च न्यायालय ने कतिपय सुसंगत परिस्थितियों और महत्वपूर्ण साक्ष्य जिससे स्पष्ट रूप से अभियुक्तों का दोष सिद्ध होता है, अनदेखा करते हुए प्रत्यर्थी-अभियुक्तों को दोषमुक्त करके त्रुटि की है । विद्वान् काउंसेल के अनुसार उच्च न्यायालय इस ठोस तथ्य पर विचार करने में वास्तव में असफल रहा है कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट 9.15 बजे अपराह्न में अर्थात् घटना के तत्काल पश्चात् बिना किसी अयुक्तियुक्त विलंब के दर्ज कराई गई थी, दोनों प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों अर्थात् अभि. सा. 1 और अभि. सा. 2 के साक्ष्य विश्वसनीय हैं क्योंकि उनके कथनों की सम्पुष्टि चिकित्सीय साक्ष्य से पूर्णतया होती है; आहत गंगा सिंह की चिकित्सा परीक्षा अभि. सा. 6 द्वारा उसी दिन की गई थी जिससे अभियोजन वृत्तांत की सम्पुष्टि होती है और अपराध कारित करने के लिए

अभियुक्त का हेतु सिद्ध होता है क्योंकि वे भूमि विवाद को लेकर आहत पक्षकार के साथ शत्रुता रखते थे, यद्यपि अभियोजन पक्ष द्वारा न्यायालय में उसकी परीक्षा नहीं कराई गई है । अतः विद्वान् काउंसेल ने यह निवेदन किया है कि अभिलेख पर प्रस्तुत समपोषक और तर्कसम्मत साक्ष्य पर विचार करने पर इस न्यायालय को भारत के संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन अपनी शक्ति का प्रयोग करना चाहिए और अभियुक्त को दोषसिद्ध करते हुए आक्षेपित निर्णय और आदेश को अपास्त करना चाहिए ।

16. इसके प्रतिकूल, अभियुक्त-प्रत्यर्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी है कि अभियोजन पक्षकथन इस कारण से अविश्वसनीय है कि घटनास्थल और प्रथम इत्तिला रिपोर्ट का दर्ज कराया जाना अत्यंत विवादपूर्ण है, चिकित्सीय और मौखिक साक्ष्य के बीच अंतर है, तथाकथित आहत साक्षी गंगा सिंह इत्तिलाकर्ता की, नातेदार होने के बावजूद, न्यायालय के समक्ष परीक्षा नहीं कराई गई है और मृतक के आमाशय में अधपचा भोजन पाए जाने से यह पता चलता है कि घटना संभवतः 2 से 4 बजे पूर्वाह्न में घटित हुई थी, अभियोजन पक्षकथन के पूर्णतया प्रतिकूल हैं । उच्च न्यायालय ने प्रज्ञापूर्ण इन तथ्यों का मूल्यांकन किया है और यह ठीक ही अभिनिर्धारित किया है कि अन्वेषण विभाग शिकायतकर्ता से मिला हुआ था जो अभियुक्तों को अभिकथित अपराध में आलिप्त करना चाहता था । अभिकथित प्रथम इत्तिला रिपोर्ट जिससे गंगा सिंह का अपहरण किए जाने की कहानी साबित होती है, से कोई परिणाम नहीं निकल सकता क्योंकि वह गढ़े हुए साक्ष्य पर आधारित है और उच्च न्यायालय द्वारा उसे ठीक ही त्यक्त किया गया है । इसके अतिरिक्त, भोला सिंह (अभि. सा. 1) और बैजनाथ (अभि. सा. 2) के कथनों से यह निष्कर्ष नहीं निकल सकता कि वे वास्तव में घटना के समय घटनास्थल पर मौजूद थे क्योंकि उनके साक्ष्य से इस तथ्य का समर्थन नहीं होता है । घटनास्थल पर विवाद करते हुए विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी है कि अभियोजन वृत्तांत के अनुसार तीनों मृतक नांद में मिट्टी डाल रहे थे किंतु रियायतुल्लाह खां (अभि. सा. 4) ने, जिसने पंचनामा तैयार किया था मृतकों के शरीर पर कोई मिट्टी नहीं पाई और न ही शवपरीक्षण रिपोर्ट में डा. जितेन्द्र कुमार (अभि. सा. 7) द्वारा ऐसा कोई उल्लेख किया गया है । इस संबंध में एक अन्य महत्वपूर्ण बात यह है कि अन्वेषण अधिकारी द्वारा तैयार किए गए कच्चे नक्शे में जो गोली चलाने का स्थान दिखाया गया है, वह अभि. सा. 1 और अभि. सा. 2 द्वारा दिए गए कथनों में निर्दिष्ट स्थान से मेल नहीं खाता है । अभि. सा. 1 के कथन पर विचार करने पर भी हेतु

से संबंधित बात संदेह के परे साबित नहीं की गई है, जिसने स्पष्ट रूप से अपने साक्ष्य में यह उल्लेख किया है कि हौदी और उससे लगी भूमि के संबंध में कोई भी विवाद नहीं था ।

17. विद्वान् काउंसेल ने यह भी दलील दी है कि मामले की साधारण डायरी सादा कागज पर तैयार की गई है जो कि पुलिस विनियम अधिनियम के उपबंधों के प्रतिकूल है । इसके अतिरिक्त, पुलिस अधीक्षक को जिमनी भेजने के संबंध में की गई प्रविष्टि साधारण डायरी में नहीं की गई थी, जबकि पुलिस विनियम अधिनियम के पैरा 295(16) के अधीन यह आवश्यक है कि जो दस्तावेज साधारण डायरी के अनुसार पुलिस थाने में प्राप्त किए जाते हैं, वे प्रविष्टि करने के पश्चात् पुलिस थाने को भेजे जाते हैं; इस प्रकार अन्वेषण अधिकारी ने पुलिस विनियम अधिनियम के पैरा 107 के उपबंधों का पालन नहीं किया है और इस कारण से अन्वेषण दूषित हो जाता है । अतः अभियुक्त के विद्वान् काउंसेल ने दृढ़तापूर्वक यह दलील दी है कि उच्च न्यायालय द्वारा पारित किए गए दोषमुक्ति के आदेश में कोई त्रुटि नहीं है और इस आदेश में इस न्यायालय द्वारा कोई भी हस्तक्षेप किए जाने की आवश्यकता नहीं है ।

18. आमतौर पर, दोषमुक्ति के विरुद्ध की गई अपील की हैसियत सदैव दोषसिद्धि के विरुद्ध की गई अपील से भिन्न होती है । दोषमुक्ति के विरुद्ध की गई अपील में जिसमें अभियुक्त के पक्ष में निर्दोषिता की उपधारणा प्रबलित की जाती है, अपील न्यायालय दोषमुक्ति के आदेश में केवल तब हस्तक्षेप करेगा जब तथ्य और विधि का अनुचित अर्थ लगाया गया हो । तथापि, हमारा यह विश्वास है कि न्यायालय का मुख्य ध्यान सारभूत न्याय करने की ओर होना चाहिए और ऐसे अन्याय से बचना चाहिए जो ऐसे अभियुक्त की दोषमुक्ति करने से हुआ हो जो अपराध का दोषी है । दोषी व्यक्ति की दोषमुक्ति से जो न्याय की हानि होती है वह निर्दोष व्यक्ति को दोषसिद्ध किए जाने से कम नहीं है । इस न्यायालय ने, **संबासिवन और अन्य** बनाम **केरल राज्य**[1] वाले मामले में दोषमुक्ति के विरुद्ध की गई अपील में अपील न्यायालय की शक्तियों की व्यापकता के संबंध में सिद्धांत प्रतिपादित करते हुए निम्न अभिनिर्धारित किया है :–

> "दोषमुक्ति के विरुद्ध की गई अपील में अपील न्यायालय की शक्ति की व्यापकता से संबंधित सिद्धांत सुस्थापित हैं । **दोषमुक्ति के विरुद्ध की गई अपील में अपील न्यायालय की शक्तियां दोषसिद्धि के**

---

[1] (1998) 5 एस. सी. सी. 412.

विरुद्ध की गई अपील में की शक्तियों से कम नहीं हैं । किंतु अभिलेख पर प्रस्तुत साक्ष्य के आधार पर यदि दो मत युक्तियुक्त रूप से संभव हों, तब अपील न्यायालय विचारण न्यायालय के मत से अपना मत प्रतिस्थापित नहीं कर सकता । ऐसा केवल तब किया जा सकता है जब अभिलेख पर प्रस्तुत साक्ष्य पर विचार करने पर, अभियुक्त की दोषमुक्ति में विचारण न्यायालय द्वारा अपनाया गया दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से त्रुटिपूर्ण पाया जाता है और उनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि अपील न्यायालय दोषमुक्ति के आदेश में हस्तक्षेप कर सकता है ।"

19. इस न्यायालय ने अनेक मामलों में ऐसा ही मत व्यक्त किया है कि अपील न्यायालय पर, दोषमुक्ति के विरुद्ध की गई अपील में कार्यवाही किए जाने के मामले में ऐसे सम्पूर्ण साक्ष्य जिसके आधार पर दोषमुक्ति की गई है, का पुनर्विलोकन करने और उस पर पुनर्विचार करने के संबंध में, विधि की दृष्टि से कोई भी सटीक प्रतिषेध नहीं है । यदि संवीक्षा करने पर अपील न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि निचले न्यायालय का विनिश्चय त्रुटिपूर्ण मत पर आधारित है और विधि की सुस्थापित स्थिति के विरुद्ध है, तब अपील न्यायालय ऐसे आदेश में हस्तक्षेप कर सकता है ।

20. इस न्यायालय ने **चन्द्रप्पा** बनाम **कर्नाटक राज्य**[1] वाले मामले में अनेक विनिश्चयों को निर्दिष्ट करते हुए निम्न साधारण सिद्धांत दोषमुक्ति के आदेश के विरुद्ध की गई अपील पर विचार करते समय अपील न्यायालय की शक्ति के संबंध में अधिकथित किए हैं :–

"42. हमारी इस सुविचारित राय में उपर्युक्त विनिश्चयों से दोषमुक्ति के आदेश के विरुद्ध फाइल की गई अपील पर विचार करते समय अपील न्यायालय की शक्तियों के संबंध में निम्नलिखित सामान्य सिद्धांत प्रतिपादित किए गए हैं –

(1) अपील न्यायालय को उस साक्ष्य का पुनर्विलोकन करने, पुनर्मूल्यांकन करने और पुनर्विचार करने की पूर्व शक्ति प्राप्त है, जिसके आधार पर दोषमुक्ति का आदेश किया गया है ।

(2) दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 के अंतर्गत ऐसी शक्तियों के प्रयोग पर कोई परिसीमा, निर्बंधन या शर्त नहीं है और अपील न्यायालय अपने समक्ष प्रस्तुत किए गए साक्ष्य के आधार पर

---

[1] (2007) 4 एस. सी. सी. 415.

तथ्य और विधि दोनों ही प्रश्नों पर अपने स्वयं के निष्कर्ष निकाल सकेगा ।

(3) विभिन्न अभिव्यक्तियों जैसे 'सारभूत् और बाध्यकारी कारण', 'मान्य और पर्याप्त कारण', 'अत्यंत प्रबल परिस्थितियां', 'गलत निष्कर्ष', 'स्पष्ट त्रुटियां' इत्यादि से दोषमुक्ति के विरुद्ध अपील पर कार्यवाही करते समय अपील न्यायालय की व्यापक शक्तियों को कम करने के लिए आशयित नहीं है । ऐसा शब्द प्रयोग, साक्ष्य का पुनर्विलोकन करने की न्यायालय की शक्ति को सीमित करने और अपना स्वयं का निष्कर्ष निकालने की अपेक्षा अपील न्यायालय द्वारा दोषमुक्ति के आदेश में हस्तक्षेप करने की अनिच्छुकता पर बल देने के लिए 'अलंकारिक भाषा' की प्रकृति का अधिक है ।

(4) तथापि, अपील न्यायालय को यह ध्यान में रखना चाहिए कि दोषमुक्ति के मामले में अभियुक्त के पक्ष में दोहरी उपधारणा होती है । प्रथमतः, उसे दांडिक विधि शास्त्र के मूलभूत सिद्धांत के अधीन निर्दोषिता की उपधारणा इस प्रकार उपलब्ध है कि प्रत्येक व्यक्ति को तब तक निर्दोष माना जाएगा जब तक कि सक्षम न्यायालय द्वारा उसका दोष साबित नहीं कर दिया जाता । दूसरे, अभियुक्त की दोषमुक्ति होने पर उसकी निर्दोषिता की उपधारणा विचारण न्यायालय द्वारा पुनः प्रबल, पुष्ट और दृढ़ हो जाती है ।

(5) यदि अभिलेख पर के साक्ष्य के आधार पर दो युक्तियुक्त निष्कर्ष निकाले जाने संभव हों तब अपील न्यायालय को विचारण न्यायालय द्वारा अभिलिखित किए गए दोषमुक्ति के निष्कर्ष में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए ।"

21. प्रत्येक निष्कर्ष तर्क पर आधारित होता है, समुचित कारण के बिना निष्कर्ष अर्थहीन हो जाता है । उच्च न्यायालय द्वारा पारित आक्षेपित निर्णय और आदेश, विचारण न्यायालय द्वारा पारित निर्णय पर विचार करने तथा अभिलेख का परिशीलन करने और विधि की सुस्थापित स्थिति के आलोक में वर्तमान मामले के तथ्यों पर सावधानीपूर्वक विचार करने के पश्चात् हमारी यह सुविचारित राय है कि उच्च न्यायालय का निर्णय तर्कणा के अभाव में अपास्त किए जाने योग्य है जिसके आबद्धकारी और सारभूत कारण निम्न हैं :–

"(i) उच्च न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया है कि मृतक (हमारे समक्ष प्रस्तुत अपीलार्थी का भाई) का पिता भोला सिंह (अभि. सा. 1) ने अपनी दूसरी बार कराई गई मुख्य परीक्षा में दिए गए वृत्तांत में परिवर्तन किया है । घटनाक्रम पर सावधानीपूर्वक विचार करने पर हमारा यह निष्कर्ष है कि विचारण आरंभ होने के पश्चात्, अभि. सा. 1 का साक्ष्य तारीख 9 अगस्त, 1996 को प्रारंभ हुआ था जो कि तारीख 21 अगस्त, 1996 को सम्पूर्ण हुआ । तारीख 9 जनवरी, 1997 को प्रतिपरीक्षा आरंभ की गई और इसके पश्चात् तारीख 29 मई, 1997 को दोबारा की गई क्योंकि कुछ अभियुक्तों ने इस दौरान न्यायालय के समक्ष अभ्यर्पण किया था । तारीख 29 मई, 1997 को जो मुख्य परीक्षा दोबारा की गई थी वह तारीख 19 जून, 1997 को सम्पूर्ण हुई । तारीख 17 जुलाई, 1997 को दूसरी बार प्रतिपरीक्षा का आरंभ किया गया जो तारीख 24 जुलाई, 1997 को सम्पूर्ण हुई । जैसाकि विभिन्न तारीखों से पता चलता है, अभिलेख से यह उपदर्शित होता है कि अभि. सा. 1 की जो मुख्य परीक्षा पहली बार तारीख 9 अगस्त, 1996 को हुई थी, वह तारीख 24 जुलाई, 1997 को द्वितीय प्रतिपरीक्षा होने के पश्चात् पूर्ण हुई थी । इसलिए, अभि. सा. 1 के साक्ष्य से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि मुख्य परीक्षा और प्रतिपरीक्षा कई बार खंडों में की गई थी और न्यायालय को मुख्य परीक्षा बार-बार करानी पड़ी क्योंकि कुछ अभियुक्तों ने बाद में अभ्यर्पण किया था । अभि. सा. 1 के साक्ष्य का मूल्यांकन करते समय न्यायालय को इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि अभियोजन साक्षियों के साक्ष्य अभिलिखित किए जाने में लंबा समय लगा है । अभि. सा. 1 के साक्ष्य का परिशीलन करने पर उच्च न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया है कि उसके साक्ष्य में फर्क और विचलन है । हमारी सुविचारित राय में, अभि. सा. 1 जो प्रत्यक्षदर्शी साक्षी है और जिसके तीन पुत्रों की मृत्यु इस दुर्भाग्यपूर्ण घटना में हुई है, का साक्ष्य सुसंगत है और उसके साक्ष्य में बड़े विचलन या विरोधाभास नहीं हैं और यदि अभि. सा. 1 के साक्ष्य में तुच्छ विरोधाभास आ गए हैं, तब इसका कारण यह हो सकता है कि इस साक्ष्य की परीक्षा एक लंबे समय के बाद कराई गई है, इसके अतिरिक्त साक्ष्य में आए ऐसे विरोधाभास महत्वपूर्ण नहीं हैं जिनके आधार पर अभियुक्त का दोष साबित किया जा सके, हमें इस साक्षी के साक्ष्य को अविश्वसनीय ठहराने का किसी भी प्रकार का कोई भी कारण दिखाई नहीं देता है । अभि. सा. 1 के कथनों की सम्पुष्टि समुचित रूप से अभि. सा. 2 के कथनों से होती है । इस प्रकार, हमारी यह सुविचारत राय है कि यह घटना भोला सिंह (अभि. सा. 1)

की बैठक के सामने घटित हुई थी और उसने उक्त घटना बैजनाथ (अभि. सा. 2) तथा आहत गंगा सिंह के साथ देखी थी ।

(ii) इसी प्रकार, हमें अभि. सा. 2 (भोला सिंह का जीजा) जो कि घटना के समय मौजूद एक अन्य प्रत्यक्षदर्शी साक्षी है, के साक्ष्य को अविश्वसनीय ठहराने का किसी प्रकार का कोई कारण दिखाई नहीं देता है । इस साक्षी के साक्ष्य को अविश्वसनीय ठहराने के लिए प्रतिरक्षा पक्ष द्वारा व्यर्थ प्रयास किया गया है कि यह साक्षी मात्र एक संयोगी साक्षी है न कि घटना का प्रत्यक्षदर्शी साक्षी और यह कि उसकी मौजूदगी संदिग्ध है । किंतु, इस साक्षी की मुख्य परीक्षा या प्रतिपरीक्षा से ऐसी कोई बात सामने नहीं आई है जिसके आधार पर उसके कथन की विश्वसनीयता पर संदेह किया जा सके । इसके अतिरिक्त, इस साक्षी ने संगत रूप से अपना साक्ष्य दिया है और अभियोजन वृत्तांत का पूर्ण रूप से समर्थन किया है । तथापि, इस साक्षी ने यह स्वीकार किया है कि पंचनामा तैयार किए जाने के समय पर उसने दरोगा जी के कहने पर हस्ताक्षर कर दिए थे और अभि. सा. 1 ने उससे पूछा था कि पंचनामे में किस-किसके नाम लिखे जाएं और किस-किसके नाम छोड़ दिए जाएं, इस कथन पर पंचनामा तैयार किए जाने के संदर्भ में विचार करना चाहिए और इससे उसके साक्ष्य को अन्यथा अविश्वसनीय नहीं ठहराया जाएगा ।

(iii) हमारा यह मत है कि उच्च न्यायालय ने प्रत्यर्थियों को दोषमुक्त करने के लिए मुख्य रूप से चिकित्सीय साक्ष्य का अवलंब अत्यंत अनुचित रूप में लिया है । जब चिकित्सक (अभि. सा. 7) ने अपनी मुख्य परीक्षा में स्पष्ट रूप से यह कथन किया है कि घटना 8.00 बजे पूर्वाह्न में घटित हो सकती थी जिससे कि इत्तिलाकर्ता के साक्ष्य की सम्पुष्टि भी होती है, तब ऐसी स्थिति में इस तथ्य पर विश्वास करने का कोई कारण नहीं हो सकता कि घटना 2.00 बजे पूर्वाह्न से 4.00 बजे पूर्वाह्न के बीच घटित हुई थी जो कि मात्र चिकित्सक द्वारा उसकी प्रतिपरीक्षा में दिए गए अस्पष्ट कथन पर आधारित है । हमारा यह भी विश्वास है कि मात्र इस कारण से मृतक के शरीर पर कोई भी कुंद क्षति मौजूद नहीं थी, अभि. सा. 1 का सम्पूर्ण साक्ष्य त्यक्त नहीं किया जा सकता क्योंकि छोटे-मोटे विरोधाभास होने पर प्रत्यक्ष साक्ष्य को वरीयता दी जानी चाहिए । दरबारा सिंह बनाम पंजाब राज्य वाले मामले में इस न्यायालय ने निम्न मत व्यक्त किया है –

जहां तक चिकित्सीय साक्ष्य और प्रत्यक्ष साक्ष्य के बीच असंगतता का संबंध है, विधि सुस्थापित है कि जब तक कि मौखिक साक्ष्य पूर्ण रूप से चिकित्सीय साक्ष्य के असंगत न हो तब तक मौखिक साक्ष्य को वरीयता दी जाएगी । **चिकित्सीय और प्रत्यक्ष के बीच विरोधाभास होने पर, साक्षी के प्रत्यक्ष परिसाक्ष्य का साक्ष्यिक महत्व चिकित्सीय साक्ष्य की अपेक्षा अधिक होता है** और जब चिकित्सीय साक्ष्य के आधार पर मौखिक परिसाक्ष्य असंभावी हो जाए तब ऐसे साक्ष्य का मूल्यांकन करने की प्रक्रिया में वह एक सुसंगत कारक बन जाता है । **ऐसा केवल तब होता है जब दोनों प्रकार के साक्ष्यों में विरोधाभास इतना अधिक होता है कि चिकित्सीय साक्ष्य सत्य होने के आधार पर सभी संभाव्यताओं को पूर्णतया खारिज कर दे तब प्रत्यक्ष साक्ष्य अविश्वसनीय ठहराए जाने योग्य होगा ।**

(iv) हमारी यह भी राय है कि भोला सिंह (अभि. सा. 1), बैजनाथ (अभि. सा. 2), कांस्टेबल राम मनोहर मौर्य (अभि. सा. 3) और उप निरीक्षक रियायतुल्लाह खां (अभि. सा. 4) के साक्ष्य के आधार पर घटनास्थल संदेह के परे साबित हो गया है । इसके अतिरिक्त, अन्वेषण अधिकारी ने रक्त-रंजित मिट्टी और सादा मिट्टी घटनास्थल से प्रदर्श क-8 के अनुसार बरामद की है और उसने घटनास्थल से ही कारतूस भी बरामद किए हैं । न्यायालयिक रिपोर्ट के अनुसार मिट्टी (प्रदर्श क-37) पर मानवरक्त पाया गया है । उपर्युक्त परिस्थितियों से स्पष्ट रूप से यह सिद्ध होता है कि घटनास्थल इत्तिलाकर्ता की बैठक है न कि ग्राम पकवेनर जैसाकि प्रतिरक्षा पक्ष द्वारा अभिकथन किया गया है ।

(v) आहत साक्षी गंगा सिंह की परीक्षा न कराए जाने के मुद्दे पर विचार करने पर यह उल्लेख करना सुसंगत होगा कि विचारण न्यायालय ने इस तथ्य का मूल्यांकन किया है कि यद्यपि अभियोजन पक्ष ने गंगा सिंह को न्यायालय में प्रस्तुत करने का प्रयास किया था किंतु वे ऐसा करने में असफल रहे क्योंकि सुसंगत समय के दौरान गंगा सिंह का अपहरण कर लिया गया था । यह बात तारीख 12 सितंबर, 1997 और 6 अक्तूबर, 1997 को दर्ज की गई दो प्रथम इत्तिला रिपोर्टों से साबित होती है जिससे यह तथ्य सिद्ध हो जाता है

कि गंगा सिंह को धमकी दी गई थी और उसका अपहरण किया गया था । अतः, आहत गंगा सिंह की परीक्षा न कराया जाना अभियोजन पक्षकथन के लिए घातक नहीं हो सकता और इस आधार पर अभि. सा. 1 और अभि. सा. 2 के साक्ष्य को त्यक्त नहीं किया जा सकता । इस प्रकार, गंगा सिंह की परीक्षा न कराए जाने से अभियोजन पक्ष के विरुद्ध प्रतिकूल निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता । [राजन राय **बनाम** बिहार राज्य, (2006) 1 एस. सी. सी. 191 वाला मामला देखिए]

(vi) जहां तक अन्य किसी स्वतंत्र साक्षी की परीक्षा न कराए जाने का संबंध है, कोई संदेह नहीं है कि अभियोजन पक्ष कोई भी स्वतंत्र साक्षी प्रस्तुत नहीं कर सका किंतु, अभियोजन पक्षकथन पर मात्र इस आधार पर संदेह नहीं किया जा सकता । इन दिनों सभ्य लोग आमतौर पर किसी भी आपराधिक मामले में साक्ष्य देने में निष्क्रियता से काम लेते हैं । जब तक कि अपरिहार्य परिस्थिति न हो, आमतौर पर लोग न्यायालय से दूर ही रहते हैं क्योंकि उन्हें यह कार्य तनावपूर्ण महसूस होता है । यद्यपि मनुष्य का ऐसा आचरण वास्तव में दुर्भाग्यपूर्ण है किंतु आमतौर पर ऐसा होता ही है । हम अपने कर्तव्य के प्रति अन्वेषण अभिक्रम की विकलांगता को अनदेखा नहीं कर सकते । प्रत्यक्षदर्शी साक्षी भले ही हितबद्ध साक्षी है किंतु उसका साक्ष्य विश्वासप्रद है और इस बात को दृष्टिगत करते हुए हम मात्र स्वतंत्र साक्षी प्रस्तुत न किए जाने के आधार पर सम्पूर्ण मामले को खारिज नहीं कर सकते ।

(vii) अभियुक्त/प्रत्यर्थियों की ओर से दृढ़तापूर्वक यह दलील दी गई है कि अभियोजन पक्ष अभिकथित घटना का हेतु सिद्ध करने में असफल रहा है । तथापि, शिकायतकर्ता ने पक्षकारों के बीच चल रहे भूमि विवाद की विद्यमानता के बारे में अभिसाक्ष्य दिया है और इस संबंध में इस घटना के पूर्व भी शिकायतें दर्ज कराई गईं थीं । विचारण न्यायालय ने आगे यह अभिनिर्धारित किया है कि पक्षकारों के बीच भूमि विवाद चल रहा था और इस संबंध में शिकायतकर्ता ने पुलिस में शिकायतें (प्रदर्श क-2 और प्रदर्श क-3) दर्ज कराई थी । हम विचारण न्यायालय के मत से सहमत हैं कि भूमि विवाद को लेकर अभियुक्त/प्रत्यर्थी और शिकायतकर्ता के बीच शत्रुता चली आ रही थी और इस बात से भी सहमत हैं कि प्रदर्श क-2 और प्रदर्श क-3

इस घटना के पूर्व दर्ज कराई गईं शिकायतें हैं और इसे बाद में आया विचार नहीं कहा जा सकता क्योंकि दोनों प्रदर्शों पर पुलिस द्वारा प्राप्त किए जाने के संबंध में हस्ताक्षर और तारीख विद्यमान है । इस प्रकार, उपर्युक्त चर्चा को दृष्टिगत करते हुए यह अभिनिर्धारित किया जा सकता है कि शिकायतकर्ता पक्ष के विरुद्ध अपराध कारित करने से संबंधित अभियुक्त/प्रत्यर्थियों का स्पष्ट हेतु था ।

(viii) उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय और आदेश पारित करते समय इस बात पर विचार नहीं किया है कि रामाश्रय सिंह और कमला सिंह अन्यत्र उपस्थित होने के अपने अभिवाक् को साबित नहीं कर सके हैं । जिला और सेशन न्यायाधीश, मऊ को लिखे गए रक्षा मंत्रालय के पत्र (प्रदर्श 263-क) से यह स्पष्ट है कि अभियुक्त रामाश्रय सिंह और वीरेन्द्र सिंह (प्रतिरक्षा साक्षी 1) को तारीख 4 सितंबर, 1994 को पठानकोट से सिकंदराबाद जाने का निदेश दिया गया था । यह उल्लेख किया गया है कि तारीख 6 अक्तूबर, 1994 को उक्त वीरेन्द्र सिंह ने फ्यूज्ड मिसाइल जमा कर दिए थे और अभियुक्त/प्रत्यर्थी रामाश्रय सिंह उस दिन मौजूद नहीं था और वह तारीख 11 अक्तूबर, 1994 को सिकंदराबाद में उपस्थित हुआ । जहां तक अभियुक्त कमला सिंह का संबंध है उसने अन्यत्र उपस्थित होने का अभिवाक् किया है कि वह जम्मू में हवलदार के पद पर तैनात था । तथापि, वह इस संबंध में कोई भी साक्ष्य प्रस्तुत करने में असफल रहा है । इस साक्षी ने यह भी कथन किया है कि वह जम्मू स्थित अपने क्वार्टर पर मौजूद था । तथापि, ओंकार सिंह (प्रतिरक्षा साक्षी 4) ने यह कथन किया है कि वह अभियुक्त कमला सिंह के साथ वैष्णों देवी गया था किंतु वह इस संबंध में कोई भी तर्कसम्मत साक्ष्य प्रस्तुत नहीं कर सका । इस प्रकार, अभिलेख पर प्रस्तुत सामग्री का परिशीलन करने पर हम विचारण न्यायालय द्वारा निकाले गए निष्कर्ष से सहमत हैं कि अभियुक्त अन्यत्र उपस्थित होने का अभिवाक् सिद्ध करने में असफल रहा है ।

(ix) हमारी यह भी सुविचारित राय है कि अभियुक्त की दोषसिद्धि और दंडादेश को उलटने के लिए उच्च न्यायालय द्वारा निकाले गए निष्कर्ष तर्कहीन, न चलने योग्य और साक्ष्य के अनुचित मूल्यांकन किए जाने पर आधारित हैं ।

(x) विचारण न्यायालय ने रामाश्रय सिंह और कमला सिंह को

मृत्यु दंड अधिनिर्णीत किया है । इस मुद्दे पर हम विचारण न्यायालय द्वारा व्यक्त किए गए मत से सहमत नहीं हैं क्योंकि विचारण न्यायालय द्वारा जो कारण दिए गए हैं उनसे हम सहमत नहीं हैं कि यह मामला विरल से विरलतम मामले की कोटि में आता है जिसमें मृत्यु दंड अपेक्षित हो ।"

22. उपर्युक्त कारणों के आधार पर, हम इस अकाट्य निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ये अपीलें मंजूर की जानी चाहिएं और आक्षेपित निर्णय और आदेश अपास्त किए जाने चाहिए । तद्नुसार, हम उच्च न्यायालय के आक्षेपित निर्णय और आदेश को अपास्त करते हुए इन अपीलों को मंजूर करते हैं और सभी अभियुक्त प्रत्यर्थियों को दंड संहिता की धारा 302/149 के अधीन आजीवन कारावास भोगने तथा 10,000/- रुपए के जुर्माने का संदाय करने जिसका व्यतिक्रम किए जाने पर अतिरिक्त छह मास का कठोर कारावास भोगने के लिए दोषसिद्ध करने के संबंध में विचारण न्यायालय द्वारा पारित निर्णय और आदेश को उपांतरित करते हैं । ये अभियुक्त दंड संहिता की धारा 307/149 के अधीन भी दोषसिद्ध किए जाते हैं और 5,000/- रुपए के जुर्माने के साथ 7 वर्ष का कठोर कारावास भोगने के लिए दंडादिष्ट किए जाते हैं तथा जुर्माने के संदाय में व्यतिक्रम किए जाने पर अतिरिक्त 3 मास का कठोर कारावास भोगने के लिए भी दंडादिष्ट किए जाते हैं । अभियुक्त प्रत्यर्थियों को दंड संहिता की धारा 148 के अधीन भी दोषसिद्ध किया जाता है और उन्हें 2 वर्ष का कठोर कारावास भोगने तथा 1,000/- रुपए के जुर्माने का संदाय करने जिसका व्यतिक्रम किए जाने पर अतिरिक्त 3 मास का कठोर कारावास भोगने के लिए भी दंडादिष्ट किया जाता है । सभी दंडादेशों को साथ-साथ चलाए जाने का आदेश किया जाता है ।

अपीलें मंजूर की गईं ।

अस.

शाहिद खान

बनाम

राजस्थान राज्य

2 मार्च, 2016

न्यायमूर्ति जगदीश सिंह खेहर और न्यायमूर्ति सी. नागप्पन

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) – धारा 302 – हत्या – जहां मामले के तथ्यों और परिस्थितियों, चिकित्सीय साक्ष्य और प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों की परीक्षा तीन दिन बाद कराए जाने और साक्षियों का साक्ष्य संदिग्ध पाए जाने से युक्तियुक्त संदेह से परे यह साबित नहीं होता है कि हत्या का अपराध अभियुक्तों द्वारा किया गया वहां अभियुक्त व्यक्तियों को दोषसिद्ध ठहराना न्यायोचित नहीं है ।

अभियोजन पक्षकथन अभिलेख पर प्रस्तुत सामग्री के अनुसार संक्षेप में इस प्रकार है – अनिल कुमार जैन मृतक अशोक कुमार का भाई है । तारीख 22 जनवरी, 2001 को उसने पुलिस थाना कोतवाली झालावाड़ में एक शिकायत दर्ज कराई जिसमें यह कथन किया कि उसका भाई अशोक कुमार कोटा-पत्थर की फैक्ट्री चला रहा था और अब्दुल खालिद के पास टोल कर की संविदा थी जिसमें अशोक कुमार भागीदार था । यह भी कथन किया गया है कि कल्लू की हत्या कारित करने के लिए खालिद को गिरफ्तार किया गया था और अशोक कुमार ने खालिद की सहायता की थी । इस कारण से तारीख 22 जनवरी, 2001 को कल्लू के साथी फैक्ट्री में आए और उन्होंने अशोक कुमार की हत्या कर दी । शिकायत में यह भी कथन किया गया था कि लाल चंद द्वारा उपलब्ध कराई गई सूचना के अनुसार अभियुक्त संख्या में 5 थे और उन्होंने तलवार और चाकू से अशोक कुमार को क्षतियां कारित कीं । मिर्जा माजिद बेग अशोक कुमार से मिलने घटना वाले दिन कोटा से झालावाड़ आया और उसने और उसके ड्राइवर मोहम्मद शाकिर ने यह घटना देखी जिसके दौरान अभियुक्तों ने अशोक कुमार को आयुधों से क्षतियां पहुंचाईं । भय के कारण वे फैक्ट्री में छिप गए । अनिल कुमार जैन आहत अशोक कुमार को मारूति कार से झालावाड़ के अस्पताल ले गया जहां पर उसे मृत घोषित कर दिया गया । अनिल कुमार जैन की लिखित शिकायत के आधार पर दंड संहिता की धारा 147, 148, 302/149 और 448 के अधीन

मामला दर्ज कराया गया और अन्वेषक आरंभ किया गया । इस मामले में अभियुक्त-1 से लेकर अभियुक्त-5 तक पांचों अभियुक्तों को हत्या के अपराध के लिए गिरफ्तार किया गया और उनका विचारण किया गया । विचारण के दौरान अभियुक्त-1 को निर्दोष पाया गया और अभियुक्त-2 से अभियुक्त-5 को दंड संहिता की धारा 302/149 के अधीन दोषी पाया गया । इस आदेश से व्यथित होकर इन अभियुक्तों ने उच्च न्यायालय के समक्ष अपील फाइल की । इस अपील के लंबित रहने के दौरान अभियुक्त-3 की मृत्यु हो गई और उसकी अपील उपशमित कर दी गई । उच्च न्यायालय ने यह अपील खारिज कर दी । उच्च न्यायालय के इस आदेश को चुनौती देते हुए, इन तीनों अभियुक्तों ने ये वर्तमान तीन अपीलें फाइल कीं । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपीलें मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – अशोक कुमार की मृत्यु मानव वध से हुई है जो कि इस मामले में प्रस्तुत किए गए चिकित्सीय साक्ष्य से स्पष्ट है । डा. अरविन्द कुमार बोहरा, जिन्होंने शवपरीक्षण किया था, मृतक के उदर में 4 वेधित छिन्न घाव पाए और उसके ललाट तथा बाईं जंघा में 2 छिन्न घाव देखे । शवपरीक्षण रिपोर्ट जो डा. अरविन्द कुमार बोहरा द्वारा जारी की गई है और इस रिपोर्ट में चिकित्सक ने यह राय व्यक्त की है कि मृत्यु का कारण रक्तस्राव से होने वाला आघात है जो प्लीहा और आन्त्रयोजनी वाहिनियों के कट जाने से हुआ है । यह इंगित करना सुसंगत है कि अनवार, अनिल कुमार जैन, सूचना प्राप्त होने पर घटनास्थल की ओर दौड़े, इन साक्षियों ने यह कथन नहीं किया है कि मिर्जा माजिद बेग और मोहम्मद शाकिर को घटनास्थल पर देखा था अनिल कुमार जैन ने अनवार और लाल चन्द की सहायता से अशोक कुमार (आहत) को उठाया और मारूति वैन में लिटाया और उसे झालावाड़ अस्पताल ले गए, जहां पर उसे मृत घोषित कर दिया गया । इसके पश्चात् अनिल कुमार जैन पुलिस थाना गया और उसने लिखित शिकायत दर्ज कराई । उक्त शिकायत में, हमलावरों के नामों का उल्लेख नहीं किया गया और उन व्यक्तियों के नाम भी नहीं दिए गए जो घटना के दौरान वहां मौजूद थे । मिर्जा माजिद बेग और मोहम्मद शाकिर ने अपनी प्रतिपरीक्षा में यह कथन किया है कि उन्होंने अनवार और आहत को अस्पताल पहुंचाने में अनिल कुमार जैन की सहायता नहीं की थी और उन्होंने यह कथन किया है कि वे टोल नाके की ओर दौड़े थे और वे ट्रक में बैठकर अस्पताल गए थे और अस्पताल में प्रवेश करने से पहले ही उन्होंने अपनी वैन देख ली थी और वे उस वैन से कोटा चले गए और

उन्होंने किसी भी व्यक्ति को इस घटना के बारे में नहीं बताया था और वे शिकायत दर्ज कराने के लिए पुलिस थाने भी नहीं गए थे । उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय में यह निष्कर्ष निकाला है कि मिर्जा माजिद बेग की मौजूदगी इस तथ्य को दृष्टिगत करते हुए सिद्ध हो जाती है कि उसकी मारूति वैन आहत को अस्पताल पहुंचाने में प्रयोग की गई थी । अभिलेख पर कोई ऐसी सामग्री नहीं है जिससे यह दर्शित किया जा सके कि मारूति वैन का प्रयोग अशोक कुमार को अस्पताल पहुंचाने में किया गया था जो मिर्जा माजिद बेग की थी । वास्तव में अनिल कुमार जैन ने अपनी प्रतिपरीक्षा में यह कथन किया है कि उसे उस मारूति वैन का रजिस्ट्रेशन नम्बर मालूम नहीं है जिसमें अशोक कुमार को अस्पताल ले जाया गया था और उसे यह भी मालूम नहीं है कि वह वैन किस व्यक्ति की थी । दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है, इस बात से कुछ भी साबित नहीं हो पाता है कि मारूति वैन का प्रयोग अस्पताल पहुंचाने में किया गया था और किसी भी स्थिति में इससे मिर्जा माजिद बेग की मौजूदगी घटना के समय संदिग्ध नहीं होती है । मिर्जा माजिद बेग और मोहम्मद शाकिर का लोगों की नजरों से बचकर निकल जाना अभिकथित हमले के पश्चात्, पूर्णतया अविश्वसनीय है । यह तथ्य वास्तविक प्रतीत नहीं होता है । अभि. सा. 24 और अभि. सा. 25 आहत के लिए अजनबी नहीं थे और उन्होंने उसे अस्पताल पहुंचाने में सहायता नहीं की और न ही वे उसकी हालत और दशा जानने के लिए अस्पताल के भीतर गए और उन्होंने इस घटना के बारे में पुलिस को सूचित भी नहीं किया । इस बात का कोई आधार नहीं है कि ये साक्षी भयभीत हो गए थे और उनके कृत्य और आचरण संबंधी साक्ष्य से भी इस बात की सम्पुष्टि नहीं होती है । इस अभिवाक् से सहमत नहीं है । इस संदर्भ में, यह इंगित करना सुसंगत होगा कि मिर्जा माजिद बेग ने यह स्वीकार किया है कि वह पिछले कई मामलों में आलिप्त रहा है और इस अभियुक्त पर स्वापक ओषधि और मनःप्रभावी पदार्थ अधिनियम, 1985 के अधीन दो मामले भी अधिरोपित किए गए थे और उसे दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 110 के अधीन आबद्ध भी किया गया था । मिर्जा माजिद बेग और मोहम्मद शाकिर के कथन घटना के तीन दिन के पश्चात् अभिलिखित किए गए थे । इस संबंध में कोई भी स्पष्टीकरण नहीं दिया गया है कि तीन दिन तक उनकी परीक्षा क्यों नहीं कराई गई । यह भी स्पष्ट नहीं किया गया है कि पुलिस को यह कैसे पता चला कि इन साक्षियों ने यह घटना देखी थी । इन साक्षियों के कथन विलंब से अभिलिखित किए जाने से उनका इस घटना का प्रत्यक्षदर्शी साक्षी होना

संदिग्ध हो जाता है । इससे यह पता चलता है कि अन्वेषण अधिकारी ने जानबूझकर विलंब किया है ताकि मामले को अपने अनुसार बना सके और उसने प्रत्यक्षदर्शी साक्षी अपने अनुसार तय किए । इन परिस्थितियों में जो विलंब हुआ है वह बहुत महत्वपूर्ण है । माजिद बेग और मोहम्मद शाकिर ने विलंब के संबंध में जो मौन धारण किया है और पुलिस को इतने विलंब से कथन दिए हैं, इस बात से साक्षी पूर्णतया अविश्वसनीय प्रतीत होते हैं । इन साक्षियों के साक्ष्य की किसी भी अन्य स्वतंत्र साक्ष्य से पुष्टि नहीं होती है । अपीलार्थियों की दोषसिद्धि और दंडादेश को कायम रखने के लिए इन साक्षियों के साक्ष्य का अवलंब लेना अनुचित दिखाई देता है । उच्च न्यायालय अपीलार्थियों की ओर से दी गई दलीलों पर विचार करने और साक्ष्य का पुनर्मूल्यांकन करने में असफल रहा है जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इस मामले में अन्याय हुआ है । न्यायालय की राय में, अपीलार्थियों के विरुद्ध मामला युक्तियुक्त संदेह के परे साबित नहीं किया गया है । (पैरा 8, 10 और 11)

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2006 की दांडिक अपील सं. 1460, 1461 और 1462.

ये तीनों अपीलें 2003 की दांडिक अपील सं. 1001 में राजस्थान उच्च न्यायालय, जयपुर की खंड न्यायपीठ द्वारा तारीख 20 दिसंबर, 2006 को पारित निर्णय के विरुद्ध प्रस्तुत की गई हैं ।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री सुशील कुमार जैन (ज्येष्ठ अधिवक्ता), (सुश्री शैली भसीन की ओर से) विक्रम बनर्जी, भरत सूद और विश्वनाथ चटर्जी, अभिनव गुप्ता और अपूर्व तरन (सुश्री प्रतिभा जैन की ओर से)

प्रत्यर्थी की ओर से सर्वश्री पुनीत परिहार और सौरभ राजपात (मिलिन्द कुमार और रुचि कोहली की ओर से)

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति सी. नागप्पन ने दिया ।

न्या. नागप्पन – ये तीनों अपीलें 2003 की दांडिक अपील सं. 1001 में राजस्थान उच्च न्यायालय, जयपुर की खंड न्यायपीठ द्वारा तारीख 20 दिसंबर, 2006 को पारित निर्णय के विरुद्ध प्रस्तुत की गई हैं ।

2. 2003 की दांडिक अपील सं. 1001 में के अपीलार्थी विशेष न्यायाधीश, अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति (पी. ओ. ए.), झालावाड़ के न्यायालय में 2003 के सेशन मामला सं. 31 में अभियुक्त-2 से 5 थे और भारतीय दंड संहिता, 1860 (जिसे संक्षेप में "दंड संहिता" कहा गया है) की धारा 147, 148, 302/149 और 397 के अधीन अभिकथित अपराधों के लिए अभियुक्त-1 के साथ इन अभियुक्तों का विचारण किया गया था । सेशन न्यायालय ने अभियुक्त-1 को किसी भी आरोप का दोषी नहीं पाया और अभियुक्त-2 से 5 को दंड संहिता की धारा 397 के अधीन दोषी नहीं पाया । किंतु इसी दौरान सेशन न्यायालय ने अभियुक्त-2 से 5 को दंड संहिता की धारा 148 के अधीन अपराध के लिए दोषसिद्ध किया और दो वर्ष का साधारण कारावास भोगने तथा 500/- रुपए जुर्माने का संदाय करने जिसका व्यतिक्रम किए जाने पर एक मास का अतिरिक्त कारावास भोगने का दंडादेश दिया और इन अभियुक्तों को दंड संहिता की धारा 302/149 के अधीन अपराध के लिए भी दोषसिद्ध किया और आजीवन कारावास भोगने तथा प्रत्येक को 2,000/- रुपए के जुर्माने का संदाय करने जिसका व्यतिक्रम किए जाने पर छह मास का साधारण कारावास भोगने का दंडादेश दिया ।

3. इस दोषसिद्ध और दंडादेश से व्यथित होकर, अभियुक्त-2 से 5 ने राजस्थान उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ के समक्ष 2003 की दांडिक अपील सं. 1001 प्रस्तुत की । इस अपील के लंबित रहने के दौरान अपीलार्थी इरफान अली की मृत्यु हो गई और उसकी अपील उपशमित कर दी गई । उच्च न्यायालय ने अपने तारीख 20 दिसंबर, 2006 के निर्णय द्वारा अपीलार्थियों की ओर से प्रस्तुत की गई अपील खारिज कर दी । इस आदेश को चुनौती देते हुए अभियुक्त-2, 4 और 5 ने ये वर्तमान अपीलें फाइल की हैं ।

4. अभियोजन पक्षकथन अभिलेख पर प्रस्तुत सामग्री के अनुसार संक्षेप में इस प्रकार है – अनिल कुमार जैन (अभि. सा. 19) मृतक अशोक कुमार का भाई है । तारीख 22 जनवरी, 2001 को उसने पुलिस थाना कोतवाली झालावाड़ में एक शिकायत (प्रदर्श पी-34) दर्ज कराई जिसमें यह कथन किया कि उसका भाई अशोक कुमार कोटा-पत्थर की फैक्ट्री चला रहा था और अब्दुल खालिद के पास टोल कर की संविदा थी जिसमें अशोक कुमार भागीदार था । यह भी कथन किया गया है कि कल्लू की हत्या कारित करने के लिए खालिद को गिरफ्तार किया गया था और अशोक कुमार ने

खालिद की सहायता की थी । इस कारण से तारीख 22 जनवरी, 2001 को कल्लू के साथी फैक्ट्री में आए और उन्होंने अशोक कुमार की हत्या कर दी । शिकायत में यह भी कथन किया गया था कि लाल चंद (अभि. सा. 20) द्वारा उपलब्ध कराई गई सूचना के अनुसार अभियुक्त संख्या में 5 थे और उन्होंने तलवार और चाकू से अशोक कुमार को क्षतियां कारित कीं । मिर्जा माजिद बेग (अभि. सा. 25) अशोक कुमार से मिलने घटना वाले दिन कोटा से झालावाड़ आया और उसने और उसके ड्राइवर मोहम्मद शाकिर (अभि. सा. 24) ने यह घटना देखी जिसके दौरान अभियुक्तों ने अशोक कुमार को आयुधों से क्षतियां पहुंचाईं । भय के कारण वे फैक्ट्री में छिप गए । अनिल कुमार जैन (अभि. सा. 19) आहत अशोक कुमार को मारूति कार से झालावाड़ के अस्पताल ले गया जहां पर उसे मृत घोषित कर दिया गया । अनिल कुमार जैन (अभि. सा. 19) की लिखित शिकायत के आधार पर दंड संहिता की धारा 147, 148, 302/149 और 448 के अधीन मामला दर्ज कराया गया और अन्वेषक आरंभ किया गया । डा. अरविन्द कुमार बोहरा (अभि. सा. 17) ने अशोक कुमार का शवपरीक्षण किया और मृत्यु-पूर्व की निम्न क्षतियां पाईं :–

"1. ललाट के मध्य में क्षैतिज अवस्था में 2.5 इंच × 0.5 इंच माप का छिन्न घाव है जिसकी गहराई अस्थि तक है ।

2. बाएं कान के बाह्य भाग पर सामने की ओर 3.5 इंच लंबी रगड़ मौजूद है ।

3. 2 इंच × 0.5 इंच माप का वेधकर कारित किया गया छिन्न घाव जिसकी गहराई वपाजाल की गुहा तक है और इस घाव से ताजा रक्त निकल रहा है और इसकी दिशा नाभि के दाईं ओर उर्ध्वाधर है ।

4. 2 इंच × 0.5 इंच माप का वेधकर कारित किया गया छिन्न घाव है जिसकी गहराई वपाजाल की गुहा तक है । इस घाव की दिशा तिरछी-उर्ध्वाधर है और इससे ताजा रक्त निकल रहा है जो नाभि के बाईं ओर है ।

5. 2 इंच × 0.5 इंच माप का वेधकर कारित किया गया छिन्न घाव है जिसकी गहराई वपाजाल की गुहा तक है और इससे ताजा रक्त निकल रहा है जिसकी दिशा उदर के बाईं ओर वृक्कों के निकट है ।

6. 2 इंच × 0.5 इंच माप का वेधकर कारित किया गया छिन्न घाव है जो गुहा तक गहरा है और उदर के अधोपार्श्विक भाग में कोस्टल मार्जिन से 0.5 इंच की दूरी पर बाईं ओर तिरछा स्थित है ।

7. बाईं जंघा के मध्यपार्श्विक भाग में 1 इंच × 0.25 इंच माप का छिन्न घाव जो त्वचा तक गहरा है ।"

चिकित्सक ने शवपरीक्षण रिपोर्ट (प्रदर्श पी-21) यह राय व्यक्त करते हुए प्रस्तुत की है कि मृत्यु का कारण रक्तस्राव और आघात जो प्लीहा और आन्त्रयोजनी वाहिनियों के कट जाने से हुआ है ।

5. अन्वेषण अधिकारी ने साक्षियों की परीक्षा की, अभियुक्तों को गिरफ्तार किया और आवश्यक ज्ञापन तैयार करके आयुध बरामद किए तथा अन्वेषण पूरा होने के पश्चात आरोप पत्र फाइल किया । सेशन न्यायालय ने आरोप विरचित करने के पश्चात् विचारण किया जिसमें अभियोजन पक्ष ने 28 साक्षियों की परीक्षा कराई और दस्तावेज चिह्नांकित किए तथा प्रतिरक्षा पक्ष ने अपनी ओर से 2 साक्षियों की परीक्षा कराई । विचारण न्यायालय ने अभियुक्त-1 को सभी आरोपों से दोषमुक्त कर दिया और अभियुक्त-2 से 5 को, जैसाकि ऊपर कहा गया है, दोषसिद्ध किया । उच्च न्यायालय ने अपील किए जाने पर इस दोषसिद्ध और दंडादेश की पुष्टि की । उच्च न्यायालय के इस आदेश से व्यथित होकर वर्तमान अपीलें प्रस्तुत की गई हैं ।

6. अपीलार्थियों की ओर से हाजिर होने वाले ज्येष्ठ अधिवक्ता श्री सुशील कुमार जैन ने यह दलील दी है कि मिर्जा माजिद बेग (अभि. सा. 25) और उसके ड्राइवर मोहम्मद शाकिर (अभि. सा. 24) जिन्होंने घटना के प्रत्यक्षदर्शी साक्षी होने का दावा किया है, संयोगी साक्षी हैं जिनकी घटनास्थल पर मौजूदगी संदिग्ध है और उनका यह आचरण भी संदिग्ध है कि उन्होंने मृतक के नातेदारों को सूचना नहीं दी और न ही पुलिस में शिकायत दर्ज कराई जो कि एक पूर्णतया अस्वाभाविक कार्य है और इन साक्षियों के कथन घटना के तीन दिनों के पश्चात् अभिलिखित किए गए जिसके संबंध में कोई भी स्पष्टीकरण नहीं दिया गया है और अभियोजन पक्षकथन जानबूझकर गढ़ा गया है जो कि संदिग्ध है । विद्वान् काउंसेल द्वारा यह भी दलील दी गई है कि मिर्जा माजिद बेग (अभि. सा. 25) ने अपीलार्थियों को इस मामले में मिथ्या फंसाया है क्योंकि उसके दामाद खालिद का विचारण कल्लू की हत्या के लिए चल रहा था और उस मामले में वर्तमान अपीलार्थी अर्थात् बंटी ने उसके विरुद्ध अभियोजन साक्षी के रूप

में साक्ष्य दिया था जिसके परिणामस्वरूप दोषसिद्धि हुई । यह भी दलील दी गई है कि निचले न्यायालयों ने प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों के असंपोषक परिसाक्ष्य पर विश्वास करके गलत किया है और इस प्रकार अपीलार्थियों की दोषसिद्धि और उन पर अधिरोपित दंडादेश विधि की दृष्टि से कायम रखे जाने योग्य नहीं है और उन्हें अपास्त किया जाना चाहिए । अपनी दलील के समर्थन में विद्वान् काउंसेल द्वारा इस न्यायालय के अनेक विनिश्चयों का अवलंब लिया गया है ।

7. इसके प्रतिकूल प्रत्यर्थी की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी है कि घटना के समय प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों की मौजूदगी सिद्ध की गई है और अपीलार्थियों को दोषसिद्ध करने के लिए उनके परिसाक्ष्यों का अवलंब निचले न्यायालयों द्वारा ठीक ही लिया गया है और आक्षेपित निर्णय कायम रखे जाने योग्य है ।

8. अशोक कुमार की मृत्यु मानव वध से हुई है जो कि इस मामले में प्रस्तुत किए गए चिकित्सीय साक्ष्य से स्पष्ट है । डा. अरविन्द कुमार बोहरा (अभि. सा. 17), जिन्होंने शवपरीक्षण किया था, मृतक के उदर में 4 वेधित छिन्न घाव पाए और उसके ललाट तथा बाईं जंघा में 2 छिन्न घाव देखे । प्रदर्श पी-21 शवपरीक्षण रिपोर्ट है जो डा. अरविन्द कुमार बोहरा द्वारा जारी की गई है और इस रिपोर्ट में चिकित्सक ने यह राय व्यक्त की है कि मृत्यु का कारण रक्तस्राव से होने वाला आघात है जो प्लीहा और आन्त्रयोजनी वाहिनियों के कट जाने से हुआ है । उपरोक्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि अशोक कुमार की मृत्यु घटना के दौरान पहुंची क्षतियों से हुई है ।

9. अभियोजन पक्षकथन इस प्रकार है कि अपीलार्थी (अभियुक्त-2, 4 और 5) ने अन्य अभियुक्तों के साथ मिलकर अशोक कुमार को तलवार और चाकू से क्षतियां पहुंचाईं हैं । विचारण के दौरान लाल चंद (अभि. सा. 20), मोहम्मद शाकिर (अभि. सा. 24) और मिर्जा माजिद बेग (अभि. सा. 25) की परीक्षा प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों के रूप में कराई गई है । लाल चंद (अभि. सा. 20) ने अभियोजन पक्षकथन का समर्थन नहीं किया है और उसे पक्षद्रोही घोषित किया गया है । मिर्जा माजिद बेग (अभि. सा. 25) ने अपने परिसाक्ष्य में यह कथन किया है कि तारीख 22 जनवरी, 2001 को वह कोटा से 10.00 बजे चला था और लगभग 12.00 बजे अपनी मारूति वैन से, जिसे उसका ड्राइवर मोहम्मद शाकिर (अभि. सा. 24) चला रहा था, झालावाड़ पहुंचा और टोल नाके पर 5-10 मिनट के लिए रुका और इसके पश्चात् वे अशोक कुमार से मिलने उसकी फैक्ट्री पर गए और वहां पहुंचने

पर उन्होंने चिल्लाने की आवाज सुनी और वे वैन से उतर कर बाहर आए और फैक्ट्री के भीतर की ओर दौड़े और उन्होने बंटी (अभियुक्त-2) और शाहिद खान (अभियुक्त-4) को देखा जो अपने हाथों में चाकू लिए हुए थे तथा मन्सूर (अभियुक्त-5) के पास गुप्ती थी और ये सभी अभियुक्त अशोक कुमार पर इन आयुधों से हमला कर रहे थे । इस साक्षी के अनुसार वह और उसका ड्राइवर फैक्ट्री में एक दीवार से लगकर खड़े हो गए और यह घटना देखी जिसके पश्चात् वे भागकर टोल नाके की तरफ पहुंचे और एक टैंकर में बैठ गए और वहां से झालावाड़ अस्पताल पहुंचे और उन्होंने अपनी मारूति वैन अस्पताल में खड़ी हुई देखी और वे वहां से इस वैन से सीधे कोटा चले गए । मोहम्मद शाकिर (अभि. सा. 24) ने यह परिसाक्ष्य दिया है कि तारीख 22 जनवरी, 2001 को वह मिर्जा माजिद बेग (अभि. सा. 25) की मारूति वैन चला रहा था और कोटा से झालावाड़ गया था तथा जब वे अशोक कुमार की फैक्ट्री पर पहुंचे थे तब उन्होंने चिल्लाने की आवाज सुनी थी और वे दोनों वैन से उतर कर बाहर आए और तेजी से फैक्ट्री में गए और उन्होंने अपीलार्थियों और अन्य अभियुक्तों को अशोक कुमार पर चाकू से हमला करते हुए देखा और वे दौड़कर फैक्ट्री के पीछे की ओर चले गए और वे एक दीवार के निकट छिप गए तथा 5-10 मिनट के पश्चात् वे बाहर आए और टोल नाके पर चले गए और वहां से एक ट्रक से लिफ्ट लेकर झालावाड़ अस्पताल पहुंचे और उन्होंने वहां अपनी वैन देखी जिसे लेकर वे वापस कोटा चले गए ।

10. उपरोक्त दोनों साक्षी कोटा के निवासी हैं जो झालावाड़ कस्बे से लगभग 150 किलोमीटर की दूरी पर हैं । मिर्जा माजिद बेग (अभि. सा. 25) के अनुसार वह अशोक कुमार से मिलने झालावाड़ गया था और 1.00 बजे अपराह्न में फैक्ट्री पर पहुंचने पर उन्होंने यह घटना देखी थी । यह इंगित करना सुसंगत है कि अनवार (अभि. सा. 9) अनिल कुमार जैन (अभि. सा. 19), सूचना प्राप्त होने पर घटनास्थल की ओर दौड़े, इन साक्षियों ने यह कथन नहीं किया है कि मिर्जा माजिद बेग (अभि. सा. 25) और मोहम्मद शाकिर (अभि. सा. 24) को घटनास्थल पर देखा था अनिल कुमार जैन (अभि. सा. 19) ने अनवार (अभि. सा. 9) और लाल चन्द (अभि. सा. 20) की सहायता से अशोक कुमार (आहत) को उठाया और मारूति वैन में लिटाया और उसे झालावाड़ अस्पताल ले गए, जहां पर उसे मृत घोषित कर दिया गया । इसके पश्चात् अनिल कुमार जैन (अभि. सा. 19) पुलिस थाना गया और उसने लिखित शिकायत दर्ज कराई । उक्त

शिकायत में, हमलावरों के नामों का उल्लेख नहीं किया गया और उन व्यक्तियों के नाम भी नहीं दिए गए जो घटना के दौरान वहां मौजूद थे । मिर्जा माजिद बेग (अभि. सा. 25) और मोहम्मद शाकिर (अभि. सा. 24) ने अपनी प्रतिपरीक्षा में यह कथन किया है कि उन्होंने अनवार (अभि. सा. 9) और आहत को अस्पताल पहुंचाने में अनिल कुमार जैन (अभि. सा. 19) की सहायता नहीं की थी और उन्होंने यह कथन किया है कि वे टोल नाके की ओर दौड़े थे और वे ट्रक में बैठकर अस्पताल गए थे और अस्पताल में प्रवेश करने से पहले ही उन्होंने अपनी वैन देख ली थी और वे उस वैन से कोटा चले गए और उन्होंने किसी भी व्यक्ति को इस घटना के बारे में नहीं बताया था और वे शिकायत दर्ज कराने के लिए पुलिस थाने भी नहीं गए थे । उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय में यह निष्कर्ष निकाला है कि मिर्जा माजिद बेग (अभि. सा. 25) की मौजूदगी इस तथ्य को दृष्टिगत करते हुए सिद्ध हो जाती है कि उसकी मारूति वैन आहत को अस्पताल पहुंचाने में प्रयोग की गई थी । अभिलेख पर कोई ऐसी सामग्री नहीं है जिससे यह दर्शित किया जा सके कि मारूति वैन का प्रयोग अशोक कुमार को अस्पताल पहुंचाने में किया गया था जो मिर्जा माजिद बेग (अभि. सा. 25) की थी । वास्तव में अनिल कुमार जैन (अभि. सा. 19) ने अपनी प्रतिपरीक्षा में यह कथन किया है कि उसे उस मारूति वैन का रजिस्ट्रेशन नम्बर मालूम नहीं है जिसमें अशोक कुमार को अस्पताल ले जाया गया था और उसे यह भी मालूम नहीं है कि वह वैन किस व्यक्ति की थी । दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि इस बात से कुछ भी साबित नहीं हो पाता है कि मारूति वैन का प्रयोग अस्पताल पहुंचाने में किया गया था और किसी भी स्थिति में इससे मिर्जा माजिद बेग (अभि. सा. 25) की मौजूदगी घटना से समय संदिग्ध नहीं होती है । मिर्जा माजिद बेग (अभि. सा. 25) और मोहम्मद शाकिर (अभि. सा. 24) का लोगों की नजरों से बचकर निकल जाना अभिकथित हमले के पश्चात्, पूर्णतया अविश्वसनीय है । यह तथ्य वास्तविक प्रतीत नहीं होता है । (अभि. सा. 24) और (अभि. सा. 25) आहत के लिए अजनबी नहीं थे और उन्होंने उसे अस्पताल पहुंचाने में सहायता नहीं की और न ही वे उसकी हालत और दशा जानने के लिए अस्पताल के भीतर गए और उन्होंने इस घटना के बारे में पुलिस को सूचित भी नहीं किया । इस बात का कोई आधार नहीं है कि ये साक्षी भयभीत हो गए थे और उनके कृत्य और आचरण संबंधी साक्ष्य से भी इस बात की सम्पुष्टि नहीं होती है । इस अभिवाक् से हम सहमत नहीं हैं । इस

संदर्भ में, यह इंगित करना सुसंगत होगा कि मिर्जा माजिद बेग (अभि. सा. 25) ने यह स्वीकार किया है कि वह पिछले कई मामलों में आलिप्त रहा है और इस अभियुक्त पर स्वापक औषधि और मनःप्रभावी पदार्थ अधिनियम, 1985 के अधीन दो मामले भी अधिरोपित किए गए थे और उसे दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 110 के अधीन आबद्ध भी किया गया था ।

11. मिर्जा माजिद बेग (अभि. सा. 25) और मोहम्मद शाकिर (अभि. सा. 24) के कथन घटना के तीन दिन के पश्चात् अभिलिखित किए गए थे । इस संबंध में कोई भी स्पष्टीकरण नहीं दिया गया है कि तीन दिन तक उनकी परीक्षा क्यों नहीं कराई गई । यह भी स्पष्ट नहीं किया गया है कि पुलिस को यह कैसे पता चला कि इन साक्षियों ने यह घटना देखी थी । इन साक्षियों के कथन विलंब से अभिलिखित किए जाने से उनका इस घटना का प्रत्यक्षदर्शी साक्षी होना संदिग्ध हो जाता है । इससे यह पता चलता है कि अन्वेषण अधिकारी ने जानबूझकर विलंब किया है ताकि मामले को अपने अनुसार बना सके और उसने प्रत्यक्षदर्शी साक्षी अपने अनुसार तय किए । इन परिस्थितियों में जो विलंब हुआ है वह बहुत महत्वपूर्ण है । माजिद बेग (अभि. सा. 25) और मोहम्मद शाकिर (अभि. सा. 24) ने विलंब के संबंध में जो मौन धारण किया है और पुलिस को इतने विलंब से कथन दिए हैं, इस बात से हमें ये साक्षी पूर्णतया अविश्वसनीय प्रतीत होते हैं । इन साक्षियों के साक्ष्य की किसी भी अन्य स्वतंत्र साक्ष्य से पुष्टि नहीं होती है । अपीलार्थियों की दोषसिद्धि और दंडादेश को कायम रखने के लिए इन साक्षियों के साक्ष्य का अवलंब लेना हमें अनुचित दिखाई देता है । उच्च न्यायालय अपीलार्थियों की ओर से दी गई दलीलों पर विचार करने और साक्ष्य का पुनर्मूल्यांकन करने में असफल रहा है जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इस मामले में अन्याय हुआ है । हमारी राय में, अपीलार्थियों के विरुद्ध मामला युक्तियुक्त संदेह के परे साबित नहीं किया गया है ।

12. परिणामतः, अपीलें मंजूर की जाती हैं और अपीलार्थियों की दोषसिद्धि और दंडादेश अपास्त किए जाते हैं । अपीलार्थी जमानत पर हैं । उनके बंधपत्र उन्मोचित किए जाते हैं ।

अपीलें मंजूर की गईं ।

अस.

कुनपारेड्डी उर्फ नुकाला शंका बालाजी

बनाम

कुनपारेड्डी स्वर्ण कुमारी और एक अन्य

18 मार्च, 2016

न्यायमूर्ति ए. के. सीकरी और न्यायमूर्ति आर. के. अग्रवाल

घरेलू हिंसा से महिला संरक्षण अधिनियम, 2005 (2005 का 43) – धारा 12, 19 से 23 और 31 – मूल अर्जी में संशोधन – ऐसे दंड न्यायालय जो संहिता द्वारा शासित हैं में परिवादों में संशोधन का पूर्ण अवरोध नहीं है किंतु सीमित परिस्थितियों में सावधानी और सतर्कता के साथ संशोधन अनुज्ञात करने की शक्ति का प्रयोग किया जाना चाहिए ।

वर्तमान मामले में विचारार्थ मुद्दा यह है कि क्या घरेलू हिंसा से महिला संरक्षण अधिनियम, 2005 के उपबंधों के अधीन फाइल अर्जी/परिवाद पर विचार करने वाले न्यायालय को मूल रूप से फाइल की गई अर्जी/परिवाद में संशोधन अनुज्ञात करने की शक्ति है । यह मुद्दा प्रत्यर्थी सं. 1/पत्नी द्वारा फाइल अर्जी/परिवाद में उठाया गया है । इसमें प्रत्यर्थी सं. 1, जो अपीलार्थी की पत्नी है, ने अपीलार्थी और उसके कुटुम्ब के सदस्यों के विरुद्ध घरेलू हिंसा अधिनियम की धारा 9ख और 37(2)(ग) के अधीन द्वितीय अपर न्यायिक प्रथम वर्ग मजिस्ट्रेट, पश्चिमी गोदावरी, ईलुरू के न्यायालय के समक्ष फाइल किया जो घरेलू हिंसा मामला सं. 20/2008 के रूप में दर्ज है । यहां यह उल्लेखनीय है कि उक्त अर्जी को न्यायिक प्रथम वर्ग मजिस्ट्रेट (चल न्यायालय), ईलुरू के न्यायालय के समक्ष अंतरित किया गया और पुनः घरेलू हिंसा मामला सं. 29/2012 के रूप में संख्यांकित किया गया । इस मामले में प्रत्यर्थी सं. 1 ने यह अभिकथित करते हुए कि अपीलार्थी और उसके कुटुम्ब के सदस्य उसे शारीरिक और मानसिक रूप से तंग किया करते थे और दहेज की भी मांग किया करते थे, अन्य बातों के साथ-साथ अपीलार्थी और उसके कुटुम्ब के सदस्यों के विरुद्ध विभिन्न अभिकथन किए । आगे यह अभिकथित है कि उसे मार्च, 2015 में उसके ससुराल से निकाल दिया गया और आरंभ में वह ईलुरू में बच्चों के साथ-साथ अपने भाई के मकान में पनाह ली । इसके पश्चात् ईलुरू आकर प्रत्यर्थी सं. 1 से अपीलार्थी द्वारा क्षमा किए जाने के पश्चात् वे

ईलुरू के अशोक नगर स्थित गादम रामकृष्ण के मकान में साथ-साथ अपने कुटुम्ब को रखा लेकिन परिस्थितियों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ । उक्त अर्जी में (क) प्रत्यर्थियों के हाथों परिवादी के प्राण और अंग की सुरक्षा उपलब्ध कराने ; (ख) परिवादी और उसके प्रत्येक बच्चे को उसके भरण-पोषण, दवा आदि और उसके बच्चों की शिक्षा और भरण-पोषण के लिए 5,000/- रुपए की माहवार भरण-पोषण मंजूर करने ; (ग) ऐसे अन्य अनुतोष या अनुतोषों को मंजूर करने, यदि माननीय न्यायालय मामले के परिस्थितियों में उचित और ठीक समझता है, अनुरोध किए गए । अपीलार्थी द्वारा इस आदेश की चुनौती ईलुरू के जिला और सेशन न्यायाधीश के समक्ष अपील फाइल कर दी गई । जिला और सेशन न्यायाधीश, ईलुरू ने यह अभिनिर्धारित करते हुए विचारण न्यायालय के आदेश को अपास्त किया कि परिवाद के संशोधन का कोई विनिर्दिष्ट उपबंध नहीं है और अपीलार्थी की अपील मंजूर की । उस आदेश से व्यथित होकर प्रत्यर्थी सं. 1 ने उच्च न्यायालय में पुनरीक्षण अर्जी फाइल की जिसे जिला और सेशन न्यायाधीश के आदेश को अपास्त करते हुए तथा विचारण न्यायालय के आदेश को प्रत्यावर्तित करते हुए परिवाद/अर्जी का संशोधन करने के लिए प्रत्यर्थी सं. 1 को अनुज्ञात करते हुए आक्षेपित निर्णय द्वारा उच्च न्यायालय द्वारा मंजूर किया गया । उच्च न्यायालय के आदेश की विधिमान्यता को प्रश्नगत करते हुए अपीलार्थी द्वारा फाइल की गई इस अपील में अपीलार्थी की यह दलील है कि घरेलू हिंसा अधिनियम में ऐसा कोई उपबंध नहीं है जो विचारण न्यायालय को ऐसा संशोधन अनुज्ञात करने की अनुज्ञा देता हो । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – अनुतोष का आदेश अभिप्राप्त करने की प्रक्रिया का उपबंध घरेलू हिंसा अधिनियम के अध्याय 4 में है जो धारा 12 से 29 को समाहित करता है । धारा 12 के अधीन कोई व्यथित व्यक्ति या संरक्षण अधिकारी या व्यथित व्यक्ति की ओर से अन्य व्यक्ति मजिस्ट्रेट को आवेदन प्रस्तुत कर सकता है । धारा 18 के अधीन मजिस्ट्रेट संरक्षण आदेश पारित करने के लिए सशक्त है । घरेलू हिंसा अधिनियम की धारा 19 मजिस्ट्रेट को निवास आदेश पारित करने को प्राधिकृत करती है जिसमें प्रत्यर्थी को व्यथित व्यक्ति के कब्जे को बेकब्जा करना या कब्जे में विघ्न डालने से अवरुद्ध करना या प्रत्यर्थी को साझी गृहस्थी से स्वयं को हटाना या प्रत्यर्थी या उसके किसी नातेदारों को साझी गृहस्थी के किसी भाग में जिसमें व्यथित व्यक्ति निवास करता है प्रवेश करने से अवरुद्ध करना शामिल है । धनीय

अनुतोष जो घरेलू हिंसा अधिनियम की धारा 20 के अधीन मजिस्ट्रेट द्वारा मंजूर किया जा सकता है, में उपार्जनों की हानि, चिकित्सीय व्यय, व्यथित व्यक्ति के नियंत्रण में से किसी संपत्ति के नाश, नुकसानी या हटाए जाने के कारण हुई हानि और व्यथित व्यक्ति और उसकी संतान यदि कोई है के लिए भरण-पोषण की बाबत अनुतोष देना सम्मिलित हैं । अभिरक्षा का विनिश्चय मजिस्ट्रेट द्वारा किया जा सकता है जो घरेलू हिंसा अधिनियम की धारा 21 के अधीन अनुदत्त है । धारा 22 मजिस्ट्रेट को अपीलार्थी द्वारा की गई घरेलू हिंसा द्वारा कारित ऐसी क्षतियों के लिए जिसके अंतर्गत मानसिक यातना और भावनात्मक कष्ट सम्मिलित है, प्रतिकर और नुकसानी का संदाय करने के लिए सशक्त करती है । पूर्वोक्त सभी अनुतोष जो मजिस्ट्रेट द्वारा अनुदत्त किए जा सकते हैं, सिविल प्रकृति के हैं । धारा 23 मजिस्ट्रेट को अंतरिम और एकपक्षीय आदेश देने की शक्ति प्रदान करती है । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ऐसे विभिन्न प्रकार के अनुतोष जो व्यथित व्यक्ति द्वारा अभिप्राप्त किए जा सकते हैं, सिविल प्रकृति के हैं । वहीं, जब मजिस्ट्रेट द्वारा पारित ऐसे आदेशों का भंग होता है तो धारा 31 ऐसे भंग को दंडनीय अपराध मानती है । इस पृष्ठभूमि में यह पाया गया कि यह नहीं कहा जा सकता है कि घरेलू हिंसा अधिनियम के अधीन आवेदन पर विचार करने वाले न्यायालय को उक्त आवेदन के संशोधन को अनुज्ञात करने की कोई शक्ति और/या अधिकारिता नहीं है । यदि संशोधन पश्चात्वर्ती घटनाओं (वर्तमान मामले में कीमतों की वृद्धि) के कारण या मुकदमों की बहुलता से बचने के लिए आवश्यक हो जाता है तो न्यायालय को ऐसे संशोधन करने की अनुज्ञा देने की शक्ति होगी । यह कहा गया है कि प्रक्रिया न्याय की दासी है और इसे विफल करने के बजाय यह न्याय करने में सहायता करती है । यह किसी का भी पक्षकथन नहीं है कि प्रत्यर्थी सं. 1 ऐसे अनुतोष जिसकी ईप्सा उसने संशोधन के माध्यम से लंबित आवेदन में की है, का दावा करते हुए दूसरा आवेदन फाइल करने की हकदार नहीं थी । यदि ऐसा है तो न्यायालय कोई कारण नहीं पाता कि क्यों न आवेदक को पृथक् आवेदन फाइल करने के बजाय लंबित आवेदन में इस संशोधन को सम्मिलित करने की अनुज्ञा दी जाए । ऐसा नहीं है कि ऐसे दंड न्यायालयों में जो संहिता द्वारा शासित है, परिवादों में संशोधन करने का पूर्ण रोक/वर्जन है, यद्यपि, निःसंदेह संशोधन अनुज्ञात करने की ऐसी शक्ति का प्रयोग सीमित परिस्थितियों में कभी-कभार और सतर्कता से किया जाना चाहिए । न्यायालय इस बात पर बल देता है कि संहिता द्वारा शासित आपराधिक मामलों में भी, न्यायालय शक्तिहीन नहीं है और

समुचित मामलों में संशोधन अनुज्ञात कर सकता है । एक ऐसी परिस्थिति, जहां ऐसा संशोधन अनुज्ञात किया जाता है, कार्यवाहियों की बहुलता से बचने के लिए है । अतः, अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल का यह तर्क कि संशोधन करने की शक्ति नहीं है, को अस्वीकार किया जाना चाहिए । इस संदर्भ में, घरेलू हिंसा अधिनियम की धारा 28 की उपधारा (2) का उपबंध महत्वपूर्ण हो जाता है । धारा 28 की उपधारा (1) में यथा विनिर्दिष्ट घरेलू हिंसा अधिनियम के कतिपय धाराओं के अधीन कार्यवाहियां संहिता द्वारा शासित की जानी है, किंतु विधान-मंडल ने वहीं उपधारा (2) जैसे उपबंध भी सम्मिलित किए हैं जो न्यायालय को घरेलू हिंसा अधिनियम की धारा 12 या धारा 23(2) के अधीन आवेदनों के निपटान के लिए अपनी निजी प्रक्रिया अधिकथित करने की शक्ति प्रदान करती है । इस उपबंध को विधान-मंडल द्वारा मस्तिष्क में एक निश्चित प्रयोजन को ध्यान में रखते हुए सम्मिलित किया गया है । धारा 12 के अधीन, कोई आवेदन उक्त अधिनियम के अधीन एक या अधिक अनुतोषों का दावा करते हुए व्यथित व्यक्ति या संरक्षण अधिकारी या व्यथित व्यक्ति की ओर से किसी अन्य व्यक्ति द्वारा मजिस्ट्रेट को किया जा सकता है । (पैरा 14)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[2015]	(2015) 9 एस. सी. सी. 609 : **एस. आर. सुकुमार** बनाम **एस. सुनाद रघुराम** ;	17
[1978]	(1978) 4 एस. सी. सी. 70 : **रमेश चन्दर कौशल** बनाम **वेना कौशल** ।	16

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2016 की दांडिक अपील सं. 516.

2015 के दांडिक अपील सं. 2897 में तेलंगाना राज्य और आंध्र प्रदेश राज्य के हैदराबाद उच्च न्यायालय द्वारा पारित तारीख 26 नवंबर, 2015 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थी की ओर से — सर्वश्री शैल कुमार द्विवेदी, गुन्नाम वेंकटेश्वर राव और सिद्धार्थ कृष्णा द्विवेदी

प्रत्यर्थी की ओर से — सर्वश्री गुन्तुर प्रभाकर, जी. वी. आर. चौधरी, के. शिवराज चौधरी और ए. चन्द्रशेखर

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति ए. के. सीकरी ने दिया ।

न्या. सीकरी – इजाजत दी गई ।

2. इस प्रक्रम पर दोनों पक्षकारों के विद्वान् काउंसेलों को अंतिम रूप से सुना गया ।

3. वर्तमान मामले में विचारार्थ मुद्दा यह है कि क्या घरेलू हिंसा से महिला संरक्षण अधिनियम, 2005 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "घरेलू हिंसा अधिनियम" कहा गया है) के उपबंधों के अधीन फाइल अर्जी/परिवाद पर विचार करने वाले न्यायालय को मूल रूप से फाइल की गई अर्जी/परिवाद में संशोधन अनुज्ञात करने की शक्ति है । यह मुद्दा प्रत्यर्थी सं. 1/पत्नी द्वारा फाइल अर्जी/परिवाद में उठाया गया है । इसमें प्रत्यर्थी सं. 1, जो अपीलार्थी की पत्नी है, ने अपीलार्थी और उसके कुटुम्ब के सदस्यों के विरुद्ध घरेलू हिंसा अधिनियम की धारा 9ख और 37(2)(ग) के अधीन द्वितीय अपर न्यायिक प्रथम वर्ग मजिस्ट्रेट, पश्चिमी गोदावरी, ईलुरू के न्यायालय के समक्ष फाइल किया जो घरेलू हिंसा मामला सं. 20/2008 के रूप में दर्ज है । यहां यह उल्लेखनीय है कि उक्त अर्जी को न्यायिक प्रथम वर्ग मजिस्ट्रेट (चल न्यायालय), ईलुरू के न्यायालय के समक्ष अंतरित किया गया और पुनः घरेलू हिंसा मामला सं. 29/2012 के रूप में संख्यांकित किया गया । इस मामले में प्रत्यर्थी सं. 1 ने यह अभिकथित करते हुए कि अपीलार्थी और उसके कुटुम्ब के सदस्य उसे शारीरिक और मानसिक रूप से तंग किया करते थे और दहेज की भी मांग किया करते थे, अन्य बातों के साथ-साथ अपीलार्थी और उसके कुटुम्ब के सदस्यों के विरुद्ध विभिन्न अभिकथन किए । आगे यह अभिकथित है कि उसे मार्च, 2015 में उसके ससुराल से निकाल दिया गया और आरंभ में वह ईलुरू में बच्चों के साथ-साथ अपने भाई के मकान में पनाह ली । इसके पश्चात् ईलुरू आकर प्रत्यर्थी सं. 1 से अपीलार्थी द्वारा क्षमा किए जाने के पश्चात् वे ईलुरू के अशोक नगर स्थित गादम रामकृष्ण के मकान में साथ-साथ अपने कुटुम्ब को रखा लेकिन परिस्थितियों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ । उक्त अर्जी में निम्नलिखित अनुरोध किए गए :–

"(क) प्रत्यर्थियों के हाथों परिवादी के प्राण और अंग की सुरक्षा उपलब्ध कराने ;

(ख) परिवादी और उसके प्रत्येक बच्चे को उसके भरण-पोषण, दवा आदि और उसके बच्चों की शिक्षा और भरण-पोषण के लिए

5,000/- रुपए की माहवार भरण-पोषण मंजूर करने ;

(ग) ऐसे अन्य अनुतोष या अनुतोषों को मंजूर करने, यदि माननीय न्यायालय मामले के परिस्थितियों में उचित और ठीक समझता है ।"

4. प्रत्यर्थी सं. 1 ने ईलुरू के पश्चिमी गोदावरी के वरिष्ठ सिविल न्यायाधीश के न्यायालय के समक्ष विवाह-विच्छेद अर्जी भी फाइल की है जिसमें उसने अंतरिम भरण-पोषण के लिए आवेदन किया है । इसके पश्चात् उसने ईलुरू के कुटुम्ब न्यायाधीश के न्यायालय के समक्ष हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 23(2) और 24 के अधीन भरण-पोषण अर्जी भी फाइल की ।

5. घरेलू हिंसा अर्जी में नोटिस प्राप्त होने पर, अपीलार्थी के कुटुम्ब के सदस्यों ने उक्त घरेलू हिंसा अर्जी में कार्यवाहियों को अभिखंडित करने के लिए तेलंगाना और आंध्र प्रदेश राज्यों के हैदराबाद स्थित उच्च न्यायालय में दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन अर्जी फाइल की । उच्च न्यायालय द्वारा तारीख 17 अप्रैल, 2009 के आदेश द्वारा इस आधार पर कि उनके विरुद्ध कोई विनिर्दिष्ट अभिकथन नहीं है, अपीलार्थी के कुटुम्ब के सदस्यों के विरुद्ध घरेलू हिंसा कार्यवाहियों को अभिखंडित करते हुए इस अर्जी को मंजूर किया । घरेलू हिंसा अर्जी का अंतरण ईलुरू के न्यायिक प्रथम वर्ग मजिस्ट्रेट के न्यायालय को अंतरित होने के पश्चात्, प्रत्यर्थी सं. 1 ने अर्जी के संशोधन की ईप्सा करते हुए आवेदन फाइल किया । उक्त संशोधन अर्जी के द्वारा प्रत्यर्थी सं. 1 कुछ और अनुरोध सम्मिलित करते हुए अनुरोध खंड में संशोधन करना चाहती थी, जैसाकि इस बाबत निम्नलिखित संशोधन से स्पष्ट है जिसकी ईप्सा प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा की गई थी :–

"(क) प्रत्यर्थी के हाथों परिवादी के प्राण और अंग का संरक्षण प्रदान करने ;

(ख) परिवादी को 15,000/- रुपए और उसके दो बच्चों को 5,000/- रुपए के बजाय उनके भरण-पोषण के लिए माहवार भरण-पोषण मंजूर करने ;

(ग) परिवादी और उसके माता-पिता द्वारा दी गई तीन लाख रुपए का स्त्री धन और 15 स्वर्ण मुद्राओं का स्वर्ण आभूषण और अन्य साड़ी सामान और लगभग दो स्वर्ण मुद्रा कीमत की कलाई घड़ी और सात स्वर्ण मुद्रा की सोने की चैन प्रत्यर्थी को दी गईं विवाह भेंट

वापस करने के लिए प्रत्यर्थी को निदेश देने ;

(घ) प्रत्यर्थी को घरेलू हिंसा के कार्य सहित शारीरिक और मानसिक प्रताड़ना के लिए परिवादी को 15 लाख रुपए का प्रतिकर देने का निदेश देने ;

(ङ) प्रत्यर्थी को इसके साथ उपाबंध सूची के अनुसार 10 लाख रुपए से अधिक की कीमत के सामान जैसे साड़ी सामान और अन्य माल को वापस करने का निदेश देने ;

(च) प्रत्यर्थी को परिवादी के मुकदमेबाजी की पैरवी करने के लिए परिवादी द्वारा अब तक खर्च किए गए 25 हजार रुपए की रकम तक मुकदमेबाजी का खर्च देने के लिए निदेश देने ;

(छ) दस हजार रुपए के माहवार किराए वाले भाग को लेकर पृथक् निवास प्रदान करने के लिए प्रत्यर्थी को निदेश देने ;

(ज) प्रत्यर्थी को मूल शिक्षा प्रमाणपत्र, चिकित्सा प्रमाणपत्र, निक्षेप प्रमाणपत्र और प्राप्तियां आदि को वापस करने का निदेश देने ।

अनुरोध भाग पैरा में मूल अनुरोध पैरा को हटाकर निम्नलिखित संशोधन करें ।

(ख) परिवादी और उसके प्रत्येक बच्चे को उनके भरण-पोषण, चिकित्सा आदि और उनके बच्चे की शिक्षा और भरण-पोषण के लिए 5,000/-रुपए का माहवार भरण-पोषण देने ।"

6. इसमें अपीलार्थी ने उक्त आवेदन का विरोध किया । तथापि, दोनों पक्षकारों की सुनवाई करने के पश्चात् विद्वान् विचारण न्यायालय ने संशोधन मंजूर किया । अपीलार्थी ने यह आक्षेप किया कि दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "संहिता" कहा गया है) ऐसे परिवाद/अर्जी का संशोधन अनुज्ञात करने की न्यायालय को कोई शक्ति नहीं है । इस दलील को विचारण न्यायालय द्वारा इस आधार पर खारिज कर दिया गया कि घरेलू हिंसा अधिनियम की धारा 26, जो सिविल न्यायालय, कुटुम्ब न्यायालय या दंड न्यायालय को ऐसा कोई अनुतोष जो परिवादी को उक्त अधिनियम की धारा 18, 19, 20, 21 और 22 के अधीन परिवादी को उपलब्ध है, अनुदत्त करने के लिए हकदार बनाती है । उक्त धारा यह संकेत देती है कि सिविल प्रक्रिया संहिता के उपबंध हू-ब-हू लागू होंगे अतः, न्यायालय को परिवाद/अर्जी का संशोधन अनुज्ञात करने

की शक्ति थी, यही नहीं, जब संविवाद के वास्तविक विषय का अवधारण करने के प्रयोजन के लिए और मुकदमेबाजी की बहुलता को रोकने के लिए यह आवश्यक है ।

7. अपीलार्थी द्वारा इस आदेश की चुनौती ईलुरू के जिला और सेशन न्यायाधीश के समक्ष अपील फाइल कर दी गई । जिला और सेशन न्यायाधीश, ईलुरू ने यह अभिनिर्धारित करते हुए विचारण न्यायालय के आदेश को अपास्त किया कि परिवाद के संशोधन का कोई विनिर्दिष्ट उपबंध नहीं है और अपीलार्थी की अपील मंजूर की । उस आदेश से व्यथित होकर प्रत्यर्थी सं. 1 ने उच्च न्यायालय में पुनरीक्षण अर्जी फाइल की जिसे जिला और सेशन न्यायाधीश के आदेश को अपास्त करते हुए तथा विचारण न्यायालय के आदेश को प्रत्यावर्तित करते हुए परिवाद/अर्जी का संशोधन करने के लिए प्रत्यर्थी सं. 1 को अनुज्ञात करते हुए आक्षेपित निर्णय द्वारा उच्च न्यायालय द्वारा मंजूर किया गया ।

8. उपरोक्तानुसार, उच्च न्यायालय के आदेश की विधिमान्यता को प्रश्नगत करते हुए अपीलार्थी द्वारा फाइल की गई इस अपील में अपीलार्थी की यह दलील है कि घरेलू हिंसा अधिनियम में ऐसा कोई उपबंध नहीं है जो विचारण न्यायालय को ऐसा संशोधन अनुज्ञात करने की अनुज्ञा देता हो । इस मुद्दे पर हमने पक्षकारों के विद्वान् काउंसेलों को विस्तार से सुना ।

9. अपीलार्थी की ओर से उपस्थित विद्वान् काउंसेल श्री जी. वी. राव की यह दलील थी कि घरेलू हिंसा अधिनियम के अधीन कार्यवाहियां दंड प्रक्रिया संहिता के उपबंधों द्वारा शासित हैं जो घरेलू हिंसा अधिनियम की धारा 28 के अधीन विहित है और संहिता में संशोधन करने का ऐसा कोई उपबंध नहीं है । उन्होंने आगे यह दलील दी कि निचले न्यायालय द्वारा सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 6, नियम 17 के अधीन संशोधन के आवेदन को मानना गलत था जिसका घरेलू हिंसा अधिनियम के अधीन कार्यवाहियों का कोई उपयोग नहीं है ।

10. पूर्वोक्त मुद्दे को विनिश्चित करने के लिए हमें घरेलू हिंसा अधिनियम के कुछ महत्वपूर्ण उपबंधों और उक्त अधिनियम के अधीन विरचित सुसंगत नियमों पर ध्यान देना चाहिए । हमने संहिता के संबद्ध उपबंधों का परिशीलन किया । हम घरेलू हिंसा अधिनियम की धारा 28 से अपनी चर्चा आरंभ करते हैं जो इस प्रकार है :–

"28. प्रक्रिया –

(1) इस अधिनियम में अन्यथा उपबंधित के सिवाय धारा 12, धारा 18, धारा 19, धारा 20, धारा 21, धारा 22 और धारा 23 के अधीन सभी कार्यवाहियां और धारा 31 के अधीन अपराध दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) के उपबंधों द्वारा शासित होंगे ।

(2) उपधारा (1) की कोई बात, धारा 12 के अधीन या धारा 23 की उपधारा (2) के अधीन किसी आवेदन के निपटारे के लिए अपनी स्वयं की प्रक्रिया अधिकथित करने से न्यायालय को निवारित नहीं करेगी ।"

11. निःसंदेह इस उपबंध में यह उपबंध है कि धारा 12, 19 से 23 और धारा 31 के अधीन अपराधों की सभी कार्यवाहियां संहिता के उपबंधों द्वारा शासित होंगे । उपरोक्त उल्लिखित, यह अर्जी घरेलू हिंसा अधिनियम की धारा 9ख और 37(2)(ग) के अधीन फाइल की गई है । धारा 9 में संरक्षण अधिकारी के कर्तव्य और कृत्य का उल्लेख है और इसकी उपधारा (1) का खंड (ख) इस प्रकार है :–

"(ख) किसी घरेलू हिंसा की शिकायत की प्राप्ति पर, किसी मजिस्ट्रेट को, ऐसे प्ररूप और रीति में जो विहित की जाए, घरेलू हिंसा की रिपोर्ट करना और उस पुलिस थाने के, जिसकी अधिकारिता की स्थानीय सीमा के भीतर, घरेलू हिंसा का होना अभिकथित किया गया है, भारसाधक पुलिस अधिकारी को और उस क्षेत्र के सेवा प्रदाताओं को, उस रिपोर्ट की प्रतियां अग्रेषित करना ।"

12. हमने पहले ही अनुरोधों का उल्लेख किया है जो मूल अर्जी में प्रत्यर्थी 1 द्वारा किए गए थे और उसका अनुरोध "क" धारा 9 से संबंधित है । तथापि, अनुरोध "ख" में, प्रत्यर्थी सं. 1 ने स्वयं और अपने बच्चों के माहवार भरण-पोषण मंजूर किए जाने के अनुतोष की ईप्सा की है । यह अनुरोध घरेलू हिंसा अधिनियम की धारा 20 की परिधि के भीतर आता है । वस्तुतः, अनुरोध "क" धारा 18 के अधीन आता है जो मजिस्ट्रेट को ऐसा संरक्षण देने की शक्ति प्रदान करती है जिसका दावा प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा किया गया है । अतः अर्जी निश्चय ही घरेलू हिंसा अधिनियम की धारा 18 और 20 के अधीन है, यद्यपि शीर्ष में इन उपबंधों का उल्लेख नहीं है । तथापि, इससे कोई अंतर नहीं पड़ता है, अतः इस आधार पर अपीलार्थी

द्वारा कोई मुद्दा नहीं उठाया गया है । घरेलू हिंसा अधिनियम की धारा 18 और 20 के अधीन फाइल की गई अर्जी की बाबत, कार्यवाहियां संहिता द्वारा शासित होनी चाहिएं जैसाकि घरेलू हिंसा अधिनियम की धारा 28 के अधीन उपबंधित है । वहीं, यह विवादित नहीं किया जा सकता है कि ये कार्यवाहियां मुख्यतः सिविल प्रकृति की हैं ।

13. वस्तुतः, घरेलू हिंसा अधिनियम अधिनियमित करने का प्रयोजन ऐसे उपचार का उपबंध करना था जो परिवादी अर्थात् व्यथित व्यक्ति के सिविल अधिकारों का समामेलन है । आशय किसी प्रकार के हिंसा विशेषकर जो कुटुम्ब के भीतर सिविल विधि के रूप में होती है, इस प्रवृत्ति को समग्रतः से संबंधित नहीं होती है, के प्रति महिला का संरक्षण करना था । यह भारतीय दंड संहिता की धारा 498क के अधीन अपराध के रूप में समझा जाता है । विधि को अधिनियमित करने का प्रयोजन घरेलू हिंसा की शिकार होने से महिला के संरक्षण के लिए और समाज में घरेलू हिंसा की घटना के निवारण के लिए सिविल विधि में उपचार करना था । अधिनियम की स्कीम में यह उपबंध है कि पहली नजर में व्यथित व्यक्ति द्वारा किए गए परिवाद पर मजिस्ट्रेट द्वारा पारित आदेश सिविल प्रकृति का होगा और यदि उक्त आदेश का अतिक्रमण किया जाता है तो यह अपराधिता का स्वरूप ग्रहण कर लेगा । इसको प्रदर्शित करने के लिए, हम प्रस्तावना तथा उक्त अधिनियम के उद्देश्यों और कारणों के कथन के सुसंगत भाग को इस प्रकार दोहराते हैं :–

"प्रस्तावना –

1994 का वियना समझौता और बीजिंग घोषणा तथा प्लेटफार्म फार एक्शन (1995) में यह स्वीकार किया कि निःसंदेह घरेलू हिंसा एक मानव अधिकार मुद्दा है । महिलाओं के विरुद्ध सभी प्रकार के विभेद को दूर करने के लिए संयुक्त राष्ट्र कन्वेंशन समिति ने अपनी सामान्य सिफारिशों में यह सिफारिश की कि राज्य पक्षकारों को किसी प्रकार की हिंसा के विरुद्ध विशेषकर जो परिवार के भीतर होते हैं, के संरक्षण के लिए कार्य करना चाहिए । भारत में घरेलू हिंसा की प्रवृत्ति काफी व्यापक है किंतु सार्वजनिक परिदृश्य में अदृश्य बनी रहती है । सिविल विधि ने अपनी समग्रता में इस प्रवृत्ति पर ध्यान नहीं दिया है । इस समय जहां कोई महिला अपने पति या अपने नातेदारों द्वारा क्रूरता की शिकार है, यह भारतीय दंड संहिता की धारा 498क

के अधीन एक अपराध है । समाज में घरेलू हिंसा की शिकार होने से महिला के संरक्षण के लिए और घरेलू हिंसा की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए सिविल विधि में उपचार उपलब्ध कराने के लिए घरेलू हिंसा से महिला संरक्षण विधेयक संसद् में पुरःस्थापित किया गया ।

उद्देश्यों और कारणों का कथन ।

निःसंदेह घरेलू हिंसा एक मानव अधिकार का मुद्दा है और विकास में गंभीर अवरोध है । 1994 का वियना समझौता और बीजिंग घोषणा तथा प्लेटफार्म फार एक्शन (1995) ने इसे स्वीकार किया । महिलाओं के विरुद्ध सभी प्रकार के विभेद को दूर करने पर संयुक्त राष्ट्र कन्वेंशन समिति (सी. ई. डब्ल्यू. ए. डब्ल्यू.) ने अपनी साधारण सिफारिश संख्या XII (1989) ने यह सिफारिश की कि राज्य पक्षकारों को विशेषकर परिवार के भीतर होने वाले किसी प्रकार के हिंसा के विरुद्ध महिलाओं के संरक्षण का कार्य करना चाहिए ।

* * * * *

3. अतः सिविल विधि के अधीन उपचार उपलब्ध कराने के लिए संविधान के अनुच्छेद 14, 15 और 21 के अधीन गारंटीकृत अधिकारों को ध्यान में रखते हुए ऐसी विधि अधिनियमित करना प्रस्तावित है जिसका आशय घरेलू हिंसा की शिकार होने वाली महिलाओं को संरक्षित करना और समाज में घरेलू हिंसा की पुनरावृत्ति को रोकना है ।

4. अन्य बातों के साथ-साथ, विधेयक निम्नलिखित का उपबंध करने के लिए है –

* * * * *

(ii) यह 'घरेलू हिंसा' पद को परिभाषित करता है जिसमें वास्तविक दुरुपयोग या धमकी या ऐसा दुरुपयोग जो शारीरिक, लैंगिक, मौखिक, भावनात्मक या आर्थिक सम्मिलित है । महिला या उसके नातेदारों द्वारा विधिविरुद्ध दहेज मांग की माध्यम से प्रपीड़न भी इस परिभाषा के अंतर्गत आएगा ।

(iii) यह महिला के लिए आवास प्राप्त करने के अधिकारों का उपबंध करता है । यह महिला को अपने ससुराल या साझी गृहस्थी में निवास करने के अधिकार का भी उपबंध करता है, चाहे ऐसे गृह या गृहस्थी में उसका कोई हक या अधिकार है या

नहीं । यह अधिकार ऐसे निवास आदेश द्वारा सुरक्षित किया जाता है जो मजिस्ट्रेट द्वारा पारित किया जाता है ।

(iv) यह मजिस्ट्रेट को व्यथित व्यक्ति के पक्ष में प्रत्यर्थी को घरेलू हिंसा का कार्य करने या कोई अन्य विनिर्दिष्ट कार्य करने की सहायता करने से, व्यथित व्यक्ति द्वारा बार-बार कार्यस्थल या किसी अन्य स्थान में प्रवेश करने, उसके साथ दूरभाष करने का प्रयास करने, दोनों पक्षकारों द्वारा प्रयोग में लाई जाने वाली किन्हीं आस्तियों से अलग करने और व्यथित व्यक्ति, उसके नातेदारों या अन्य को जो घरेलू हिंसा से उसकी सहायता करते हैं, को निवारित करने के लिए व्यथित व्यक्ति के पक्ष में संरक्षण आदेश पारित करने की शक्ति प्रदान करता है ।"

14. अनुतोष का आदेश अभिप्राप्त करने की प्रक्रिया का उपबंध घरेलू हिंसा अधिनियम के अध्याय 4 में है जो धारा 12 से 29 को समाहित करता है । धारा 12 के अधीन कोई व्यथित व्यक्ति या संरक्षण अधिकारी या व्यथित व्यक्ति की ओर से अन्य व्यक्ति मजिस्ट्रेट को आवेदन प्रस्तुत कर सकता है । धारा 18 के अधीन मजिस्ट्रेट संरक्षण आदेश पारित करने के लिए सशक्त है । घरेलू हिंसा अधिनियम की धारा 19 मजिस्ट्रेट को निवास आदेश पारित करने को प्राधिकृत करती है जिसमें प्रत्यर्थी को व्यथित व्यक्ति के कब्जे को बेकब्जा करना या कब्जे में विघ्न डालने से अवरुद्ध करना या प्रत्यर्थी को साझी गृहस्थी से स्वयं को हटाना या प्रत्यर्थी या उसके किसी नातेदारों को साझी गृहस्थी के किसी भाग में जिसमें व्यथित व्यक्ति निवास करता है प्रवेश करने से अवरुद्ध करना शामिल है । धनीय अनुतोष जो घरेलू हिंसा अधिनियम की धारा 20 के अधीन मजिस्ट्रेट द्वारा मंजूर किया जा सकता है, में उपार्जनों की हानि, चिकित्सीय व्यय, व्यथित व्यक्ति के नियंत्रण में से किसी संपत्ति के नाश, नुकसानी या हटाए जाने के कारण हुई हानि और व्यथित व्यक्ति और उसकी संतान यदि कोई है के लिए भरण-पोषण की बाबत अनुतोष देना सम्मिलित है । अभिरक्षा का विनिश्चय मजिस्ट्रेट द्वारा किया जा सकता है जो घरेलू हिंसा अधिनियम की धारा 21 के अधीन अनुदत्त है । धारा 22 मजिस्ट्रेट को अपीलार्थी द्वारा की गई घरेलू हिंसा द्वारा कारित ऐसी क्षतियों के लिए जिसके अंतर्गत मानसिक यातना और भावनात्मक कष्ट सम्मिलित है, प्रतिकर और नुकसानी का संदाय करने के लिए सशक्त करती है । पूर्वोक्त सभी अनुतोष जो मजिस्ट्रेट द्वारा अनुदत्त किए जा सकते हैं, सिविल प्रकृति के हैं । धारा

23 मजिस्ट्रेट को अंतरिम और एकपक्षीय आदेश देने की शक्ति प्रदान करती है । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ऐसे विभिन्न प्रकार के अनुतोष जो व्यथित व्यक्ति द्वारा अभिप्राप्त किए जा सकते हैं, सिविल प्रकृति के हैं । वहीं, जब मजिस्ट्रेट द्वारा पारित ऐसे आदेशों का भंग होता है तो धारा 31 ऐसे भंग को दंडनीय अपराध मानती है ।

15. पूर्वोक्त परिदृश्य में, मात्र इस कारण कि घरेलू हिंसा अधिनियम की धारा 28 में यह उपबंध है कि धारा 18 और 20 सहित कुछ उपबंधों के अधीन कार्यवाहियां आवश्यकतः सिविल प्रकृति की हैं । हम संहिता की धारा 125 के अधीन फाइल की गई कार्यवाहियों की प्रकृति से कुछ सहायता ले सकते हैं । उक्त उपबंध के अधीन भी महिला और बच्चे भरण-पोषण का दावा कर सकते हैं । वहीं इन कार्यवाहियों को निश्चय ही सिविल प्रकृति का माना जाता है ।

16. **रमेश चन्दर कौशल** बनाम **वेना कौशल**[1] वाले मामले में न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर ने संहिता की धारा 125 के निर्वचन पर विचार करते हुए इस प्रकार मत व्यक्त किया :–

> "9. यह उपबंध सामाजिक न्याय का उपाय है और विशेषकर महिलाओं और बालकों को संरक्षित करने के लिए अधिनियमित किया गया है तथा अनुच्छेद 39 द्वारा पुनः प्रवृत्त अनुच्छेद 15(3) की संवैधानिक परिधि के भीतर आता है । हमें कोई संदेह नहीं है कि न्यायालयों द्वारा अर्थान्वयन के लिए कानूनों की धाराएं अश्मीभूत मुद्रण नहीं है किंतु सामाजिक कृत्यों को पूरा करने के लिए गुंजाइश शब्द हैं । महिलाओं और बालकों जैसे कमजोर वर्गों के लिए संवैधानिक परानुभूति की विचारमग्न उपस्थिति को ध्यान रखते हुए निर्वचन किया जाना चाहिए यदि उसे सामाजिक कर्तव्यों का पालन करना है । महिलाओं और बालकों जैसे कमजोर वर्गों के लिए संवैधानिक परानुभूति की विचारमग्न उपस्थिति का सामाजिक महत्व है । इस प्रकार विचार करते हुए, दो विकल्पों में से उस निर्वचन को चुना जाना संभव है जो परित्यक्त के हेतु को पूरा करता हो ।"

17. इस पृष्ठभूमि में हमने यह पाया, यह नहीं कहा जा सकता है कि घरेलू हिंसा अधिनियम के अधीन आवेदन पर विचार करने वाले न्यायालय

---

[1] (1978) 4 एस. सी. सी. 70.

को उक्त आवेदन के संशोधन को अनुज्ञात करने की कोई शक्ति और/या अधिकारिता नहीं है । यदि संशोधन पश्चात्वर्ती घटनाओं (वर्तमान मामले में कीमतों की वृद्धि) के कारण या मुकदमों की बहुलता से बचने के लिए आवश्यक हो जाता है तो न्यायालय को ऐसे संशोधन करने की अनुज्ञा देने की शक्ति होगी । यह कहा गया है कि प्रक्रिया न्याय की दासी है और इसे विफल करने के बजाय यह न्याय करने में सहायता करती है । यह किसी का भी पक्षकथन नहीं है कि प्रत्यर्थी सं. 1 ऐसे अनुतोष जिसकी ईप्सा उसने संशोधन के माध्यम से लंबित आवेदन में की है, का दावा करते हुए दूसरा आवेदन फाइल करने की हकदार नहीं थी । यदि ऐसा है तो हम कोई कारण नहीं पाते कि क्यों न आवेदक को पृथक् आवेदन फाइल करने के बजाय लंबित आवेदन में इस संशोधन को सम्मिलित करने की अनुज्ञा दी जाए । ऐसा नहीं है कि ऐसे दंड न्यायालयों में जो संहिता द्वारा शासित है, परिवादों में संशोधन करने का पूर्ण रोक/वर्जन है, यद्यपि, निःसंदेह संशोधन अनुज्ञात करने की ऐसी शक्ति का प्रयोग सीमित परिस्थितियों में कभी-कभार और सतर्कता से किया जाना चाहिए । इस विषय पर विनिर्णय **एस. आर. सुकुमार** बनाम **एस. सुनाद रघुराम**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के हाल ही के निर्णय में निम्नलिखित पैरा में वर्णित है :–

> "17. जहां तक संशोधन आवेदन के मंजूर करने से संबंधित दलील की गुणता का संबंध है, यह सही है कि संहिता के उपबंधों के अधीन फाइल किए गए परिवाद या अर्जी का संशोधन करने के लिए संहिता में कोई विनिर्दिष्ट उपबंध नहीं है किंतु न्यायालयों ने यह अभिनिर्धारित किया है कि सुधारयोग्य कमियों को ठीक करने के लिए ऐसे संशोधन की मांग करने वाली अर्जियों को परिवादों के बाबत भी मंजूर किया जा सकता है । उत्तर प्रदेश प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड **बनाम** मोदी डिस्टिलरी और अन्य [(1987) 3 एस. सी. सी. 684] वाले मामले में, जिसमें कंपनी का नाम परिवाद में गलत लिखा गया था अर्थात् मोदी इंडस्ट्रीज लिमिटेड के बजाय कंपनी का नाम मोदी डिस्टिलरी लिखा गया था और नाम के संशोधन की ईप्सा की गई थी । ऐसे तथ्यात्मक पृष्ठभूमि में, इस न्यायालय ने इस प्रकार अभिनिर्धारित किया –
>
> > "विद्वान् एकल न्यायाधीश ने अपना ध्यान परिवाद की तकनीकी कमी की ओर ही आकृष्ट किया और यह समझने की

---

[1] (2015) 9 एस. सी. सी. 609.

भूल की कि कमी मोदी डिस्टिलरी के अड़ियल बर्ताव के कारण हुई थी और इसके अतिरिक्त कमी ऐसी है जिसको मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट को परिवाद के पैरा 2 के प्रकथनों का औपचारिक संशोधन करने के लिए अपीलार्थी को निदेश देने की मांग करते हुए मामला वापस कर आसानी से दूर किया जा सकता है जिससे कि औद्योगिक इकाई के नियंत्रक कंपनी के रूप में परिवाद में संबद्ध अभियुक्त के रूप में दर्ज किया जा सके । कुल मिलाकर अपीलार्थी द्वारा मोदी डिस्टिलरी के स्थान पर औद्योगिक इकाई के स्वामित्व वाली कंपनी मोदी इंडस्ट्रीज लिमिटेड का नाम प्रतिस्थापित करने के संशोधन के इजाजत के लिए औपचारिक संशोधन आवेदन प्रस्तुत करना है । इसके अतिरिक्त विधिक खामी ऐसी प्रकृति की है जिसका आसानी से सुधार किया जा सकता है.....।

18. उत्तर प्रदेश प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड वाले मामले से यह ज्ञेय है कि आसानी से सुधारयोग्य विधिक खामियों को संशोधन के औपचारिक आवेदन के माध्यम से दूर किया जा सकता है । यदि ईप्सा किया गया संशोधन साधारण खामी जो औपचारिक संशोधन के माध्यम से दूर किए जाने योग्य है, से संबंधित है और ऐसे संशोधन को मंजूर कर दूसरे पक्ष के प्रति कोई पक्षपात कारित नहीं होता है तो इस तथ्य के होते हुए भी कि ऐसे संशोधन को ग्रहण करने के लिए संविदा में कोई समर्थकारी उपबंध नहीं है, न्यायालय ऐसा संशोधन किए जाने की अनुज्ञा दे सकता है । इसके प्रतिकूल यदि परिवाद में किए जाने के लिए ईप्सित संशोधन सुधारयोग्य खामी से संबंधित नहीं है या इसमें औपचारिक संशोधन द्वारा सुधार नहीं किया जा सकता है या यदि दूसरे पक्ष के प्रति पक्षपात होने की संभावना है तो न्यायालय परिवाद में ऐसे संशोधन की अनुज्ञा नहीं देगा ।

19. इस मामले में, पैरा 11(क) और 11(ख) को जोड़ते हुए संशोधन करने के लिए संशोधन आवेदन 24 मई, 2007 को फाइल किया गया था । यद्यपि, प्रस्तावित संशोधन औपचारिक संशोधन नहीं था किंतु महत्वपूर्ण था इसलिए मजिस्ट्रेट ने मुख्यतः इस आधार पर संशोधन आवेदन मंजूर किया कि संशोधन आवेदन के निपटान के पूर्व परिवाद का कोई संज्ञान नहीं लिया गया था । प्रथमतः, मजिस्ट्रेट को परिवाद की बातों पर न्यायिक विवेक का प्रयोग करना था और मामले

का संज्ञान नहीं लिया था । द्वितीयतः, चूंकि अभियुक्त को समन जारी करने का आदेश अभी दिया जाना था अतः अभियुक्त के प्रति कोई पक्षपात कारित नहीं हो रहा था । तृतीयतः, मानहानि का मामला होने के कारण संशोधन से परिवाद की मूल प्रकृति में कोई परिवर्तन नहीं हो रहा था । चतुर्थ, पश्चात्वर्ती घटना की प्रकृति होने के कारण 'खलनायकारू' कविता के प्रकाशन से प्रत्यर्थी के पक्ष में नया वाद हेतुक सृजित हुआ जिसका अभियोजन प्रत्यर्थी द्वारा पृथक् परिवाद फाइल कर किया जा सकता है अतः कार्यवाहियों की बहुलता से बचने के लिए, विचारण न्यायालय ने संशोधन आवेदन मंजूर किया । ऐसे कारक जो निचले न्यायालय के मस्तिष्क में उभर कर आए, पर विचार करते हुए, हमारे मतानुसार, उच्च न्यायालय ने संशोधन आवेदन को मंजूर करते हुए मजिस्ट्रेट द्वारा पारित आदेश में हस्तक्षेप करने से उचित ही इनकार किया और आक्षेपित आदेश किसी गंभीर खामी से ग्रस्त नहीं है जिसके लिए भारत के संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन अधिकारिता का प्रयोग करते हुए हस्तक्षेप करने की अपेक्षा हो ।"

18. हम इस बात पर बल दे रहे हैं कि संहिता द्वारा शासित आपराधिक मामलों में भी, न्यायालय शक्तिहीन नहीं है और समुचित मामलों में संशोधन अनुज्ञात कर सकता है । एक ऐसी परिस्थिति, जहां ऐसा संशोधन अनुज्ञात किया जाता है, कार्यवाहियों की बहुलता से बचने के लिए है । अतः, अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल का यह तर्क कि संशोधन करने की शक्ति नहीं है, को अस्वीकार किया जाना चाहिए ।

19. इस संदर्भ में, घरेलू हिंसा अधिनियम की धारा 28 की उपधारा (2) का उपबंध महत्वपूर्ण हो जाता है । धारा 28 की उपधारा (1) में यथा विनिर्दिष्ट घरेलू हिंसा अधिनियम के कतिपय धाराओं के अधीन कार्यवाहियां संहिता द्वारा शासित की जानी है, किंतु विधान-मंडल ने वहीं उपधारा (2) जैसे उपबंध भी सम्मिलित किए हैं जो न्यायालय को घरेलू हिंसा अधिनियम की धारा 12 या धारा 23(2) के अधीन आवेदनों के निपटान के लिए अपनी निजी प्रक्रिया अधिकथित करने की शक्ति प्रदान करती है । इस उपबंध को विधान-मंडल द्वारा मस्तिष्क में एक निश्चित प्रयोजन को ध्यान में रखते हुए सम्मिलित किया गया है । धारा 12 के अधीन, कोई आवेदन उक्त अधिनियम के अधीन एक या अधिक अनुतोषों का दावा करते हुए व्यथित

व्यक्ति या संरक्षण अधिकारी या व्यथित व्यक्ति की ओर से किसी अन्य व्यक्ति द्वारा मजिस्ट्रेट को किया जा सकता है । धारा 23 अंतरिम और एकपक्षीय आदेश मंजूर करने की मजिस्ट्रेट की शक्ति के बारे में है और धारा 23 की उपधारा (2) इस बाबत एक विशेष उपबंध है जो इस प्रकार है :–

> "(2) यदि मजिस्ट्रेट का यह समाधान हो जाता है कि प्रथमदृष्ट्या कोई आवेदन यह प्रकट करता है कि प्रत्यर्थी घरेलू हिंसा का कोई कार्य कर रहा है या उसने किया है, या यह संभावना है कि प्रत्यर्थी घरेलू हिंसा का कोई कार्य कर सकता है तो वह व्यथित व्यक्ति के ऐसे प्ररूप में जो विहित किया जाए, शपथपत्र के आधार पर, यथास्थिति, धारा 18, धारा 19, धारा 20, धारा 21 या धारा 22 के अधीन प्रत्यर्थी के विरुद्ध एकपक्षीय आदेश दे सकेगा ।"

20. ऐसे अनुतोष जिन्हें अंतिम आदेश द्वारा या अंतरिम आदेश द्वारा मंजूर किए जा सकते हैं, का उल्लेख पहले ही ऊपर किया जा चुका है जिसमें यह उल्लेख किया गया है कि इन अनुतोषों में से अधिकांश सिविल प्रकृति की हैं । यदि परिवाद/आवेदन आदि का संशोधन करने की शक्ति होने का आशय पूर्वोक्त उपबंध में नहीं निकाला जाता है तो वह प्रयोजन जिसको अधिनियम पूरा करने का प्रयास करता है, स्वयं कई मामलों में विफल हो जाएगा ।

21. इस प्रकार, हमारी यह राय है कि विचारण न्यायालय द्वारा संशोधन को उचित ही अनुज्ञात किया गया था और विचारण न्यायालय के आदेश की पुष्टि करते हुए उच्च न्यायालय के आक्षेपित निर्णय में कोई दोष नहीं है । अतः यह अपील सारहीन है, तद्नुसार खर्चे सहित खारिज की जाती है ।

अपील खारिज की गई ।

पा.

अनीता कुशवाहा

बनाम

पुष्प सूदन

तथा

अजय कुमार पांडेय

बनाम

जम्मू-कश्मीर राज्य

तथा

सुप्रिया

बनाम

पंकज धर

तथा

राखी चौधरी बल्दोत्रा

बनाम

योगेश कुमार बल्दोत्रा

तथा

सोनाली पिम्पले उर्फ सोनाली मोरे और अन्य

बनाम

सी. के. मोरे

तथा

कल्पना तिवारी

बनाम

रजनी कांत तिवारी

तथा

गीता भाटिया

बनाम

माधव भाटिया

तथा

भाविका भारती

बनाम

नकुल महाजन

तथा

नेहा

बनाम

संदीप वैष्णवी

तथा

गुंजन वजीर

बनाम

विवेक वजीर

तथा

गुंजन वजीर

बनाम

विवेक वजीर और अन्य

तथा

तमना सोढी

बनाम

तिलक चौधरी

तथा

मंजू बाला

बनाम

विनोद कुमार

19 जुलाई, 2016

मुख्य न्यायमूर्ति टी. एस. ठाकुर, न्यायमूर्ति फकीर मुहम्मद इब्राहिम कलिफुल्ला, न्यायमूर्ति ए. के. सीकरी, न्यायमूर्ति एस. ए. बोबडे और न्यायमूर्ति (श्रीमती) आर. भानुमति

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 14 और 21 – न्याय तक पहुंच – न्याय तक पहुंच का अधिकार संविधान के अनुच्छेद 21 के अधीन प्राण के अधिकार का एक पहलू है और यह अनुच्छेद 14 में गारंटीकृत विधि के समक्ष समता और विधि के समान संरक्षण का भी एक भाग है ।

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 32, 136 और 142 [सपठित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (1908 का 1) – धारा 25, दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) – धारा 406, जम्मू-कश्मीर राज्य सिविल प्रक्रिया संहिता, 1977 और जम्मू-कश्मीर दंड प्रक्रिया संहिता, 1989] – मामलों का अंतरण – उच्चतम न्यायालय को सिविल प्रक्रिया संहिता, दंड प्रक्रिया संहिता, जम्मू-कश्मीर सिविल प्रक्रिया संहिता और जम्मू-कश्मीर दंड प्रक्रिया संहिता में जम्मू-कश्मीर राज्य के किसी न्यायालय से देश के किसी अन्य न्यायालय में या देश के किसी अन्य न्यायालय से जम्मू-कश्मीर राज्य के न्यायालय में मामलों को अंतरित करने का कोई उपबंध न होने के बावजूद संविधान के अनुच्छेद 32, 136 और 142 के अधीन अपनी व्यापक शक्तियों का प्रयोग करते हुए लोकहित में देश के किसी न्यायालय में मामलों को अंतरित करने का अधिकार है ।

न्यायालय के तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने 21 अप्रैल, 2015 के आदेश द्वारा इन अंतरण याचिकाओं की परीक्षा करने के लिए संविधान न्यायपीठ को निर्दिष्ट किया कि क्या इस न्यायालय को जम्मू-कश्मीर राज्य के किसी न्यायालय में लंबित सिविल या दांडिक मामले को उस राज्य के बाहर के न्यायालय को अंतरित करने और इसी प्रकार बाहर के न्यायालय में लंबित मामले को जम्मू-कश्मीर राज्य में अंतरित करने की शक्ति है । निर्देश आदेश के अनुसरण में हमारे समक्ष प्रस्तुत 13 अंतरण याचिकाओं में से 11 में जम्मू-कश्मीर राज्य से सिविल मामलों को अंतरित करने की ईप्सा की है जबकि शेष दो में राज्य से उस राज्य के बाहर के न्यायालयों को

दांडिक मामले के अंतरण की ईप्सा की । प्रत्यर्थियों द्वारा अन्य बातों के साथ-साथ इस आधार पर अंतरण याचिकाओं का विरोध किया गया कि सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 25 और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 406 के उपबंध, जो इस न्यायालय को क्रमशः सिविल और दांडिक मामलों को एक राज्य से दूसरे राज्य को अंतरित करने का निदेश देने की शक्ति प्रदान करते हैं, जम्मू-कश्मीर राज्य तक विस्तारित नहीं है अतः ऐसे किसी अंतरण का निदेश देने के लिए अवलंब नहीं लिया जा सकता । अंतरण याचिकाओं का इस आधार पर भी विरोध किया गया कि जम्मू-कश्मीर सिविल प्रक्रिया संहिता, 1977 और जम्मू-कश्मीर दंड प्रक्रिया संहिता, 1989 में उच्चतम न्यायालय को उस राज्य से राज्य के बाहर के न्यायालय को या बाहर के राज्य से इस राज्य के न्यायालय को किसी मामले का अंतरण करने का निदेश देने की शक्ति प्रदान नहीं करते । प्रत्यर्थियों की ओर से यह भी दलील दी गई कि जम्मू-कश्मीर राज्य से या जम्मू-कश्मीर राज्य को सिविल या दांडिक मामलों के अंतरण का निदेश देने की इस न्यायालय को सशक्त करने के किसी उपबंध के अभाव में, इस न्यायालय द्वारा किसी ऐसी शक्ति का अवलंब या प्रयोग नहीं किया जा सकता । आगे यह दलील दी गई कि संविधान का अनुच्छेद 139क के उपबंध जो इस न्यायालय को एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय या स्वयं को लंबित मामलों के अंतरण की शक्ति प्रदान करते हैं, को भी प्रस्तुत मामलों में लागू नहीं किया जा सकता क्योंकि संविधान 42वां संशोधन अधिनियम, 1977 जिसके द्वारा स्वयं उपबंध को सम्मिलित किया गया, जम्मू-कश्मीर राज्य को लागू नहीं होता है । यह तर्क किया गया कि इस विषय से संबंधित सिविल और दांडिक प्रक्रिया संहिता या भारत के संविधान या राज्य संविधान में किसी समर्थकारी उपबंध के अभाव में, किसी वादकारी को जम्मू-कश्मीर राज्य में लंबित सिविल या दांडिक मामले को राज्य से बाहर के न्यायालय को या इसी प्रकार बाहर के राज्य के न्यायालय से जम्मू-कश्मीर राज्य में लंबित मामलों को अंतरित करने की मांग करने का कोई अधिकार नहीं है । तथापि, प्रश्न यह है कि क्या सिविल और दंड प्रक्रिया संहिता के उपबंधों से अलग शक्ति का कोई ऐसा स्रोत है जिसका यह न्यायालय जम्मू-कश्मीर राज्य से या जम्मू-कश्मीर राज्य को मामले का अंतरण करने का निदेश देने के लिए अवलंब ले सकता है । याचियों की ओर यह दलील दी गई कि जब केंद्रीय सिविल या दंड प्रक्रिया संहिताएं जम्मू-कश्मीर राज्य में लागू नहीं हैं और जहां राज्य सिविल और दंड प्रक्रिया संहिताओं में भी अंतरण का निदेश देने के लिए इस न्यायालय को सशक्त करने वाला कोई उपबंध

नहीं है, इसका यह अर्थ नहीं है कि यह न्यायालय ऐसे समुचित मामलों में अंतरण का आदेश देने के लिए निःसहाय है जहां ऐसा अंतरण प्रस्तुत मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में आवश्यक है । पर्याप्त न्यायालयिक दृढ़ता के साथ यह कृत्य किया गया कि भारत के संविधान के अनुच्छेद 21 के अधीन गारंटीकृत मूल अधिकार होते हुए न्याय की पहुंच के लिए ऐसा कोई वादकारी जिसे न्याय की पहुंच के मूल अधिकार से वंचित किया जाता है या जोखिम में डाला जाता है, अपने अधिकार के संरक्षण और प्रवर्तन के लिए भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन प्रतितोष के लिए इस न्यायालय में आवेदन कर सकता है । यह न्यायालय किसी ऐसे मामले में ऐसे अधिकार के संरक्षण के लिए समुचित निदेश जारी कर सकता है जो संरक्षण समुचित मामलों में राज्य के बाहर के न्यायालय को उस न्यायालय में या बाहर के राज्य के न्यायालय से उस राज्य के न्यायालय में अंतरण के लिए निदेश देना सम्मिलित होगा । बलपूर्वक यह तर्क किया गया कि अनुच्छेद 32 के साथ पठित भारत के संविधान का अनुच्छेद 142 इस न्यायलय को हस्तक्षेप करने और समुचित निदेश जारी करने के लिए पर्याप्त शक्ति प्रदान करता है जहां कहीं ऐसा निदेश देना यह सुनिश्चित करने के विषय सहित कि जम्मू-कश्मीर राज्य के भीतर या बाहर किसी न्यायालय की विधिक कार्यवाहियों के वादकारियों को उस राज्य को या उस राज्य से अपने मामलों के अंतरण द्वारा न्याय पाने में निष्पक्ष और युक्तियुक्त अवसर उपलब्ध कराएगा सहित पक्षकारों को पूर्ण न्याय देने के लिए आवश्यक समझे । अधिवक्ताओं द्वारा किए गए तर्क के संदर्भ में दो भिन्न-भिन्न प्रश्न विचारार्थ उद्भूत होते हैं । पहले प्रश्न में यह परीक्षा किया जाना अंतर्वलित है कि क्या न्याय तक पहुंच वस्तुतः एक मूल अधिकार है यदि हां तो उस अधिकार की परिधि और अंतर्वस्तु क्या है ? जबकि दूसरा यह है कि क्या भारत के संविधान का अनुच्छेद 32 और 142 इस न्यायालय को समुचित परिस्थितियों में जम्मू-कश्मीर राज्य को या वहां से मामलों का अंतरण करने के लिए उपयुक्त निदेश जारी करने हेतु शक्ति प्रदान करता है । हमारी दृष्टि से, ये दोनों पहलू इस न्यायालय के और इंग्लैंड के न्यायालयों जिन्हें न्याय तक पहुंच के अधिकार और प्राण के अधिकार से इसके संबंध के न्यायशास्त्री पहलू पर परीक्षा करने का अवसर मिला था, के न्यायिक निर्णयों द्वारा काफी घुमावदार हैं । ऐसी स्थितियों में जहां ऐसी शक्ति किसी सामान्य कानून या संविधान के अधीन विशुद्ध अर्थ में उपलब्ध नहीं है, मामलों के अंतरण का निदेश देने के लिए भारत के संविधान के अनुच्छेद 142 की उपलब्धता का न्यायिकतः कई पूर्व अवसरों

पर इस न्यायालय द्वारा उपयोग किया गया है । उच्चतम न्यायालय द्वारा मामलों का निपटान करते हुए,

अभिनिर्धारित – न्याय की पहुंच को भारत में और संपूर्ण विश्व के सभी सभ्य समाजों में प्राण के अधिकार के अभिन्न भाग के रूप में माना जाता है और माना गया है । अधिकार इतना आधारभूत और असंक्राम्य है कि शासन की कोई प्रणाली संभवतः इसके महत्व की उपेक्षा नहीं कर सकती और अपने नागरिकों को इसे प्रदान करने से इनकार नहीं कर सकती । मैगनाकार्टा, अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा, अंतरराष्ट्रीय सिविल और राजनैतिक अधिकार प्रसंविदा, 1966, "जहां अधिकार है वहां उपचार है" की प्राचीन रोमन न्यायशास्त्री सूक्ति, पिछली शताब्दियों से न्यायालयों के न्यायिक निर्णयों द्वारा कामन ला के मूल सिद्धांतों के विकास ने न्याय की पहुंच को आधारभूत और असंक्राम्य मानव अधिकार के रूप में स्वीकार किए जाने के संबंध में अपना योगदान दिया है जिसे सभी सभ्य समाज और व्यवस्थाओं में मान्यता प्रदान किया और प्रवृत्त किया । अधिकारों के व्यापक परिप्रेक्ष्य में संविधान के अनुच्छेद 21 में आने वाले "प्राण" शब्द का निर्वचन किया और परिशीलन किया तथा प्राण के अधिकार के आनुषंगिक और/या अभिन्न अंगों पर विचार किया, ऐसा कोई वास्तविक कारण नहीं है कि क्यों न्याय तक पहुंच को उक्त अधिकारों के वर्ग और प्रवर्ग के बाहर समझा जाए जिसे पहले ही भारत के संविधान के अनुच्छेद 21 के अभिन्न भाग होने के रूप में माना गया है । यदि "प्राण" का अभिप्राय भौतिक अर्थ में केवल प्राण नहीं है किंतु अधिकारों का ऐसा समूह है जो जीवन को जीने योग्य बनाता है तो यह अभिनिर्धारित करने का ऐसा कोई विधिक या अन्य आधार नहीं है कि "न्याय तक पहुंच" का प्रत्याख्यान मानव जीवन के गुणवत्ता को प्रभावित नहीं करेगा जिससे कि न्याय तक पहुंच को अनुच्छेद 21 के अधीन प्रत्याभूत प्राण के अधिकार की परिधि से बाहर रखा जाए । अतः न्यायालय को यह अभिनिर्धारित करने में कोई हिचकिचाहट नहीं है कि न्याय तक पहुंच वस्तुतः संविधान के अनुच्छेद 21 के अधीन प्रत्याभूत प्राण के अधिकार का भाग है । न्यायालय केवल यह कहना आवश्यक समझता है कि न्याय तक पहुंच संविधान के अनुच्छेद 14 के अधीन प्रत्याभूत अधिकार का भी अंग हो सकेगा जो न केवल नागरिकों को बल्कि गैर नागरिकों को भी विधि के समक्ष समता और विधियों का समान संरक्षण प्रत्याभूत करता है । न्यायालय ऐसा इसलिए कह सकता है क्योंकि विधि

के समक्ष समता और विधियों का समान संरक्षण ऐसी कार्यपालिक कार्रवाई जो विधि को प्रवृत्त करती है, की परिधि तक इसका लागू होना सीमित नहीं है । यह ऐसे न्यायालयों, अभिकरणों और न्यायनिर्णायक मंच की कार्यवाहियों के संबंध में भी उपलब्ध है जहां विधि लागू की जाती है और न्याय किया जाता है । अधिकारों और बाध्यताओं के अवधारण के लिए उपलब्ध कराए गए न्यायालयों या किसी अन्य न्यायनिर्णायक तंत्र तक पहुंचने में नागरिक की असमर्थता का परिणाम विधि के समक्ष समता और विधियों के समान संरक्षण दोनों के संबंध में अनुच्छेद 14 में अंतर्विष्ट गारंटी का प्रत्याख्यान है । यह कहना आवश्यक नहीं है कि किसी न्यायनिर्णायक तंत्र का अभाव या ऐसे तंत्र की अपर्याप्तता विधियों के समक्ष समता और विधियों के समान संरक्षण के अपने अधिकार को प्रवृत्त कराने वाले लोगों को निवारित करता है और तद्द्वारा विधियों के समक्ष समता या विधियों के समान संरक्षण की गारंटी को अस्वीकार करता है और इससे मात्र खिजाऊ भ्रम पैदा होता है । संविधान के अनुच्छेद 21 के अलावा, न्याय तक पहुंच को अनुच्छेद 14 में भी अंतर्विष्ट गारंटी का भाग कहा जा सकता है । (पैरा 26 और 28)

क्या भारत के संविधान के अनुच्छेद 142 के साथ पठित अनुच्छेद 32 उच्चतम न्यायालय को ऐसी स्थिति में जहां केंद्रीय सिविल प्रक्रिया संहिता या केंद्रीय दंड प्रक्रिया संहिता के अधीन जम्मू-कश्मीर राज्य को/से ऐसे अंतरण की शक्ति प्रदान नहीं की गई है, अंतरण करने का निदेश देने के लिए सशक्त करता है । ऐसे कई स्थितियों में प्रायः एक न्यायालय से दूसरे न्यायालय को मामलों को अंतरित करने की आवश्यकता उद्भूत होती है जहां सिविल प्रक्रिया संहिता या दंड प्रक्रिया संहिता के अधीन उन्हें उपलब्ध शक्तियों का प्रयोग करते हुए अंतरण करने का निदेश देने के सक्षम न्यायालयों द्वारा युक्तियुक्ततः उपयोग किया जाता है । पक्षकारों और साक्षियों की सुविधा प्रायः ऐसा अंतरण करने का निदेश देने हेतु न्यायालयों के लिए मुख्य कारण होता है । यह महत्वपूर्ण है कि जहां देश के शेष भाग में न्यायालय सिविल प्रक्रिया संहिता और दंड प्रक्रिया संहिता के उपबंधों के अधीन सिविल/आपराधिक मामलों के अंतरण के आवेदनों पर विचार करते हैं वहीं यह तथ्य कि जम्मू-कश्मीर राज्य से या राज्य को अंतरित करने के लिए ऐसा समर्थ बनाने वाला कोई उपबंध नहीं है, ऐसे अंतरित करने का निदेश देने के वरिष्ठ न्यायालय की शक्ति को विपथित नहीं करता । यह राय है कि ऐसा निदेश न्याय के हित को पूरा करने के लिए आवश्यक है ।

दूसरे शब्दों में यदि एक न्यायालय से दूसरे न्यायालय को अंतरित करने का निदेश देने के लिए न्यायालय को सशक्त करने वाले उपबंध को कानून से हटा दिया जाए तो अब भी वरिष्ठ न्यायालयों को ऐसे समुचित मामलों में ऐसे अंतरण का निदेश देने के लिए सक्षम होंगे जहां तक ऐसे न्यायालयों का समाधान हो जाता है कि ऐसे अंतरण से इनकार का परिणाम प्रस्तुत स्थिति में वादकारी को न्याय तक पहुंच के अधिकार का अतिक्रमण है । यदि न्याय तक पहुंच संविधान के अनुच्छेद 21 के अधीन प्रत्याभूत प्राण के अधिकार का एक पहलू है तो उस अधिकार का वास्तविक या जोखिमग्रस्त अतिक्रमण संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन इस न्यायालय की शक्तियों का अवलंब लेने के लिए न्यायोचित होगा । उस अनुच्छेद के अधीन न्यायालय में निहित शक्ति का प्रयोग, ऐसी स्थितियों से निपटने के लिए जहां कानूनी उपबंधों में ऐसे अंतरण का उपबंध नहीं है, एक न्यायालय से दूसरे न्यायालय में मामले के अंतरण का निदेश के रूप में हो सकता है । कोई ऐसा प्रयोग विधिसम्मत होगा क्योंकि यह संविधान के अनुच्छेद 21 के अधीन प्रत्याभूत नागरिकों के मूल अधिकार के अतिक्रमण को निवारित करेगा । जम्मू-कश्मीर राज्य के न्यायालय से राज्य के बाहर के किसी न्यायालय को या इसके विपरीत मामलों को अंतरित करने का निदेश देने की अनुच्छेद 142 के अधीन शक्ति का उपयोग करने के विरुद्ध कोई प्रतिषेध नहीं है । कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि उन आधारों से जिनका उल्लेख हमने पहले किया है, के कारण ऐसा कोई समर्थकारी उपबंध नहीं है । तथापि, किसी समर्थकारी उपबंध के अभाव का अर्थान्वयन जम्मू-कश्मीर राज्य से या को मामलों के अंतरण के विरुद्ध प्रतिषेध के रूप में नहीं किया जा सकता । किसी भी दशा में, मात्र प्रतिषेध पर्याप्त नहीं है । समानतः यह महत्वपूर्ण है कि क्या ऐसे किसी प्रतिषेध के पीछे लोकनीति का कोई मूल सिद्धांत छिपा है । प्रस्तुत मामलों में ऐसा कोई प्रतिषेध नहीं है न ही ऐसी कोई लोकनीति देखी जा सकती है यही नहीं किसी मूल सिद्धांत पर आधारित कोई लोकनीति नहीं है । अतः, संविधान के अनुच्छेद 142 के अधीन इस न्यायालय को उपलब्ध असाधारण शक्ति का अवलंब ऐसी किसी स्थिति में लिया जा सकता है जहां न्यायालय का यह समाधान हो जाए कि जम्मू-कश्मीर राज्य में न्यायालय से या न्यायालय को मामले को अंतरित करने का आदेश देने से इनकार किसी नागरिक के उसके न्याय तक पहुंच के अधिकार से इनकार करता है । अतः, अनुच्छेद 32, 136 और 142 के उपबंध ऐसी समुचित स्थितियों में अंतरण का निदेश देने के लिए इस न्यायालय को पर्याप्त शक्ति प्रदान करते हैं चाहे केंद्रीय

सिविल प्रक्रिया संहिता और दंड प्रक्रिया संहिता में राज्य को विस्तारित नहीं है न ही राज्य सिविल प्रक्रिया संहिता और राज्य दंड प्रक्रिया संहिता में ऐसा कोई उपबंध नहीं है जो इस न्यायालय को मामलों को अंतरित करने की शक्ति प्रदान करता हो । (पैरा 32, 33 और 36)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[2012]	(2012) 6 एस. सी. सी. 502 : **बृजमोहन लाल** बनाम **भारत संघ और अन्य** ;	21
[2012]	(2012) 2 एस. सी. सी. 688 : **इम्तियाज अहमद** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य** ;	19
[2009]	(2009) 9 एस. सी. सी. 1 : **सुचिता श्रीवास्तव** बनाम **चंडीगढ़ प्रशासन** ;	27
[2009]	(2009) 7 एस. सी. सी. 559 : **सुखवंत सिंह** बनाम **पंजाब राज्य** ;	27
[2009]	(2009) 2 एस. सी. सी. 784 : **तमिलनाडु मर्कन्टाइल बैंक शेयरहोल्ड्र्स वेलफेयर एसोसिएशन** बनाम **एस. सी. सेकर और अन्य** ;	22
[2006]	(2006) 5 एस. सी. सी. 475 : **लता सिंह** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य** ;	27
[1997]	(1997) 3 एस. सी. सी. 261 : **एल. चंद्र कुमार** बनाम **भारत संघ** ;	17
[1997]	(1997) 1 एस. सी. सी. 388 : **एम. सी. मेहता** बनाम **भारत संघ** ;	27
[1996]	(1996) 2 एस. सी. सी. 549 : **चमेली सिंह** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य** ;	27
[1993]	(1993) 4 ऑल ई. आर. 539 : **आर.** बनाम **सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फार होम डिपार्टमेंट, एक्स. पी. लीच** ;	14

[1991] (1991) 4 एस. सी. सी. 584 :
यूनियन कार्बाइड कारपोरेशन बनाम **भारत संघ** ; 34

[1990] (1990) 1 एस. सी. सी. 520 :
शांति स्टार बिल्डर्स बनाम **नारायण खिमालाल टोटमे** ; 27

[1989] (1989) 4 एस. सी. सी. 248 :
परमानंद कटारा बनाम **भारत संघ** ; 27

[1988] (1988) 4 एस. सी. सी. 226 :
शीला वार्शे बनाम **भारत संघ** ; 27

[1983] (1983) 4 एस. सी. सी. 141 :
रुदल शाह बनाम **बिहार राज्य** ; 27

[1981] (1981) 1 एस. सी. सी. 627 :
खत्री II बनाम **बिहार राज्य** ; 27

[1980] (1980) 3 एस. सी. सी. 526 :
प्रेमशंकर शुक्ला बनाम **दिल्ली प्रशासन** ; 27

[1980] (1980) 1 एस. सी. सी. 81 :
हुसैनारा खातून बनाम **बिहार राज्य** ; 18

[1978] (1978) 4 एस. सी. सी. 494 :
सुनील बत्रा बनाम **दिल्ली प्रशासन** ; 27

[1978] (1978) 4 एस. सी. सी. 104 :
चार्ल्स शोभराज बनाम **अधीक्षक केंद्रीय कारागार** ; 27

[1978] (1978) 1 एस. सी. सी. 248 :
मेनका गांधी बनाम **भारत संघ** ; 27

[1970] 1970 ई. सी. एच. आर. 1 :
डेलकोर्ट बनाम **बेल्जियम** ; 20

[1965] ए. आई. आर. 1965 एस. सी. 745 :
केशव सिंह बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य** ; 17

[1943] ए. आई. आर. 1943 नागपुर 26 :
पी. के. तरे बनाम **एम्परर** ; 16

[1926] ए. आई. आर. 1926 बाम्बे 551 :
लेलवेलियन इवान्स । 15

आरंभिक (सिविल/दांडिक) अधिकारिता : 2008 की अंतरण याचिका (सिविल) सं. 1343 के साथ 2011 की अंतरण याचिका (दांडिक) सं. 116, 2011 की अंतरण याचिका (सिविल) सं. 562, 2012 की अंतरण याचिका (सिविल) सं. 1161, 2012 की अंतरण याचिका (सिविल) सं. 1294, 2012 की अंतरण याचिका (सिविल) सं. 1497, 2012 की अंतरण याचिका (सिविल) सं. 1573, 2013 की अंतरण याचिका (सिविल) सं. 426, 2013 की अंतरण याचिका (सिविल) सं. 1773, 2013 की अंतरण याचिका (सिविल) सं. 1821, 2014 की अंतरणयाचिका (दांडिक) सं. 99, 2013 की अंतरण याचिका (सिविल) सं. 1845, 2014 की अंतरण याचिका (सिविल) सं. 14.

संविधान, 1950 के अनुच्छेद 136 के अधीन याचिका ।

पक्षकारों की ओर से सर्वश्री रंजीत कुमार, महा-सालिसिटर, रंजीत कुमार, पी. एस. पटवालिया, अपर महा-सालिसिटर, विवेक के. तनखा, बी. एच. मर्लापल्ला, ज्येष्ठ अधिवक्ता, सुश्री रश्मि मल्होत्रा, सुश्री सुषमा सूरी,

प्रदीप कुमार मित्तल, अनुराग कश्यप, अरुनव तिवारी, सुश्री शिखा श्रीवास्तव, सुश्री मोना के. राजवंशी, अरविंद कुमार, प्रदीप कुमार माथुर, श्रीमती पूनम प्रसाद, श्रीमती लक्ष्मी अरविंद, अश्विन वैश, विनोद पांडेय, नितिन कुमार ठाकुर, विभाकर मिश्र, शारिक अहमद, तारिक अहमद, सुनील कुमार वर्मा, विपिन गोइया, श्रीमती जशप्रीत गोइया, सुश्री कविता वाडिया, शशांक त्रिपाठी, सुधीर वालिया, सचिन पुजारी, पार्थ तिवारी, अभिषेक अत्रे, सुश्री निहारिका अहलुवालिया, सुश्री प्रज्ञा वाजिर, सुश्री एस. जनानी, सुनादो राहा, अनुपम रैना, सुश्री मधु मूलचंदानी, अभय प्रकाश सहाय, जमनेश कुमार, हिमांशु शेखर, उज्जल सिंह, जे. पी. सिंह, आर. सी. कौशिक, कुणाल चीमा, अजीत वाघ, अपूर्व शुक्ला, आदित्या गागर, विलास गिरी, योगेश अहिर्राव, यशपाल धींगरा, श्रीमती मोना के. राजवंशी, सुनील कुमार वर्मा, राजिन्दर माथुर, शैलेन्द्र भारद्वाज, देबासिस मिश्र, सुश्री कविता वाडिया, सी. डी. सिंह, सुश्री साक्षी कक्कर, वेंकिटा सुब्रह्मणियन टी. आर., राहत बंसल, अनूप कुमार, वेंकट कृष्णा कुंदीरु, नितिन संग्रा, सुश्री प्रज्ञा बाघेल, अमोल चितले, असेम सावहने, डी. के. सिन्हा, सुश्री रंजना नारायण, सुश्री बिंदू

टम्टा, गौरव शर्मा, सुश्री रश्मि मल्होत्रा, सुश्री सुषमा सूरी, सुनील फर्नान्डेस, सुश्री आस्था शर्मा, पुनीथ के. जी. बिमल रॉय जाद, नरेश कुमार, मंजीत सिंह, श्रीमती विवेक्ता सिंह, राजेश श्रीवास्तव, रघुवेन्द्र प्रताप सिंह, सुरेश कुमार, श्रीकांत एन. तेरदल, सुश्री लक्ष्मी अरविंद, अशोक माथुर, राबिन मजूमदार, और रमेश बाबू एम. आर.

न्यायालय का निर्णय मुख्य न्यायमूर्ति टी. एस. ठाकुर ने दिया ।

मु. न्या. ठाकुर – इस न्यायालय के तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने 21 अप्रैल, 2015 के आदेश द्वारा इन अंतरण याचिकाओं की परीक्षा करने के लिए संविधान न्यायपीठ को निर्दिष्ट किया कि क्या इस न्यायालय को जम्मू और कश्मीर राज्य के किसी न्यायालय में लंबित सिविल या दांडिक मामले को उस राज्य के बाहर की न्यायालय को अंतरित करने और इसी प्रकार बाहर के न्यायालय में लंबित मामले को जम्मू-कश्मीर राज्य में अंतरित करने की शक्ति है । निर्देश आदेश के अनुसरण में हमारे समक्ष प्रस्तुत 13 अंतरण याचिकाओं में से 11 में जम्मू-कश्मीर राज्य से सिविल मामलों को अंतरित करने की ईप्सा की है जबकि शेष दो में राज्य से उस राज्य के बाहर के न्यायालयों को दांडिक मामले के अंतरण की ईप्सा की ।

2. प्रत्यर्थियों द्वारा अन्य बातों के साथ-साथ इस आधार पर अंतरण याचिकाओं का विरोध किया गया कि सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 25 और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 406 के उपबंध, जो इस न्यायालय को क्रमशः सिविल और दांडिक मामलों को एक राज्य से दूसरे राज्य को अंतरित करने का निदेश देने की शक्ति प्रदान करते हैं, जम्मू और कश्मीर राज्य तक विस्तारित नहीं है अतः ऐसे किसी अंतरण का निदेश देने के लिए अवलंब नहीं लिया जा सकता । अंतरण याचिकाओं का इस आधार पर भी विरोध किया गया कि जम्मू-कश्मीर सिविल प्रक्रिया संहिता, 1977 और जम्मू-कश्मीर दंड प्रक्रिया संहिता, 1989 में उच्चतम न्यायालय को उस राज्य से राज्य के बाहर के न्यायालय को या बाहर के राज्य से इस राज्य के न्यायालय को किसी मामले का अंतरण करने का निदेश देने की

शक्ति प्रदान नहीं करते । प्रत्यर्थियों की ओर से यह भी दलील दी गई कि जम्मू-कश्मीर राज्य से या को सिविल या दांडिक मामलों के अंतरण का निदेश देने की इस न्यायालय को सशक्त करने के किसी उपबंध के अभाव में, इस न्यायालय द्वारा किसी ऐसी शक्ति का अवलंब या प्रयोग नहीं किया जा सकता । आगे यह दलील दी गई कि संविधान का अनुच्छेद 139क के उपबंध जो इस न्यायालय को एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय या स्वयं को लंबित मामलों के अंतरण की शक्ति प्रदान करते हैं, को भी प्रस्तुत मामलों में लागू नहीं किया जा सकता क्योंकि संविधान 42वां संशोधन अधिनियम, 1977 जिसके द्वारा स्वयं उपबंध को सम्मिलित किया गया, जम्मू-कश्मीर राज्य को लागू नहीं होता है । यह तर्क किया गया कि इस विषय से संबंधित सिविल और दांडिक प्रक्रिया संहिता या भारत के संविधान या राज्य संविधान में किसी समर्थकारी उपबंध के अभाव में, किसी वादकारी को जम्मू-कश्मीर राज्य में लंबित सिविल या दांडिक मामले को राज्य से बाहर के न्यायालय को या इसी प्रकार बाहर के राज्य के न्यायालय से जम्मू-कश्मीर राज्य में लंबित मामलों को अंतरित करने की मांग करने का कोई अधिकार नहीं है ।

3. दूसरी ओर, याचियों की ओर से यह निवेदन किया गया कि सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 25 और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 406 जो शेष देश में लागू है, जम्मू-कश्मीर राज्य में लागू नहीं है इसलिए संविधान या किसी भी प्रकार की विधि के किसी अन्य उपबंध के अधीन उच्चतम न्यायालय द्वारा अंतरण की शक्ति का प्रयोग करने के विपरीत उक्त दो संहिताओं में कोई विनिर्दिष्ट या विवक्षित प्रतिषेध नहीं है । यह आग्रह किया गया कि जम्मू-कश्मीर राज्य को केंद्रीय सिविल और/या दंड प्रक्रिया संहिता की अनुपयोज्यता या राज्य सिविल संहिता और/या दंड प्रक्रिया का अनिवार्यतः यह अभिप्राय नहीं है कि यह न्यायालय अंतरण की शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकता यदि यह अन्यथा संविधान के उपबंधों के अधीन उपलब्ध है । इसी प्रकार, उस राज्य को संविधान 42वां संशोधन अधिनियम के गैर विस्तार के कारण जम्मू-कश्मीर राज्य को अनुच्छेद 139क की अनुपयोज्यता असमर्थता गठित नहीं करती, यह अकेले अंतरण की शक्ति के प्रयोग के विरुद्ध प्रतिषेध नहीं है यदि अन्यथा ऐसी शक्ति को संवैधानिक अवसंरचना के भीतर किसी अन्य स्रोत से ढूंढा जा सकता हो ।

4. देश के शेष भाग में लागू सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 और दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (जिसे इसमें इसके पश्चात् 'केंद्रीय संहिता' कहा

गया है) विनिर्दिष्टतः जम्मू-कश्मीर राज्य को इसे लागू होने से अपवर्जित करता है । यह सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 1 से स्पष्ट है जो संक्षिप्त नाम, प्रारंभ और विस्तार के बारे में इस प्रकार है :–

"सीपीसी"

5. इसी आशय का दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 1 है जो इस प्रकार है :–

1. संक्षिप्त नाम, विस्तार और प्रारंभ –

(1) इस अधिनियम का संक्षिप्त नाम दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 है ।

(2) इसका विस्तार जम्मू-कश्मीर राज्य के सिवाय संपूर्ण भारत पर है : परंतु इस संहिता के अध्याय 8, 10 और 11 से संबंधित उपबंधों से भिन्न, उपबंध, – (क) नागालैंड राज्य को ; (ख) जनजाति क्षेत्रों को, लागू नहीं होंगे, किंतु संबद्ध राज्य सरकार अधिसूचना द्वारा, ऐसे उपबंधों या उनमें से किसी को, यथास्थिति, संपूर्ण नागालैंड राज्य या ऐसे जनजाति क्षेत्र अथवा उनके किसी भाग पर ऐसे अनुपूरक, आनुषंगिक या पारिणामिक उपान्तरों सहित लागू कर सकती है जो अधिसूचना में विनिर्दिष्ट किए जाएं । **स्पष्टीकरण** – इस धारा में, "जनजाति क्षेत्र" से वे राज्य क्षेत्र अभिप्रेत हैं जो 1972 की जनवरी के 21वें दिन के ठीक पहले, संविधान की षष्ठ अनुसूची के पैरा 20 में यथानिर्दिष्ट असम के जनजाति क्षेत्रों में सम्मिलित थे और जो शिलांग नगरपालिका की स्थानीय सीमाओं के भीतर के क्षेत्रों से भिन्न हैं ।

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया)

6. प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउंसेल द्वारा उपरोक्त के आलोक में यह दलील देना पूर्णतः न्यायोचित है कि शेष भारत को यथा लागू सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 25 और दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 406 का अवलंब किसी वादकारी द्वारा जम्मू-कश्मीर राज्य को या से किसी मामले के अंतरण की मांग करने के लिए नहीं लिया जा सकता है । सामानतः यह सही है कि जम्मू-कश्मीर सिविल प्रक्रिया संहिता, संवत् 1977 और जम्मू-कश्मीर दंड प्रक्रिया संहिता संवत् 1989 में भी इस न्यायालय को सशक्त करते हुए उस राज्य के बाहर के न्यायालय को राज्य

के किसी न्यायालय को कोई सिविल या दांडिक मामला या इसी प्रकार राज्य के न्यायालय को किसी सिविल या दांडिक मामले को अंतरित करने का निदेश देने का भी कोई उपबंध नहीं है । अतः राज्य को या राज्य से मामलों का अंतरण करने का निदेश देने के लिए केंद्रीय या राज्य सिविल या दंड प्रक्रिया संहिताओं का आश्रय लेने से इनकार किया जाता है । अतः उस विस्तार तक प्रत्यर्थियों की ओर से दी गई दलीलें सुआधारित और वैधतः अनिन्द्य हैं ।

7. तथापि, प्रश्न यह है कि क्या सिविल और दंड प्रक्रिया संहिता के उपबंधों से अलग शक्ति का कोई ऐसा स्रोत है जिसका यह न्यायालय जम्मू-कश्मीर राज्य से या जम्मू-कश्मीर राज्य को मामले का अंतरण करने का निदेश देने के लिए अवलंब ले सकता है । याचियों की ओर से यह दलील दी गई कि जब केंद्रीय सिविल या दंड प्रक्रिया संहिताएं जम्मू-कश्मीर राज्य में लागू नहीं हैं और जहां राज्य सिविल और दंड प्रक्रिया संहिताओं में भी अंतरण का निदेश देने के लिए इस न्यायालय को सशक्त करने वाला कोई उपबंध नहीं है, इसका यह अर्थ नहीं है कि यह न्यायालय ऐसे समुचित मामलों में अंतरण का आदेश देने के लिए निःसहाय है जहां ऐसा अंतरण प्रस्तुत मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में आवश्यक है । पर्याप्त न्यायालयिक दृढ़ता के साथ यह कृत्य किया गया कि भारत के संविधान के अनुच्छेद 21 के अधीन गारंटीकृत मूल अधिकार होते हुए न्याय की पहुंच के लिए ऐसा कोई वादकारी जिसे न्याय की पहुंच के मूल अधिकार से वंचित किया जाता है या जोखिम में डाला जाता है, अपने अधिकार के संरक्षण और प्रवर्तन के लिए भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन प्रतितोषण के लिए इस न्यायालय में आवेदन कर सकता है । यह न्यायालय किसी ऐसे मामले में ऐसे अधिकार के संरक्षण के लिए समुचित निदेश जारी कर सकता है जो संरक्षण समुचित मामलों में राज्य के बाहर के न्यायालय को उस न्यायालय में या बाहर के राज्य के न्यायालय से उस राज्य के न्यायालय में अंतरण के लिए निदेश देना सम्मिलित होगा । बलपूर्वक यह तर्क किया गया कि अनुच्छेद 32 के साथ पठित भारत के संविधान का अनुच्छेद 142 इस न्यायालय को हस्तक्षेप करने और समुचित निदेश जारी करने के लिए पर्याप्त शक्ति प्रदान करता है जहां कहीं ऐसा निदेश देना यह सुनिश्चित करने के विषय सहित कि जम्मू-कश्मीर राज्य के भीतर या बाहर किसी न्यायालय की विधिक कार्यवाहियों के वादकारियों को उस राज्य को या उस राज्य से अपने मामलों के अंतरण द्वारा न्याय पाने में निष्पक्ष और

युक्तियुक्त अवसर उपलब्ध कराने सहित पक्षकारों को पूर्ण न्याय देने के लिए आवश्यक समझे ।

8. अधिवक्ताओं द्वारा किए गए तर्क के संदर्भ में दो भिन्न-भिन्न प्रश्न विचारार्थ उद्भूत होते हैं । पहले प्रश्न में यह परीक्षा किया जाना अंतर्वलित है कि क्या न्याय तक पहुंच वस्तुतः एक मूल अधिकार है यदि हां तो उस अधिकार की परिधि और अंतर्वस्तु क्या है ? जबकि दूसरा यह है कि क्या भारत के संविधान का अनुच्छेद 32 और 142 इस न्यायालय को समुचित परिस्थितियों में जम्मू-कश्मीर राज्य को या वहां से मामलों का अंतरण करने के लिए उपयुक्त निदेश जारी करने हेतु शक्ति प्रदान करता है । हमारी दृष्टि से, ये दोनों पहलू इस न्यायालय के और इंग्लैंड के न्यायालयों जिन्हें न्याय तक पहुंच के अधिकार और प्राण के अधिकार से इसके संबंध के न्यायशास्त्री पहलू पर परीक्षा करने का अवसर मिला था, के न्यायिक निर्णयों द्वारा काफी घुमावदार हैं । ऐसी स्थितियों में जहां ऐसी शक्ति किसी सामान्य कानून या संविधान के अधीन विशुद्ध अर्थ में उपलब्ध नहीं है, मामलों के अंतरण का निदेश देने के लिए भारत के संविधान के अनुच्छेद 142 की उपलब्धता का न्यायिकतः कई पूर्व अवसरों पर इस न्यायालय द्वारा उपयोग किया गया है । हम उक्त दो पहलुओं पर क्रमशः विचार करेंगे ।

9. अमूल्य मानव अधिकार के रूप में और मूल अधिकार के रूप में अधिकांश संवैधानिक लोकतांत्रिक देशों में भी मान्यता प्राप्त "न्याय तक पहुंच" की अवधारणा का उद्भव मैगना कार्टा, कॉमन ला में हुआ । मैगना कार्टा में निम्नलिखित शब्दों में न्यायालयों तक पहुंच के आधारभूत अधिकार की आधारशिला अधिकथित है :–

> "किसी स्वतंत्र व्यक्ति को न तो पकड़ा जाएगा या कारावास में डाला जाएगा या विच्छेदित किया जाएगा या विधिविरुद्ध ठहराया जाएगा या देश निकाला किया जाएगा या किसी भी रीति से नष्ट किया जाएगा और न ही हम उसे उसके समकक्ष व्यक्तियों के विधिसम्मत् निर्णय द्वारा या लागू विधि के सिवाय उसके विरुद्ध जाएंगे या उसे भेजेंगे ।
>
> हम न्याय के अधिकार को न तो किसी को बेचेंगे न ही किसी के लिए इनकार करेंगे या विलंबित करेंगे ।
>
> तथापि, उपरोक्त सभी रीति-रिवाज, स्वतंत्रताएं और अनुपालन जिसे हमने अपने राज्य में प्रदान की हैं जहां तक वे हमारे व्यक्तियों

के प्रति हमसे संबंधित हैं, का हमारे सभी राज्य द्वारा तथा पादरी और साधारण व्यक्ति जहां तक वे उनसे उनके व्यक्तियों से संबंधित हैं, पालन किया जाएगा ।

यह हमारी इच्छा है और हम दृढ़तः यह व्यादिष्ट करते हैं कि अंग्रेजी चर्च स्वतंत्र होंगे और हमारे राज्य के व्यक्ति सभी पूर्वोक्त स्वतंत्रताओं, अधिकारों और रियायतों और शांतिपूर्वक, स्वतंत्र और निस्तब्ध रूप से पूरी तरह और पूर्णतः स्वयं और अपने वारिसों के लिए हमारे और हमारे वारिसों से सभी पहलुओं पर और सभी स्थानों पर हमेशा जैसाकि उपरोक्त कहा गया है, को धारण करेंगे । तथापि, नवाबों की ओर से और हमारी ओर से भी पूर्वोक्त इन सभी शर्तों को उपरोक्त नामित और कई अन्य साक्षियों के समक्ष – ऐसे घास के ऐसे मैदान में जिसे विण्डसर और स्टेन्स के मध्य रनीमेड कहा जाता है, हमारे शासन के सत्रहवें वर्ष में पंद्रह जून को सद्भाव में और कुआशय के बिना हमारी ओर से यह शपथ लिया गया है ।"

10. वर्ष 1948 में प्रारूपित अधिकारों की सार्वभौम घोषणा ने निम्नलिखित शब्दों में "न्याय तक पहुंच" से संबंधित दो अधिकारों को मान्यता प्रदान किया :–

"अनुच्छेद 8 – प्रत्येक व्यक्ति को संविधान द्वारा या विधि द्वारा उसे प्रदत्त मूल अधिकारों का अतिक्रमण करने वाले कार्यों के लिए सक्षम राष्ट्रीय अधिकरणों द्वारा प्रभावी उपचार प्राप्त करने का अधिकार है ।

अनुच्छेद 10 – प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों और दायित्वों के अवधारण में और अपने विरुद्ध किसी आपराधिक आरोप के संबंध में स्वतंत्र और निष्पक्ष अधिकरण द्वारा निष्पक्ष और लोक सुनवाई की पूर्ण समानता का हकदार है ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया)

11. अंतरराष्ट्रीय सिविल और राजनैतिक अधिकार प्रसंविदा, 1966 के अनुच्छेद 2 के खंड 3 का वही आशय है जिसमें यह उपबंध है कि प्रसंविदा के प्रत्येक राज्य पक्षकार यह वादा करेंगे कि ऐसे प्रत्येक व्यक्ति जिसके मान्यता प्राप्त अधिकारों या स्वतंत्रताओं का अतिक्रमण होता है, के पास प्रभावी उपचार होगा और यह सुनिश्चित किया जाए कि ऐसे उपचार का

दावा करने वाले किसी व्यक्ति के पास सक्षम न्यायिक, प्रशासनिक या विधायी प्राधिकारियों द्वारा अवधार्य अधिकार होगा और राज्य को न्यायिक उपचारों की संभाव्यताओं को विकसित करना भी सुनिश्चित करना चाहिए ।

12. प्रशासनिक कार्रवाई के न्यायिक पुनर्विलोकन पर डे स्थिम की पुस्तक (पांचवां संस्करण, 1995) में सिद्धांत को इस प्रकार कहा गया है :–

> "विधायी आशय की यह कामन ला उपधारणा है कि न्याययोग्य मुद्दों की बाबत क्वीन के न्यायालय की पहुंच को कानून में स्पष्ट शब्दों के सिवाय वंचित नहीं किया जाएगा ।"

13. विधिवेत्ता प्रो. कैप्पेलेटी रेबेल ने अपनी पुस्तक "एक्सेस टू जस्टिस" (खंड 1) में न्याय की पहुंच की सार्थकता को निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट किया है :–

> "नई सामाजिक अधिकारिताओं के साथ न्याय के प्रभावी पहुंच का अधिकार उद्भूत हुआ । निःसंदेह, इन नए अधिकारों में यह सर्वाधिक महत्व का है चूंकि स्पष्टतः पारंपरिक और नए सामाजिक अधिकारों के उपभोग के लिए उनके प्रभावी संरक्षण के तंत्र की पूर्व आवश्यकता होती है । तथापि, ऐसे संरक्षण का सर्वोत्तम आश्वासन न्यायिक प्रणाली की अवसंरचना के भीतर व्यवहार्य उपचार द्वारा किया जाए । इस प्रकार, न्याय के प्रभावी पहुंच को ऐसी प्रणाली के सर्वोत्तम आधारभूत अपेक्षा और सर्वाधिक मूल मानव अधिकार के रूप में देखा जा सकता है जो विधिक अधिकार के प्रत्याभूति का तात्पर्य रखता है ।"

14. इंग्लैंड के न्यायालयों में मैगना कार्टा के पश्चात् शताब्दियों तक कामन ला के मूल सिद्धांतों को विकसित किया जो सभी मनुष्यों के आधारभूत अधिकारों के रूप में प्रतिष्ठापित हैं । इन सिद्धांतों को समयावधि के दौरान बिल आफ राइट के रूप में और विभिन्न देशों के संविधानों में मान्यता प्रदान किया गया जो रोमन सूक्ति "जहां अधिकार है, वहां उपचार है" अर्थात् प्रत्येक अधिकार का जब उल्लंघन होता है तो उसे उपचार का अधिकार होना चाहिए, को स्वीकार किया गया है । न्यायिक निर्णयों में न्याय की पहुंच की अवधारणा पर गहन विश्लेषण किया गया और अन्य पहलुओं के साथ-साथ राज्य की उसके सभी नागरिकों को उनके संबद्ध विधिक अधिकारों के संबंध में उनके बीच विवादों के उचित और शांतिपूर्ण समाधान के लिए साधन उपलब्ध कराने की बाध्यता को स्पष्ट किया गया ।

आर. बनाम **सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फार होम डिपार्टमेंट, एक्स. पी. लीच**[1] वाले मामले में एल. जे. स्टेन को ऐसे कैदी के संबंध में विचार करना था जिसने यह शिकायत की थी कि ऐसे मुकदमे जिसमें वह अंतर्वलित था या जिसे वह चलाना चाहता था, के संबंध में अपने सालिसिटर से पत्राचार को कारागार नियम, 1964 के अधीन कारागार प्राधिकारियों द्वारा नियंत्रित किया जा रहा था । उसने अनुध्यात विधिक कार्यवाहियों के बारे में उसके और उसके सालिसिटर के बीच स्वतंत्र संवाद में अवरोध सृजित करने के लिए राज्य सचिव के प्राधिकार को चुनौती दी । न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि न्याय की पहुंच एक आधारभूत अधिकार है जिसे किसी प्रकार के हस्तक्षेप या बाधा द्वारा वंचित नहीं किया जा सकता या कम नहीं किया जा सकता । न्यायालय ने यह कहा :–

> "हमारी विधि का यह सिद्धांत है कि प्रत्येक नागरिक को न्यायालय की पहुंच का अबाधित अधिकार है । रेमंड **बनाम** हनी, [1983 ए. सी. 1 (1982) 1 आल ई. आर.] वाले मामले में लार्ड विल्वरफोर्स ने इसे 'आधारभूत अधिकार' कहा । हमारे अलिखित संविधान में भी, यह संवैधानिक अधिकार की पंक्ति का अधिकार है । रेमंड **बनाम** हनी वाले मामले में लार्ड विल्वरफोर्स ने यह कहा कि कारागार अधिनियम, 1952 में ऐसा कुछ नहीं है जो इस अधिकार में 'हस्तक्षेप करने' या इसके प्रयोग में 'बाधा डालने' की शक्ति प्रदान करता हो । लार्ड विल्वरफोर्स ने यह कहा कि ऐसे नियम जो इस सिद्धांत का पालन नहीं करते, अधिकारातीत होंगे । लार्ड इल्विन जॉनसन लार्ड रसेल आफ किलोवन इससे सहमत हैं । यह सही है कि लार्ड विल्वरफोर्स ने यह अभिनिर्धारित किया कि उचित रूप से संदर्भित नियम अधिकारातीत नहीं थे । किंतु वह मताभिव्यक्तियों के महत्व को प्रभावित नहीं करता । लार्ड ब्रिज ने यह अभिनिर्धारित किया कि उस मामले में प्रश्नगत नियम अधिकारातीत थे । उन्होंने लार्ड विल्वरफोर्स से आगे जाते हुए यह कहा कि नागरिकों के अबाधित पहुंच के अधिकार को व्यक्त अधिनियमिति द्वारा ही छीना जा सकता है.....। मुझे यह प्रतीत होता है कि लार्ड विल्वरफोर्स की मताभिव्यक्ति मामले के विनिश्चयाधार की पंक्ति की है और हम यह स्वीकार करते हैं कि ऐसे अधिकारों को आवश्यक विवक्षा द्वारा विधिक सिद्धांत के रूप में छीना जा सकता है ।"

---

[1] (1993) 4 आल ई. आर. 539.

15. भारत की विधिक स्थिति में भी कोई अंतर नहीं है । संविधान के प्रारंभ के काफी पूर्व इस देश के न्यायालयों द्वारा न्याय की पहुंच को मूल्यवान अधिकार के रूप में मान्यता प्रदान की गई । इस बाबत **लेलवेलियन इवान्स**[1] वाले मामले का प्रतिनिर्देश किया गया जिसमें इवान्स को एडेन में गिरफ्तार किया गया और आपराधिक न्यासभंग के आरोप में बम्बई लाया गया । इवान्स के विधिक सलाहकार को कैदी से मिलने की पहुंच से इनकार किया गया । मजिस्ट्रेट जिसने प्रतिप्रेषण का आदेश दिया यह अभिनिर्धारित किया कि उसे कारागार अधिनियम, 1894 की धारा 40 के होते हुए, पहुंच की मंजूरी देने की कोई अधिकारिता नहीं है ।

16. **पी. के. तरे** बनाम **एम्परर**[2] वाले मामले का भी निर्देश किया जा सकता है । यह ऐसा मामला था जहां याची ने 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन में भाग लिया है । निरोध की चुनौती प्राधिकारियों द्वारा विधिक सलाह लेने के लिए अपने काउंसेल से निर्णय की या व्यक्तिगत रूप से न्यायालय में आवेदन करने की अनुज्ञा न देने से इनकारी के कारण दोषपूर्ण होने के आधार पर दी गई थी । राज्य ने भारत सुरक्षा अधिनियम, 1939 पर आधारित अभिवाक् का विरोध किया जो उसके अनुसार दंड प्रक्रिया संहिता 1898 की धारा 491 के अधीन बंदी प्रत्यक्षीकरण याचिका पेश करने के निरुद्ध व्यक्ति के अधिकार को छीनता है । दलील को खारिज करते हुए और **इशुगबइ** बनाम **नाइजीरिया सरकार का प्रशासनिक अधिकारी** वाले मामले के लार्ड हेलसम की मताभिव्यक्ति का अवलंब लेते हुए न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि सुस्पष्ट और समुचित सावधानी के साथ संविधान के अधीन सुरक्षित तथा अतिप्रभावपूर्ण भाषा के साथ सर्वोच्च अधिकरण द्वारा बार-बार कायम रखे गए ऐसे मूल अधिकारों को कुछ अति-व्यापकता द्वारा या विवक्षा द्वारा हटाया नहीं जा सकता है । न्यायालय की मुख्य राय देते हुए न्यायमूर्ति विवियन बोस ने स्पष्ट किया कि भारतीय सुरक्षा अधिनियम, 1939 के होते हुए भी उच्च न्यायालय में आवेदन करने का अधिकार यथावत् बना हुआ है । उन्होंने आगे यह अभिनिर्धारित किया कि यद्यपि, न्यायालय कार्यपालिका को काफी हद तक छूट प्रदान करती है और स्वतंत्रता के पक्ष की अवधारणा कमजोर हो जाती है फिर भी वे अधिकार समग्रतः समाप्त नहीं हो जाते । न्यायालय ने यह आदेश दिया कि इन नियमों के छद्म में आवेदकों को न्यायालय से दूर रखने का प्रयास

---

[1] ए. आई. आर. 1926 बाम्बे 551.

[2] ए. आई. आर. 1943 नागपुर 26.

शक्ति का दुरुपयोग है और हस्तक्षेप की अपेक्षा है । न्यायमूर्ति बोस ने किसी व्यक्ति के न्यायालय में आवेदन करने के अधिकार के महत्व पर बल दिया और यह इच्छा व्यक्त की कि उसके साथ न्याय के अनुसार बर्ताव किया जाए । उन्होंने कहा :–

> "..... भारत में अधिकार को इंग्लैंड में या वस्तुतः साम्राज्य के किसी अन्य भाग से संभवतः कहीं किसी अन्य स्थान से अधिक यहां कुछ कम महत्व नहीं दिया गया है और न्यायालयों द्वारा उत्साहपूर्वक इसे सुरक्षित रखा गया है ।"

17. इस न्यायालय के विनिश्चयों में भी संविधान के अनुच्छेद 32 में स्वयं मूल अधिकार द्वारा मान्यताप्राप्त मूल्यवान संवैधानिक अधिकार के रूप में न्यायालय में आवेदन करने के नागरिक के अधिकार को सुस्पष्टतः मान्यता प्रदान किया गया । [भारत के संविधान के अनुच्छेद 143 के अधीन **केशव सिंह**[1] वाला मामला और **एल. चंद्र कुमार** बनाम **भारत संघ**[2] वाले मामले देखिए]

18. **हुसैनारा खातून** बनाम **बिहार राज्य**[3] वाले मामले में इस न्यायालय ने शीघ्र विचारण को अनुच्छेद 21 में प्रतिष्ठापित प्राण और स्वतंत्रता के मूल अधिकार का अभिन्न और आवश्यक भाग घोषित किया है । यह भी इंगित किया गया है कि अनुच्छेद 39क के अधीन निःशुल्क विधिक सेवा युक्तियुक्त, ऋजु और उचित प्रक्रिया का असंक्राम्य तत्व है और ऐसी सेवाओं का अधिकार अनुच्छेद 21 की प्रत्याभूति में निहित है ।

19. **इम्तियाज अहमद** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य**[4] वाले मामले जिसमें इस न्यायालय की दो न्यायाधीशों की न्यायपीठ जिसमें हममें से एक (न्यायमूर्ति ठाकुर) भी पक्षकार थे, इस न्यायालय ने इलाहाबाद उच्च न्यायालय के विद्वान् एकल न्यायाधीश द्वारा पारित अंतर्वर्ती आदेश जिसके द्वारा विद्वान् एकल न्यायाधीश ने प्रत्यर्थियों के विरुद्ध मामला दर्ज करने का निदेश देते हुए अपर मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा पारित आदेश पर रोक लगा दी थी, की शुद्धता की परीक्षा की । क्योंकि मामला उच्च न्यायालय के समक्ष लंबित बना हुआ था और सात वर्षों से या इसी प्रकार अधिक लंबे

---

[1] ए. आई. आर. 1965 एस. सी. 745.
[2] (1997) 3 एस. सी. सी. 261.
[3] (1980) 1 एस. सी. सी. 81.
[4] (2012) 2 एस. सी. सी. 688.

समय तक सुनवाई नहीं की गई थी और चूंकि भारत के विभिन्न उच्च न्यायालयों में इसी तरह के कई अन्य मामले लंबित थे जिसमें विचारण न्यायालय के समक्ष कार्यवाहियों पर रोक लगा दी गई थी यहां तक कि हत्या, बलात्संग, व्यपहरण और डकैती आदि जैसे जघन्य अपराधों के किए जाने के मामले थे, इस न्यायालय ने कार्यवाहियों की व्याप्ति को विस्तारित किया और उच्च न्यायालयों के महारजिस्ट्रारों को संबद्ध न्यायालयों में लंबित मामलों के आंकड़ों वाली रिपोर्ट प्रस्तुत करने का निदेश दिया जिसमें कार्यवाहियों को प्रथम इत्तिला रिपोर्ट के रजिस्ट्रीकरण और संविधान के अनुच्छेद 226 या दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 या 397 के अधीन शक्तियों के प्रयोग में आरोपों की विरचना के प्रक्रम पर रोक लगा दी गई है । उच्च न्यायालयों द्वारा इस प्रकार प्रस्तुत आंकड़ों के आधार पर इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि न्याय प्रशासन को विभिन्न प्रकार की समस्याओं से जूझना पड़ रहा है । उच्च न्यायालयों द्वारा उपलब्ध कराई गई सामग्री के आधार पर इस न्यायालय ने यह भी नोटिस किया कि मामलों के निपटान में असम्यक् काफी विलंब कारित हो रहा है जिसके परिणामस्वरूप आम आदमी के न्याय चाहने के अधिकार और विधि सम्मत नियम का खुल्लमखुल्ला अतिक्रमण हो रहा है । न्याय की पहुंच के महत्व पर बल देते हुए और अधिकार को भारत के संविधान के अनुच्छेद 21 से जोड़कर मूल अधिकार के रूप में मान्यता प्रदान करते हुए इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया :–

" .....

25. असम्यक् काफी विलंब से विधिसम्मत नियम का खुल्लमखुल्ला अतिलंघन और सामान्य व्यक्ति के न्याय के पहुंच के अधिकार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है । व्यक्ति की न्याय की पहुंच संविधान के अधीन विशेषकर अनुच्छेद 21 के अधीन प्रत्याभूत एक मूल अधिकार है । अधिकार से इनकार न्याय परिदान प्रणाली में आम जनता के विश्वास को कम करता है और व्यक्तियों को छोटे रास्ते या अन्य मंच की ओर निहारने के लिए प्रेरित करता है जहां वे यह महसूस करते हैं कि न्याय शीघ्र मिल जाएगा । काफी हद तक यह न्याय परिदान प्रणाली को भी कमजोर करता है और विधिसम्मत नियम के लिए जोखिम पैदा करता है ।

26. यह उजागर करना अयुक्तिसंगत नहीं होगा कि समतावादी लोकतंत्र में न्याय की पहुंच का अभिप्राय न्याय के गुणात्मक पहुंच के

अर्थ में लिया जाना चाहिए । अतः, न्याय की पहुंच व्यक्ति के न्यायालय के पहुंच को सुधार करने या प्रतिनिधित्व को गारंटी देने से काफी अधिक है । यह सुनिश्चित करने के निबंधनों में परिभाषित किया जाना चाहिए कि विधिक और न्यायिक परिणाम न्यायसंगत और साम्य हैं । [संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम, न्याय की पहुंच – व्यवहार टिप्पण (2004)]

27. यह मामला इस बात पर बल देने की आवश्यकता दर्शाता है कि "न्याय की पहुंच" विधिसम्मत नियम के लिए महत्वपूर्ण है जो विवक्षा द्वारा स्वतंत्र न्यायपालिका में पहुंच के अधिकार को सम्मिलित करता है । यह निवेदन किया गया है कि काफी समय तक अन्वेषण या विचारण का रोक विधिसम्मत नियम के सिद्धांत की प्रतिकूल है जिसमें नागरिकों के अधिकार और प्रत्याशाएं मामलों के शीघ्र समापन तक परस्पर जुड़ी हुई हैं । आगे यह निवेदन किया गया कि आपराधिक मामलों के निष्कर्ष में विलंब स्वयं न्याय के पहुंच के अधिकार पर निर्बंधन द्योतित करता है इस प्रकार, संविधान, विशेषकर अनुच्छेद 21 के अधीन नागरिकों के अधिकारों के अतिक्रमण के समान है ।"

20. न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि विधिसम्मत नियम, न्यायपालिका की स्वतंत्रता और न्याय तक पहुंच संकल्पनात्मकतः परस्पर जुड़े हुए हैं । न्यायालय ने अंतरराष्ट्रीय सिविल और राजनीतिक अधिकार प्रसंविदा तथा अंतरराष्ट्रीय दंड न्यायालय के कानून को भी निर्दिष्ट किया । उसने यूरोपियन संघ के मूल अधिकार चार्टर, 2007 के अनुच्छेद 47 और मानव अधिकार और मूलभूत स्वतंत्रता पर यूरोपियन कन्वेंशन, 1950 को भी निर्दिष्ट किया । यह अभिनिर्धारित करने के लिए **डेलकोर्ट** बनाम **बेल्जियम**[1] वाले मामले के मानव अधिकार यूरोपियन न्यायालय का अवलंब लिया गया कि न्याय तक पहुंच भारत के संविधान के अनुच्छेद 21 से संबंधित एक मूल अधिकार और मूल्यवान मानव अधिकार है । ऐसा उल्लेख करते हुए इस न्यायालय ने विधिसम्मत नियम और उच्च न्यायालयों द्वारा न्याय के बेहतर प्रशासन के बेहतर अनुरक्षण के लिए निदेश जारी किया । उसने भारत के विधि आयोग से अध्ययन करने और उपायों के संबंध में अपने सिफारिशें प्रस्तुत करने का निदेश दिया जो मामलों के ढेर के शीघ्र

---

[1] 1970 ई. सी. एच. आर. 1.

निपटान और विलंब को कम करने की सहायता के लिए बकाया मामलों को समाप्त करने के लिए तार्किक और वैज्ञानिक तरीकों सहित अन्य सहबद्ध उपायों तथा अतिरिक्त न्यायालयों के सृजन द्वारा उठाए जाने की आवश्यक हो ।

21. **बृजमोहन लाल** बनाम **भारत संघ और अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने यह घोषित किया कि अनुच्छेद 21 नागरिकों को शीघ्र और निष्पक्ष विचारण के अधिकार की गारंटी देता है । न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया :–

> "137. भारत के संविधान के अनुच्छेद 21 अपनी परिधि के भीतर शीघ्र और निष्पक्ष विचारण के अधिकार को समाहित करता है । संविधान का अनुच्छेद 39क नागरिकों के समान न्याय और निःशुल्क विधिक सहायता के अधिकार को मान्यता प्रदान करता है । संक्षेप में, सरकार का यह संवैधानिक कर्तव्य है कि वह देश के नागरिकों को ऐसा न्यायिक ढांचा और न्याय तक पहुंच का साधन उपलब्ध कराए जिससे कि प्रत्येक व्यक्ति शीघ्र, कम खर्चीला और निष्पक्ष न्याय प्राप्त करने में समग्र हो सके । आर्थिक परिसीमा या अवरोध के अभिवाक् को सरकार के संवैधानिक कर्तव्य के पालन से बचने के लिए विधिमान्य बहाने के रूप में न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता, विशेषकर तब जब ऐसे अधिकारों को नागरिकों के मानव अधिकार के आधारभूत और मूल रूप में स्वीकार किया गया हो ।"

22. **तमिलनाडु मर्कन्टाइल बैंक शेयरहोल्डर्स वेलफेयर एसोसिएशन** बनाम **एस. सी. सेकर और अन्य**[2] वाले मामले में इस न्यायालय ने यह घोषित किया कि व्यथित व्यक्ति को उपचार से हीन नहीं रखा जा सकता और यह कि न्याय तक पहुंच एक मानव अधिकार है और कतिपय स्थितियों में मूल अधिकार भी है ।

23. मूल अधिकार के रूप में न्यायिक अंतर्वस्तु और न्याय तक पहुंच के आधार को केवल न्यायिक निर्णयों द्वारा ही उपलब्ध नहीं कराया गया है बल्कि संविधान पुनर्विलोकन आयोग में यह सिफारिश की है कि न्याय तक पहुंच को व्यक्त मूल अधिकार में शामिल किया जाए जैसा यह दक्षिणी अफ्रीकी संविधान, 1996 में है । दक्षिणी अफ्रीकी संविधान का अनुच्छेद 34

---

[1] (2012) 6 एस. सी. सी. 502.

[2] (2009) 2 एस. सी. सी. 784.

इस प्रकार है :–

"अनुच्छेद 34 – न्यायालयों और अधिकरणों तक पहुंच और शीघ्र न्याय –

(1) प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा कोई विवाद करने का अधिकार है जिसका समाधान किसी न्यायालय या अधिकरण या फोरम या जहां समुचित हो किसी अन्य स्वतंत्र और निष्पक्ष न्यायालय, अधिकरण या फोरम के समक्ष निष्पक्ष सार्वजनिक सुनवाई में विनिश्चित विधि को लागू कर किया जा सकता है ।

(2) न्यायालयों तक पहुंच के अधिकार में न्यायालयों, अधिकरणों या अन्य फोरम के समक्ष सभी मामलों में युक्तिसंगत शीघ्र और प्रभावी न्याय का अधिकार सम्मिलित किया गया समझा जाएगा और राज्य उस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए सभी युक्तियुक्त कदम उठाएगा ।"

24. आयोग द्वारा तद्नुसार निम्नलिखित निबंधनों में संविधान में अनुच्छेद 30क के अंतःस्थापन का प्रस्ताव किया गया था :–

"30क. न्यायालयों और अधिकरणों तक पहुंच और शीघ्र न्याय –

(1) प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा कोई विवाद करने का अधिकार है जिसका समाधान किसी न्यायालय या अधिकरण या फोरम या जहां समुचित हो किसी अन्य स्वतंत्र और निष्पक्ष न्यायालय, अधिकरण या फोरम के समक्ष निष्पक्ष सार्वजनिक सुनवाई में विनिश्चित विधि को लागू कर किया जा सकता है ।

(2) न्यायालयों तक पहुंच के अधिकार में न्यायालयों, अधिकरणों या अन्य फोरम के समक्ष सभी मामलों में युक्तिसंगत शीघ्र और प्रभावी न्याय का अधिकार सम्मिलित किया गया समझा जाएगा और राज्य उक्त उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए सभी युक्तियुक्त कदम उठाएगा ।"

25. सिफारिश के पश्चात् अब तक प्रस्तावित अनुच्छेद 30क को सम्मिलित नहीं किया गया है किंतु यही नहीं, जो प्रस्तावित अनुच्छेद द्वारा जोड़ा जाना था वह पहले ही इस न्यायालय के न्यायिक निर्णयों द्वारा संविधान के अनुच्छेद 21 के अधीन प्राण के अधिकार के भाग के रूप में अभिस्वीकृत किया गया है । अनुच्छेद 30क का प्रस्तावित अंतःस्थापन

सामान्यतः एक औपचारिकता है जिसे पहले ही न्यायाधीशों और विधिवेत्ताओं ने मान्यता प्रदान किया है । न्यायमूर्ति वी. कृष्णा अय्यर ने अपनी अप्रतिम शैली में निम्नलिखित शब्दों में न्याय की पहुंच के महत्व को स्पष्ट किया :–

> "न्याय की पहुंच मानव अधिकार की नींव है और राज्य के नीति निदेशक तत्व बालू की रस्सी, मृग-मरीचिका और अवास्तविकता का वादा साबित होता है जब तक आम लोगों के लिए न्यायालय की पहुंच, उपचार प्राप्त करने और विधि और न्याय के फल का उपभोग करने के लिए प्रभावी साधन न हो ।"

26. **संक्षेप में** – न्याय की पहुंच को भारत में और संपूर्ण विश्व के सभी सभ्य समाजों में प्राण के अधिकार के अभिन्न भाग के रूप में माना जाता है और माना गया है । अधिकार इतना आधारभूत और असंक्राम्य है कि शासन की कोई प्रणाली संभवतः इसके महत्व की उपेक्षा नहीं कर सकती और अपने नागरिकों को इसे प्रदान करने से इनकार नहीं कर सकती । मैग्नाकार्टा, अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा, अंतरराष्ट्रीय सिविल और राजनैतिक अधिकार प्रसंविदा, 1966, "जहां अधिकार है वहां उपचार है" की प्राचीन रोमन न्यायशास्त्री सूक्ति, पिछली शताब्दियों से न्यायालयों के न्यायिक निर्णयों द्वारा कामन ला के मूल सिद्धांतों के विकास ने न्याय की पहुंच को आधारभूत और असंक्राम्य मानव अधिकार के रूप में स्वीकार किए जाने के संबंध में अपना योगदान दिया है जिसे सभी सभ्य समाज और व्यवस्थाओं में मान्यता प्रदान किया और प्रवृत्त किया ।

27. इस न्यायालय ने संविधान के अनुच्छेद 21 में आने वाले "प्राण" शब्द का व्यापक अर्थ और निर्वचन अपने अनेकों विनिश्चयों में किया । **मेनका गांधी** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने घोषित किया कि प्राण का अधिकार का अर्थ मात्र पशुवत अस्तित्व नहीं है बल्कि ऐसे सभी पहलुओं को सम्मिलित करता है जो प्राण को सार्थक और जीवन योग्य बनाते हैं । **सुनील बत्रा** बनाम **दिल्ली प्रशासन**[2] वाले मामले में एकांत परिरोध, कारावास उत्पीड़न और अभिरक्षीय मृत्यु के विरुद्ध अधिकार को प्राण के अधिकार के भाग के रूप में घोषित किया गया । **चार्ल्स शोभराज**

---

[1] (1978) 1 एस. सी. सी. 248.
[2] (1978) 4 एस. सी. सी. 494.

बनाम **अधीक्षक केंद्रीय कारागार**[1] वाले मामले में जेल की सलाखों के विरुद्ध अधिकार को संविधान के अनुच्छेद 21 के अधीन संरक्षित अधिकार घोषित किया गया । **खत्री II** बनाम **बिहार राज्य**[2] वाले मामले में निःशुल्क विधिक सहायता के अधिकार को संविधान के अनुच्छेद 21 के अधीन अधिकार के रूप में अभिनिर्धारित किया गया । **प्रेमशंकर शुक्ला** बनाम **दिल्ली प्रशासन**[3] वाले मामले में हथकड़ी के विरुद्ध अधिकार को अनुच्छेद 21 के अधीन अधिकार घोषित किया गया । इसी प्रकार, **रुदल शाह** बनाम **बिहार राज्य**[4] वाले मामले में अवैध और विधिविरुद्ध निरोध के लिए प्रतिकर के अधिकार को अनुच्छेद 21 और अनुच्छेद 14 के अधीन भी प्राण का अधिकार माना गया । **शीला वार्शे** बनाम **भारत संघ**[5] वाले मामले में इस न्यायालय ने शीघ्र विचारण को अनुच्छेद 21 के अधीन आवश्यक अधिकार घोषित किया । **परमानंद कटारा** बनाम **भारत संघ**[6] वाले मामले में आपातकालीन चिकित्सा सहायता के अधिकार को संविधान के अनुच्छेद 21 के अधीन संरक्षित होने के रूप में घोषित किया । **चमेली सिंह** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[7] और **शांति स्टार बिल्डर्स** बनाम **नारायण खिमालाल टोटमे**[8] वाले मामलों में आश्रय, कपड़े, उचित पर्यावरण और उचित आवास के अधिकार को प्राण के भाग के रूप में अभिनिर्धारित किया । **एम. सी. मेहता** बनाम **भारत संघ**[9] वाले मामले में स्वच्छ पर्यावरण के अधिकार को अनुच्छेद 21 के अधीन प्राण का अधिकार अभिनिर्धारित किया । **लता सिंह** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[10] वाले मामले में विवाह के अधिकार को संविधान के अनुच्छेद 21 के अधीन प्राण के अधिकार के भाग के रूप में अभिनिर्धारित किया । **सुचिता श्रीवास्तव** बनाम **चंडीगढ़ प्रशासन**[11] वाले मामले में प्रजनन विकल्प के अधिकार को प्राण का अधिकार घोषित किया । जबकि **सुखवंत**

---

[1] (1978) 4 एस. सी. सी. 104.
[2] (1981) 1 एस. सी. सी. 627.
[3] (1980) 3 एस. सी. सी. 526.
[4] (1983) 4 एस. सी. सी. 141.
[5] (1988) 4 एस. सी. सी. 226.
[6] (1989) 4 एस. सी. सी. 248.
[7] (1996) 2 एस. सी. सी. 549.
[8] (1990) 1 एस. सी. सी. 520.
[9] (1997) 1 एस. सी. सी. 388.
[10] (2006) 5 एस. सी. सी. 475.
[11] (2009) 9 एस. सी. सी. 1.

सिंह बनाम **पंजाब राज्य**[1] वाले मामले में, ख्याति के अधिकार को अनुच्छेद 21 के अधीन प्रत्याभूत प्राण के अधिकार के फलक के रूप में घोषित किया । **सुब्रह्मणयम् स्वामी** बनाम **भारत संघ** [2014 की रिट याचिका (दांडिक) सं. 184] वाले मामले में इस न्यायालय की संविधान न्यायपीठ के हाल ही के विनिश्चय में इस न्यायालय ने ख्याति को अनुच्छेद 21 के अंतर्निहित और अपृथक्करणीय संघटक के रूप में अभिनिर्धारित किया ।

28. उपरोक्त वर्णित निर्णयों ने अधिकारों के व्यापक परिप्रेक्ष्य में संविधान के अनुच्छेद 21 में आने वाले "प्राण" शब्द का निर्वचन किया और परिशीलन किया तथा प्राण के अधिकार के आनुषंगिक और/या अभिन्न अंगों पर विचार किया, ऐसा कोई वास्तविक कारण नहीं है कि क्यों न्याय तक पहुंच को उक्त अधिकारों के वर्ग और प्रवर्ग के बाहर समझा जाए जिसे पहले ही भारत के संविधान के अनुच्छेद 21 के अभिन्न भाग होने के रूप में माना गया है । यदि "प्राण" का अभिप्राय भौतिक अर्थ में केवल प्राण नहीं है किंतु अधिकारों का ऐसा समूह है जो जीवन को जीने योग्य बनाता है तो यह अभिनिर्धारित करने का ऐसा कोई विधिक या अन्य आधार नहीं है कि "न्याय तक पहुंच" का प्रत्याख्यान मानव जीवन के गुणवत्ता को प्रभावित नहीं करेगा जिससे कि न्याय तक पहुंच को अनुच्छेद 21 के अधीन प्रत्याभूत प्राण के अधिकार की परिधि से बाहर रखा जाए । अतः हमें यह अभिनिर्धारित करने में कोई हिचकिचाहट नहीं है कि न्याय तक पहुंच वस्तुतः संविधान के अनुच्छेद 21 के अधीन प्रत्याभूत प्राण के अधिकार का भाग है । हम केवल यह कहना आवश्यक समझते हैं कि न्याय तक पहुंच संविधान के अनुच्छेद 14 के अधीन प्रत्याभूत अधिकार का भी अंग हो सकेगा जो न केवल नागरिकों को बल्कि गैर नागरिकों को भी विधि के समक्ष समता और विधियों का समान संरक्षण प्रत्याभूत करता है । हम ऐसा इसलिए कह सकते हैं क्योंकि विधि के समक्ष समता और विधियों का समान संरक्षण ऐसी कार्यपालिक कार्रवाई जो विधि को प्रवृत्त करती है, की परिधि तक इसका लागू होना सीमित नहीं है । यह ऐसे न्यायालयों, अभिकरणों और न्यायनिर्णायक मंच की कार्यवाहियों के संबंध में भी उपलब्ध है जहां विधि लागू की जाती है और न्याय किया जाता है । अधिकारों और बाध्यताओं के अवधारण के लिए उपलब्ध कराए गए न्यायालयों या किसी अन्य न्यायनिर्णायक तंत्र तक पहुंचने में नागरिक की

---

[1] (2009) 7 एस. सी. सी. 559.

असमर्थता का परिणाम विधि के समक्ष समता और विधियों के समान संरक्षण दोनों के संबंध में अनुच्छेद 14 में अंतर्विष्ट गारंटी का प्रत्याख्यान है । यह कहना आवश्यक नहीं है कि किसी न्यायनिर्णायक तंत्र का अभाव या ऐसे तंत्र की अपर्याप्तता विधियों के समक्ष समता और विधियों के समान संरक्षण के अपने अधिकार को प्रवृत्त कराने वाले लोगों को निवारित करता है और तद्द्वारा विधियों के समक्ष समता या विधियों के समान संरक्षण की गारंटी को अस्वीकार करता है और इससे मात्र खिजाऊ भ्रम पैदा होता है । संविधान के अनुच्छेद 21 के अलावा, न्याय तक पहुंच को अनुच्छेद 14 में भी अंतर्विष्ट गारंटी का भाग कहा जा सकता है ।

29. आगे उस अधिकार की परिधि और अंतर्वस्तु क्या है, ऐसा अगला प्रश्न है जिसका उत्तर सिद्धांत के पूर्ण समझ और वास्तविक स्थिति के महत्व के संदर्भ में दिया जाना चाहिए ।

30. हमारी राय में, चार मुख्य पहलू जो न्याय तक पहुंच का तत्व गठित करते हैं, इस प्रकार हैं :–

(i) राज्य को प्रभावी न्यायनिर्णायक तंत्र उपलब्ध कराना चाहिए;

(ii) इस प्रकार उपलब्ध कराया गया तंत्र दूरी के निबंधनों में युक्तियुक्ततः पहुंच योग्य होना चाहिए ;

(iii) न्यायनिर्णयन की प्रक्रिया त्वरित होनी चाहिए ; और

(iv) न्यायनिर्णायक प्रक्रिया तक वादकारी की पहुंच वहन करने योग्य होनी चाहिए ।

(i) न्यायनिर्णायक तंत्र की आवश्यकता – नागरिकों को न्याय तक पहुंच उपलब्ध कराने के लिए एक सर्वाधिक मूल अपेक्षा ऐसे न्यायनिर्णायक तंत्र का गठन करना है जिसे न्यायालय, अधिकरण, आयोग या प्राधिकरण या चाहे किसी अन्य नाम से पुकारा जाए, जहां कोई नागरिक अपनी शिकायत कर सके या और न्यायनिर्णयन की मांग कर सके जिसे वह किसी अन्य नागरिक या राज्य द्वारा या उसके परिकरणों में से किसी एक द्वारा अपने अधिकार के भंग के रूप में मानता है । नागरिक के न्याय की पहुंच के अधिकार के संरक्षण के लिए इस प्रकार उपलब्ध कराया गया तंत्र न केवल प्रभावी होना चाहिए बल्कि अपने दृष्टिकोण में न्यायसंगत, उचित और वस्तुनिष्ठ भी होना चाहिए । इसी प्रकार, प्रक्रिया जो न्यायालय,

अभिकरण या प्राधिकरण अपने न्यायनिर्णयन के लिए अपनाए वह स्वयं उचित न्यायसंगत तथा नैसर्गिक न्याय के सामान्य सिद्धांतों को ध्यान में रखकर किया जाने वाला होना चाहिए ।

(ii) तंत्र दूरी के संदर्भ में सुगम्यतः पहुंच योग्य होना चाहिए – न्यायालयों/अधिकरणों के अधिक्रम को ध्यान में रखते हुए इस प्रकार उपलब्ध कराया गया मंच/तंत्र न्याय तक पहुंच के लिए दूरी के संदर्भ में युक्तियुक्ततः पहुंच योग्य होना चाहिए जिससे कि ऐसे अनुतोष के प्राप्ति के लिए न्यायालय/अधिकरण/सक्षम प्राधिकरण के समक्ष प्रभावी रूप से अपनी शिकायत रखने के लिए वादकारी समर्थ हो सके । [डी. के. बसू **बनाम** पश्चिमी बंगाल राज्य (2015) 8 एस. सी. सी. 774] वाला मामला देखिए ।

(iii) न्यायनिर्णयन की प्रक्रिया त्वरित होनी चाहिए – संवैधानिक मूल्य के रूप में "न्याय तक पहुंच" मात्र मृग-मरीचिका होगी यदि न्याय त्वरित न हो । यह सर्वविदित है कि विलंबित न्याय, न्याय न होने के बराबर है । यदि न्याय प्रशासन की प्रक्रिया इतनी समय खपाऊ, श्रमसाध्य, निष्क्रिय और उन लोगों के लिए विफलकारी जो न्याय चाहते हैं जैसाकि यह विकल्प के रूप में उस प्रक्रिया का अवलंब लेने पर विचार करने के लिए भी उन्हें हतोत्साहित करती है या विरत करती है, तो यह न केवल न्याय तक पहुंच से इनकार बल्कि स्वयं न्याय से इनकार के समान होगा । **शीला वार्शे** (उपरोक्त) वाले मामले में इस न्यायालय ने त्वरित विचारण को प्राण के अधिकार के पहलू के रूप में घोषित किया क्योंकि यदि किसी नागरिक का विचारण अनिश्चितकाल तक चलता है तो स्वयं उसके प्राण के अधिकार का अतिक्रमण है । एक ओर, आपराधिक मामले में शीघ्र विचारण से इनकार और दूसरी ओर, सिविल वाद, अपील या अन्य कार्यवाहियों के बीच न्यायशास्त्रीय रूप से कोई गुणात्मक अंतर नहीं है क्योंकि हम यह जानते हैं कि सिविल विवादों से कभी-कभी नागरिकों के प्राण या उनके गुणता पर समानतः यदि नहीं, तो अधिक गंभीर प्रभाव पड़ सकता है । अतः, न्याय तक पहुंच का कोई महत्व और उपयोगिता का संवैधानिक मूल्य होगा यदि नागरिक को न्याय का परिदान शीघ्र हो, अन्यथा न्याय तक पहुंच का अधिकार नागरिक के लिए उपयोगरहित या प्रेरणाहीन मात्र नारे से अधिक कुछ नहीं है । यह उल्लेख करना प्रशंसनीय है कि पिछले छह दशक या इससे

अधिक समय से देश में स्थापित न्यायालयों की संख्या में उस संख्या की तुलना में कई गुणा वृद्धि हुई है जो देश की स्वतंत्रता प्राप्ति की तारीख को विद्यमान थे । इस समय निरपवाद रूप से प्रत्येक तालुक और जिले में सिविल न्यायाधीश कनिष्ठ या वरिष्ठ डिवीजन का न्यायालय और प्रत्येक जिले में सेशन न्यायाधीश का न्यायालय है । ऐसी दूरी जो किसी नागरिक को तय करनी चाहिए, के दृष्टिकोण से पहुंच योग्यता के निबंधनों में हमने ब्रिटिश के देश छोड़ने के समय से काफी दूरी तय कर ली है । तथापि, साक्षरता, जानकारी, संपन्नता में वृद्धि और विधियों के अभिवृद्धि में न्यायनिर्णयन की प्रक्रिया को मुख्यतः कार्य की अधिकता और न्यायिक प्रक्रिया में कम कर्मचारी होने के कारण धीमा और समय खर्चीला बना दिया है जिसके फलस्वरूप न्यायालयों में फाइल किए जाने वाले मामलों की बढ़ती संख्या और अधीनस्थ न्यायालयों में तीन मिलियन मामलों से अधिक के मामलों के ढेर को प्रभावी रूप से निपटाने के लिए अपेक्षित मानव संसाधनों और अवसंरचना वाले अतिरिक्त न्यायालयों की सृजन की मांग है । जहां सिविल या आपराधिक विवादों के समाधान के लिए राज्यों में आधारभूत न्यायनिर्णायक तंत्र उपलब्ध कराने में अपना योगदान दिया है वहीं न्याय तक पहुंच अन्य देशों की तुलना में कम न्यायाधीश संख्या और न्यायाधीश मामले के अनुपात के कारण न्यायनिर्णय की प्रक्रिया को पूरा करने में विलंब के कारण बड़ा प्रश्नचिह्न बना हुआ है ।

(iv) **न्यायनिर्णयन की प्रक्रिया विवादकर्ताओं के वहनयोग्य होना चाहिए** – न्याय तक पहुंच पुनः भ्रम से अधिक कुछ नहीं होगा यदि उपलब्ध कराया गया न्यायनिर्णायक तंत्र इतना खर्चीला हो जो विवादकर्ताओं को इसका अवलंब लेने विरत करता हो । संविधान का अनुच्छेद 39क जरूरतमंद वादकारियों को विधिक सहायता उपलब्ध कराने के प्रशंसनीय उद्देश्य का संवर्धन करता है और राज्य को समाज के कम भाग्यशाली वर्ग के लिए वहनयोग्य न्याय तक पहुंच सुलभ कराने के लिए आबद्ध करता है । जरूरतमंद को विधिक सहायता पहुंचाने को माधव हैवाडनराव हॉसकार्ट **बनाम** महाराष्ट्र राज्य, (1978) 3 एस. सी. सी. 544 वाले मामले में न्याय तक पहुंच के एक फलक के रूप में मान्य ठहराया जहां इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया :–

"यदि किसी कैदी को कारावास से दंडादिष्ट किया जाता है तो वह वस्तुतः विधिक सहायता की कमी के कारण अपील जिसके अंतर्गत अपील करने की विशेष इजाजत है, के अपने संवैधानिक और कानूनी अधिकार का प्रयोग करने में वस्तुतः असमर्थ रहता है । संविधान के अनुच्छेद 21 के साथ पठित अनुच्छेद 142 और 39क के अनुसार न्यायालय में पूर्ण न्याय करने के लिए ऐसे कारावास में डाले गए व्यक्ति के लिए काउंसेल प्रदान करने की शक्ति निहित है । यह संहिता द्वारा प्रदत्त और संविधान के अनुच्छेद 136 द्वारा अनुज्ञात अपील के अधिकार की आवश्यक घटना है । यह निष्कर्ष निकालना अपरिहार्य है कि यह राज्य का कर्तव्य है न कि सरकार का परोपकार । समानतः यह भी विवक्षा की जानी चाहिए कि जहां विधिक सेवा फायदाग्राही के लिए निःशुल्क हो वहीं स्वयं अधिवक्ता को उसकी सेवाओं के लिए युक्तियुक्त पारितोषिक दिया जाना चाहिए । निश्चित ही, वृत्ति लोगों के प्रति सार्वजनिक प्रतिबद्धता है किंतु लोगों के लिए मात्र परोपकार काफी हद तक जीवंत नहीं रह सकता । उनकी सेवाएं विशेषकर जब वे राज्य की ओर से हैं तो उनके लिए संदत्त होनी चाहिए । वास्तविकतः, संबद्ध राज्य को ऐसी युक्तियुक्त राशि देनी चाहिए जो न्यायालय कैदी के लिए काउंसेल नियुक्त करते समय नियत करे । वस्तुतः न्यायालय स्थिति का अवगाहन करे और सभी दृष्टि से यह विचार करे कि क्या किसी विशिष्ट मामले में विधिक सहायता उपलब्ध कराना न्याय के प्रयोजन के लिए आवश्यक है । ऐसे प्रत्येक देश में जहां निःशुल्क विधिक सेवाएं दी जाती हैं यह सभी मामलों में नहीं होता है बल्कि केवल वहीं होता है जहां अन्यथा सार्वजनिक न्याय ग्रस्त होता है । ऐसा विवेकाधिकार न्यायालय में निहित होता है ।"

31. कुछ हद तक न्याय तक पहुंच की वहन योग्यता पर ध्यान विधिक सेवा प्राधिकरण अधिनियम, 1987 के अधीन राज्य प्रायोजित विधिक सहायता कार्यक्रमों द्वारा दिया जाता है । विधिक सहायता कार्यक्रमों द्वारा न्यायालय में न्याय तक पहुंचने में समाज के दुर्बलतम वर्गों को अधिक जरूरतमंद सहायता उपलब्ध कराई जा रही है ।

32. अब हम हमें निर्दिष्ट प्रश्न के दूसरे पहलू पर विचार करते हैं कि

क्या भारत के संविधान के अनुच्छेद 142 के साथ पठित अनुच्छेद 32 उच्चतम न्यायालय को ऐसी स्थिति में जहां केंद्रीय सिविल प्रक्रिया संहिता या केंद्रीय दंड प्रक्रिया संहिता के अधीन जम्मू-कश्मीर राज्य को/से ऐसे अंतरण की शक्ति प्रदान नहीं की गई है, अंतरण करने का निदेश देने के लिए सशक्त करता है । ऐसे कई स्थितियों में प्रायः एक न्यायालय से दूसरे न्यायालय को मामलों को अंतरित करने की आवश्यकता उद्भूत होती है जहां सिविल प्रक्रिया संहिता या दंड प्रक्रिया संहिता के अधीन उन्हें उपलब्ध शक्तियों का प्रयोग करते हुए अंतरण करने का निदेश देने के सक्षम न्यायालयों द्वारा युक्तियुक्ततः उपयोग किया जाता है । पक्षकारों और साक्षियों की सुविधा प्रायः ऐसा अंतरण करने का निदेश देने हेतु न्यायालयों के लिए मुख्य कारण होता है । यह महत्वपूर्ण है कि जहां देश के शेष भाग में न्यायालय सिविल प्रक्रिया संहिता और दंड प्रक्रिया संहिता के उपबंधों के अधीन सिविल/आपराधिक मामलों के अंतरण के आवेदनों पर विचार करते हैं वहीं यह तथ्य कि जम्मू-कश्मीर राज्य से या राज्य को अंतरित करने के लिए ऐसा समर्थ बनाने वाला कोई उपबंध नहीं है, ऐसे अंतरित करने का निदेश देने के वरिष्ठ न्यायालय की शक्ति को विपथित नहीं करता । यह राय है कि ऐसा निदेश न्याय के हित को पूरा करने के लिए आवश्यक है । दूसरे शब्दों में यदि एक न्यायालय से दूसरे न्यायालय को अंतरित करने का निदेश देने के लिए न्यायालय को सशक्त करने वाले उपबंध को कानून से हटा दिया जाए तो अब भी वरिष्ठ न्यायालयों को ऐसे समुचित मामलों में ऐसे अंतरण का निदेश देने के लिए सक्षम होंगे जहां तक ऐसे न्यायालयों का समाधान हो जाता है कि ऐसे अंतरण से इनकार का परिणाम प्रस्तुत स्थिति में वादकारी को न्याय तक पहुंच के अधिकार का अतिक्रमण है ।

33. यदि न्याय तक पहुंच संविधान के अनुच्छेद 21 के अधीन प्रत्याभूत प्राण के अधिकार का एक पहलू है तो उस अधिकार का वास्तविक या जोखिमग्रस्त अतिक्रमण संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन इस न्यायालय की शक्तियों का अवलंब लेने के लिए न्यायोचित होगा । उस अनुच्छेद के अधीन न्यायालय में निहित शक्ति का प्रयोग, ऐसी स्थितियों से निपटने के लिए जहां कानूनी उपबंधों में ऐसे अंतरण का उपबंध नहीं है, एक न्यायालय से दूसरे न्यायालय में मामले के अंतरण का निदेश के रूप में हो सकता है । कोई ऐसा प्रयोग विधिसम्मत होगा क्योंकि यह संविधान के अनुच्छेद 21 के अधीन प्रत्याभूत नागरिकों के मूल अधिकार के अतिक्रमण को निवारित करेगा ।

34. अनुच्छेद 32 के अलावा भी संविधान के अनुच्छेद 142 का अवलंब एक न्यायालय से दूसरे न्यायालय को किसी मामले का अंतरण का निदेश देने के लिए लिया जा सकता है, भी **यूनियन कार्बाइड कारपोरेशन** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले में इस न्यायालय की संविधान न्यायपीठ विनिश्चय द्वारा स्थिर किया गया है । उस मामले में विचारार्थ एक प्रश्न यह था कि क्या यह न्यायालय अनुच्छेद 136 और 142 के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए निचले न्यायालय में लंबित मामले को वापस ले सकता है और उसे अंतिम रूप से निपटा सकता है यद्यपि अनुच्छेद 139क न्यायालय को ऐसा करने की शक्ति प्रदान नहीं करता । प्रश्न का सकारात्मक उत्तर देते हुए, इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि मामलों का अंतरण करने की शक्ति संविधान के अनुच्छेद 139क के अधीन समाप्त नहीं हो जाती । इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि अनुच्छेद 139क वादकारी को कार्यवाहियों को अंतरित करने की मांग करने के लिए समर्थ बनाता है यदि अनुच्छेद में वर्णित शर्तें पूरी होती हैं । उक्त अनुच्छेद संविधान के अनुच्छेद 136 और 142 के अधीन इस न्यायालय को उपलब्ध व्यापक शक्तियों को प्रभावित करने का न तो आशय रखता है न ही यह लागू होता है । निर्णयों के निम्नलिखित दो पैराग्राफ इस बाबत युक्तिसंगत हैं :–

> "61. सर्वोच्च न्यायालय को मामलों के प्रत्याहरण और अंतरण की शक्ति जहां तक न्यायालय की राय में अनुच्छेद 136 और 142(1) के महान प्रयोजन को कारगर बनाने के प्रयोजन के लिए आवश्यक है, वहां तक अनुच्छेद 139क के अधीन वाली शक्ति प्रत्याहरण और अंतरण की शक्ति को निःशेषित करने वाली न मानी जाए । यहां यह उल्लेख करना सुसंगत है कि अनुच्छेद 139क 42वें संविधान संशोधन की स्कीम के भागरूप समाविष्ट किया गया था । उस संशोधन के अनुसार अनुच्छेद 131क, 139क और 144क को अंतःस्थापित करके केंद्रीय विधियों की सांविधानिक विधिमान्यता को अवधारित करने की अनन्य अधिकारिता उच्चतम न्यायालय में निहित करना प्रस्तावित था । किंतु अनुच्छेद 131क और 144क को 43वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1977 द्वारा विलुप्त कर दिया गया और अनुच्छेद 139क को यथावत् छोड़ दिया गया । यह अनुच्छेद मुकदमे के पक्षकारों को कार्यवाहियों के अंतरण के लिए सर्वोच्च न्यायालय में जाने को समर्थ बनाता है यदि इस अनुच्छेद में परिकल्पित शर्तें पूरी

---

[1] (1991) 4 एस. सी. सी. 584.

हो जाती हैं । अनुच्छेद 139क का आशय संविधान के अनुच्छेद 136 और 142 के अधीन वर्तमान व्यापक शक्तियों को घटाना नहीं था और न ही उसे कम करने के लिए वह प्रवर्तित होता है ।"

35. इस प्रश्न पर विचार करते हुए कि क्या किसी साधारण कानून में अंतर्विष्ट कोई उपबंध संविधान के अनुच्छेद 142 के अधीन शक्तियों के प्रयोग को प्रभावित करेगा, इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 142 के अधीन संवैधानिक शक्ति का कुल मिलाकर भिन्न स्तर है और यह कि साधारण कानून उस शक्ति के प्रयोग को नियंत्रित नहीं कर सकता । बहुमत की ओर से निर्णय लेते हुए तत्कालीन माननीय न्यायमूर्ति वैंकटचलैया ने यह मत व्यक्त किया :–

"अनुच्छेद 142 के अधीन वाली शक्ति पूरी तरह भिन्न स्तर पर है और एक भिन्न गुणवत्ता की है । साधारण विधियों में अंतर्विष्ट प्रतिषेध या परिसीमाएं या उपबंध अनुच्छेद 142 के अधीन वाली शक्ति पूरी तरह भिन्न स्तर पर है और एक भिन्न गुणवत्ता की है । साधारण विधियों में अंतर्विष्ट प्रतिषेध या परिसीमाएं या उपबंध अनुच्छेद 42 के अधीन सांविधानिक शक्तियों पर स्वबल से प्रतिषेध या परिसीमाओं के रूप में लागू नहीं हो सकते । कानूनों में ऐसे प्रतिषेध या परिसीमाएं उस प्राधिकरण या न्यायालय की प्रकृति और प्रास्थिति को ध्यान में रखते हुए, जिसको एक समुचित तरीके से सीमित शक्ति प्रदान करना अनुध्यात है, विशिष्ट विधि की स्कीम को लेखबद्ध और प्रतिबिम्बित कर सकती है । यह आवश्यक नहीं है कि परिसीमाएं लोकनीति की मूलभूत विचारणाओं को प्रतिबिम्बित करती हों या उन पर आधारित हों ।

किंतु हमारा विचार है कि ऐसे प्रतिषेध के बारे में यह भी दर्शित किया जाए कि वह लोकनीति की किसी अंतर्निहित मूलभूत और सामान्य मुद्दों पर आधारित है न कि किसी विशिष्ट कानूनी स्कीम या पद्धति का अनुषंगी मात्र । पुनः, यह कहना भी पूरी तरह गलत होगा कि अनुच्छेद 142 के अधीन वाली शक्तियां ऐसे अभिव्यक्त कानूनी प्रतिषेधों के अधीन हैं । इससे यह विचार संप्रेषित होगा कि कानूनी उपबंध सांविधानिक उपबंधों पर अध्यारोही हैं । इससे यह विचार संप्रेषित होगा कि कानूनी उपबंध सांविधानिक उपबंधों पर अध्यारोही हैं । कदाचित, इस विचार को व्यक्त करने का सही तरीका यह है कि अनुच्छेद 142 के अधीन वाली शक्तियों का प्रयोग करते हुए और वाद या विषय के पूर्ण न्याय की शक्तियों का आंकलन करते समय

सर्वोच्च न्यायालय लोकनीति के मूलभूत सिद्धांतों पर आधारित किसी अधिष्ठायी कानूनी उपबंध में अंतर्विष्ट किसी अभिव्यक्त प्रतिषेध को भी ध्यान में रखेगा और अपनी शक्ति और विवेकाधिकार का प्रयोग तद्नुसार विनियमित करेगा । यह प्रतिपादना अनुच्छेद 142 के अधीन न्यायालय की शक्तियों के बारे में नहीं है बल्कि इस बारे में है कि वाद या विषय का पूर्ण न्याय क्या है और क्या नहीं है और इस शक्ति के प्रयोग के औचित्य के अंतिम विश्लेषण में अधिकारिता का या अकृतता का प्रश्न उत्पन्न नहीं हो सकता ।"

36. वर्तमान मामलों में जम्मू-कश्मीर राज्य के न्यायालय से राज्य के बाहर के किसी न्यायालय को या इसके विपरीत मामलों को अंतरित करने का निदेश देने की अनुच्छेद 142 के अधीन शक्ति का उपयोग करने के विरुद्ध कोई प्रतिषेध नहीं है । कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि उन आधारों से जिनका उल्लेख हमने पहले किया है, के कारण ऐसा कोई समर्थकारी उपबंध नहीं है । तथापि, किसी समर्थकारी उपबंध के अभाव का अर्थान्वयन जम्मू-कश्मीर राज्य से या को मामलों के अंतरण के विरुद्ध प्रतिषेध के रूप में नहीं किया जा सकता । किसी भी दशा में, मात्र प्रतिषेध पर्याप्त नहीं है । समानतः यह महत्वपूर्ण है कि क्या ऐसे किसी प्रतिषेध के पीछे लोकनीति का कोई मूल सिद्धांत छिपा है । प्रस्तुत मामलों में ऐसा कोई प्रतिषेध नहीं है न ही ऐसी कोई लोकनीति देखी जा सकती है यही नहीं किसी मूल सिद्धांत पर आधारित कोई लोकनीति नहीं है । अतः, संविधान के अनुच्छेद 142 के अधीन इस न्यायालय को उपलब्ध असाधारण शक्ति का अवलंब ऐसी किसी स्थिति में लिया जा सकता है जहां न्यायालय का यह समाधान हो जाए कि जम्मू-कश्मीर राज्य में न्यायालय से या न्यायालय को मामले को अंतरित करने का आदेश देने से इनकार किसी नागरिक के उसके न्याय तक पहुंच के अधिकार से इनकार करता है । अतः, अनुच्छेद 32, 136 और 142 के उपबंध ऐसी समुचित स्थितियों में अंतरण का निदेश देने के लिए इस न्यायालय को पर्याप्त शक्ति प्रदान करते हैं चाहे केंद्रीय सिविल प्रक्रिया संहिता और दंड प्रक्रिया संहिता में राज्य को विस्तारित नहीं है न ही राज्य सिविल प्रक्रिया संहिता और राज्य दंड प्रक्रिया संहिता में ऐसा कोई उपबंध नहीं है जो इस न्यायालय को मामलों को अंतरित करने की शक्ति प्रदान करता हो । तद्नुसार, हम हमारे समक्ष निर्दिष्ट प्रश्न का सकारात्मक उत्तर देते हैं ।

37. अब अंतरण याचिकाओं को उपरोक्त अभिव्यक्त मत को ध्यान में रखते हुए गुणागुण के आधार पर सुनवाई और निपटान के लिए नियमित न्यायपीठ के समक्ष सूचीबद्ध किया जाए ।

मामलों का निपटान किया गया ।

पा.

[2017] 1 उम. नि. प. 103

संतोष सिंह

बनाम

भारत संघ और अन्य

22 जुलाई, 2016

मुख्य न्यायमूर्ति टी. एस. ठाकुर और न्यायमूर्ति (डा.) डी. वाई. चंद्रचूड़

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 25 और अनुच्छेद 51क(च) – नैतिक शिक्षा – राष्ट्रीय हित में नैतिक मूल्यों को मन में बैठाने और राष्ट्रीय भावना को पोषित करने के लिए कक्षा 1 से 12 के पाठ्यक्रम में अनिवार्य विषय के रूप में नैतिक विज्ञान को सम्मिलित करने का परमादेश जारी नहीं किया जा सकता क्योंकि शिक्षा प्रदान करने और शिक्षा नीति को लागू करने का उत्तरदायित्व कार्यपालिका पर है जो ऐसे विशेषज्ञों जिनके पास समाज, शिक्षा और छात्रों से संबंधित विशेषज्ञता प्राप्त है, की सिफारिशों पर कार्य करता है ।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली शिक्षा का सही प्रयोजन पूरा नहीं करती जिसका उद्देश्य सद् मानव पैदा करना है । याची का यह अनुरोध है कि राज्य ऐसी शैक्षिक सुविधाएं उपलब्ध कराने का प्रयास करने के संवैधानिकतः बाध्यताधीन है जो प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में नैतिक मूल्य पैदा करती हो । यह तर्क किया गया है कि केंद्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड और राष्ट्रीय शिक्षा नीति द्वारा विहित पाठ्यक्रम में "नैतिक शिक्षा" को पर्याप्त प्रास्थिति प्रदान नहीं की गई है । याची का यह निवेदन है कि अनिवार्य विषय के रूप में नैतिक विज्ञान को सम्मिलित करने की असफलता संविधान के उस अनुच्छेद 25 का अतिक्रमण करती है जो अंतःकरण की स्वतंत्रता और धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण और

प्रचार के मूल अधिकार को मान्यता प्रदान करता है । यह अनुच्छेद 51क(च) में अंतर्विष्ट मूल कर्तव्यों के प्रतिकूल है । राष्ट्र के नैतिक ढांचे को संरक्षित करने की आवश्यकता से प्रभावित होकर, याची नैतिक मूल्यों पैदा करने और राष्ट्रीय हित में राष्ट्रीय प्रवृत्ति पोषित करने के लिए कक्षा एक से कक्षा आठ तक विद्यालय शिक्षा के पाठ्यक्रम में अनिवार्य विषय के रूप में नैतिक विज्ञान को समाविष्ट करने के लिए परमादेश की मांग करती है । उच्चतम न्यायालय द्वारा रिट याचिका खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – शिक्षा वस्तुतः व्यक्ति के विकास का एक महत्वपूर्ण उपकरण है और यह राष्ट्र निर्माण में भी बहुत सहायक है । तकनीक ने पारंपरिक अवरोधों को प्रभावित किया है और विश्व सूचना क्षेत्र का वैश्विक नेटवर्क समुदाय हो गया है । वे चुनौतियां जो शिक्षा पद्धति के सामने हैं, शीघ्रता से विकसित हो रही हैं और संभवतः इतनी शीघ्रता से कि हमारी शैक्षिक प्रणाली के लिए उनसे निपटने के लिए व्यावहारिक समाधान विकसित करने की आवश्यकता है । मूल्य आधारित शिक्षा प्रदान करने की आवश्यकता के बारे में कोई विवाद नहीं हो सकता है, यह किस रूप में होनी चाहिए और ऐसी रीति जिसमें मूल्यों को मन में बैठाया जाए, का आदेश न्यायालय द्वारा नहीं दिया जाना चाहिए । अकेले न्यायालय ऐसा करने की दक्षता से हीन है । याची को इस बारे में शिकायत है जिसे वह हमारे समाज में भौतिकवाद की संस्कृति की व्याप्ति के रूप में उल्लेख करती है । अनुच्छेद 32 के अधीन इस न्यायालय की अधिकारिता सभी बुराइयों के लिए रोगहर नहीं है बल्कि मूल अधिकारों के अतिक्रमण का केवल उपचार है । ऐसे बोधगम्य शिकायतों के लिए उपचार कहीं अन्यत्र है जैसा याची ने भौतिकवाद के प्रबल अस्तित्व का उल्लेख किया है और यह उन लोगों के लिए है जिनके पास ऐसी समस्याओं से निपटने की क्षमता है और शैक्षिक नीतियों को अधिकथित करने और लागू करने का संवैधानिक कर्तव्य है । लोक हित याचियों की यह मान लेने की प्रवृत्ति है कि प्रत्येक अच्छी बात जो समाज को स्वीकार कर लेनी चाहिए, न्यायालय के माध्यम से ही प्राप्त की जा सकती है । न्यायिक प्रक्रिया से संवैधानिक या विधिक उल्लंघनों का ही उपचार किया जाता है । लोक हित वाद सुने जाने के अधिकार के कठोर नियमों में शिथिलीकरण अनुज्ञात करते हैं । तथापि, न्यायालय को वस्तुतः ऐसे पैरामीटर का पालन करना चाहिए जो न्यायिक शक्ति के सूक्ष्म प्रयोग को शासित करते हैं । अतः जहां न्यायालय के समक्ष सुशासन के मुद्दों को लाने का प्रयास किया जाता है, ऐसी आधारभूत

कसौटी, जिस पर अधिकारिता का अवलंब लिया जाना चाहिए, यह है कि क्या मुद्दे पर विधि या संविधान की अवसंरचना के भीतर संबोधित किया जा सकता है । नीति का विषय राज्य की कार्यपालिका अंग को सौंपा गया है । न्यायालय का संबंध विधि के नियम के संरक्षण से है । नैतिकता कुछ लोगों को बहुत महत्वपूर्ण प्रतीत होती है किंतु अब भी यह मूल्यों की संरचना का मात्र एक तत्व है जो समाज आचरण करना चाहता है । समानतः अन्य महत्वपूर्ण मूल्य हैं जो एक लोकतांत्रिक समाज अपने नवयुवकों को शिक्षा देना चाहता है । उनमें से विचारों की बहुलता और विभिन्नता, दृष्टिकोण और आस्था जिन्हें दुर्भाग्यवश वैश्विक धमकी का सामना करना पड़ता है, की स्वीकृति है । पुनः, ऐसे उन लोगों में सहने की क्षमता जो मूलतः भिन्न मत रखते हैं, उन लोगों के प्रति तद्नुभूति रखते हैं जो आर्थिक और सामाजिक परिवेश के कारण हाशिए पर हैं, उस सहजजात मानवता जो प्रत्येक मानव में है, के प्रति अनुकंपा और बोध की भावना पैदा करने की आवश्यकता है । मूल्य आधारित शिक्षा हमारे नवयुवकों को उस पक्षपात, घृणा और भेदभाव के भयंकर परिणामों के प्रति जागरूक करने वाली होनी चाहिए जो संपूर्ण विश्व के लोगों और समाज में भय पैदा किए हुए हैं । मूल्यों के प्रचार की अवधारणा को परिभाषित करने के रूप में नैतिकता एकपक्षीय होने के कारण खतरनाक हो सकती है जो नवयुवकों को उसी धर्म सिद्धांत का प्रचार करती है जो भौतिकवाद के सिद्धांत को अस्वीकार करने वाले लोग परिवर्तित करना चाहते हैं । तथापि, स्वयं नैतिकता एक ऐसी धारणा है जिसके भिन्न-भिन्न रंग हैं । न्यायालय के लिए यह मान लेना अवास्तविक है कि यह ऐसे उलझाऊ मुद्दों का समाधान उपलब्ध करा सकता है जिसमें परस्पर विरोधी आयामों के बीच संतुलन निकालना है जो विधिक परिधि के परे हैं । न्यायालय का संबंध संवैधानिकता और विधिकता के मुद्दों से है । यह स्वीकार करना कठिन है कि ऐसे विषय जिनके समाधान वैचारिकता, समाज सिद्धांत, नीति निर्धारण के क्षेत्रों में हैं और विद्यालय शिक्षा में किसी विशिष्ट विषय में शिक्षा की स्कीम को प्रवृत्त करने के लिए परमादेश जारी करने जैसे प्रयोग द्वारा इस न्यायालय द्वारा नियमित नहीं किया जा सकता है । क्या कोई विषय कतई बढ़ाया जाना चाहिए ? क्या किसी शिक्षा प्रणाली में प्रबंध के पृथक् विषय के रूप में मूल्यों के सेट या जिज्ञासा और जानकारी को सम्मिलित किया जाना चाहिए ? क्या संपूर्ण विद्यमान विषयों में मूल्यों के क्षैतिज समेकन से बेहतर वांछनीय परिणाम प्राप्त होगा ? क्या पहले से ही बोझिल विद्यालय पाठ्यक्रम में अध्ययन के विषय के रूप में एक अन्य विषय अधिरोपित

करना कतई वांछनीय है ? ये ऐसे उलझाऊ मुद्दे हैं जिनके एक से अधिक उचित समाधान निकल सकते हैं । उचित ही यही कारण है कि ऐसे विषयों के समाधान उन लोगों द्वारा निकाला जाना चाहिए जिनके पास पढ़ाने और शिक्षा के विषयों को लागू करने का उत्तरदायित्व है । न्यायालय द्वारा ऐसी सभी अच्छी बातों का अधिदेश नहीं दिया जा सकता जिन्हें समाज के हित में माना जाता है । न ही ऐसी सभी सामाजिक बुराइयों का उत्तर न्यायिक प्रक्रिया में है जिसे याची लोक हित में होना मानता है । वर्तमान जैसा विषय जिसका समाधान विधिक या संवैधानिक अवसंरचना में नहीं है, पर विचार न्यायिकतः प्रबंधयोग्य मानक के अनुसार किया जाना असंभव है । (पैरा 15, 17, 18, 21, 22 और 23)

अपीली (सिविल) अधिकारिता : 2014 की रिट याचिका (सिविल) सं. 1028.

संविधान, 1950 के अनुच्छेद 32 के अधीन रिट याचिका ।

याची की ओर से स्वयं उपस्थित

प्रत्यर्थी की ओर से सर्वश्री एन. के. कौल, अपर महा-सालिसिटर, ए. के. सांघी, ज्येष्ठ अधिवक्ता, कपिल रस्तोगी, जी. एस. मक्कर, कमल मोहन गुप्ता, तारा चंद्र शर्मा, सुश्री नीलम शर्मा, राजीव शर्मा, सुश्री पंखुरी श्रीवास्तव और रुपेश कुमार अधिवक्ता

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति (डा.) डी. वाई. चंद्रचूड़ ने दिया ।

न्या. (डा.) चंद्रचूड़ – याची इस न्यायालय के समक्ष प्रैक्टिस करने वाला एडवोकेट ऑन रिकार्ड है । संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन अधिकारिता का अवलंब लेते हुए याची का यह कथन है कि वह "जीवन के सभी पहलुओं को छूने वाली समाज के शीघ्रता से क्षीण हो रहे नैतिक मूल्यों से बहुत दुखी है जहां किसी भी प्रकार से धन कमाना समाज का एक मात्र उद्देश्य हो गया है" ।

2. याची की यह शिकायत है कि वर्तमान शिक्षा प्रणाली शिक्षा का सही प्रयोजन पूरा नहीं करती जिसका उद्देश्य सद् मानव पैदा करना है । याची का यह अनुरोध है कि राज्य ऐसी शैक्षिक सुविधाएं उपलब्ध कराने

का प्रयास करने के संवैधानिकतः बाध्यताधीन है जो प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में नैतिक मूल्य पैदा करती हो । यह तर्क किया गया है कि केंद्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड ("सी. बी. एस. ई.") और राष्ट्रीय शिक्षा नीति द्वारा विहित पाठ्यक्रम में "नैतिक शिक्षा" को पर्याप्त प्रास्थिति प्रदान नहीं की गई है । याची का यह निवेदन है कि अनिवार्य विषय के रूप में नैतिक विज्ञान को सम्मिलित करने की असफलता संविधान के उस अनुच्छेद 25 का अतिक्रमण करती है जो अंतःकरण की स्वतंत्रता और धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण और प्रचार के मूल अधिकार को मान्यता प्रदान करता है । यह अनुच्छेद 51क(च) में अंतर्विष्ट मूल कर्तव्यों के प्रतिकूल है । राष्ट्र के नैतिक ढांचे को संरक्षित करने की आवश्यकता से प्रभावित होकर, याची नैतिक मूल्यों को पैदा करने और राष्ट्रीय हित में राष्ट्रीय प्रवृत्ति पोषित करने के लिए कक्षा एक से कक्षा आठ तक विद्यालय शिक्षा के पाठ्यक्रम में अनिवार्य विषय के रूप में नैतिक विज्ञान को समाविष्ट करने के लिए परमादेश की मांग करती है ।

3. इन कार्यवाहियों में प्रत्यर्थी मानव संसाधन विकास मंत्रालय के माध्यम से भारत संघ और सी. बी. एस. ई. है । तरीख 2 फरवरी, 2015 को इस न्यायालय द्वारा जारी नोटिस के उत्तर में, इस न्यायालय के समक्ष सी. बी. एस. ई. द्वारा प्रति-शपथपत्र फाइल किया गया है । विद्वान् अपर महा-सालिसिटर का यह कथन है कि भारत संघ सी. बी. एस. ई. द्वारा फाइल शपथपत्र को स्वीकार करती है ।

4. 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति में शिक्षा के मूल्यों पर विचार करते हुए यह उल्लेख किया गया है :–

> "8.4 समाज में मूलभूत मूल्यों की कमी पर बढ़ती चिंता और बढ़ती कटुता ने सामाजिक और नैतिक मूल्यों के पोषण के लिए शिक्षा को एक मजबूत हथियार बनाने के लिए पाठ्यक्रम में पुनः समायोजन की आवश्यकता पर फोकस किया है ।
>
> 8.5 हमारे सांस्कृतिक बहुल समाज में, शिक्षा को हमारे लोगों में एकता और समग्रता के प्रति उन्मुख होते हुए सार्वभौमिक और शाश्वत मूल्यों को संजोए रखना चाहिए । ऐसी नैतिक शिक्षा रूढ़िवाद, धार्मिक मतांधता, हिंसा, अंधविश्वास और भाग्यवाद को दूर करने में सहायक होनी चाहिए ।

8.6 इस प्रतिरोधात्मक भूमिका के अलावा, नैतिक शिक्षा में हमारी विरासत, राष्ट्रीय और सार्वभौमिक लक्ष्य और अवधारणाओं पर आधारित पर्याप्त सकारात्मक तत्व हैं । उसे इस पहलू पर प्राथमिक बल देना चाहिए ।"

इसी प्रकार, 2005 की राष्ट्रीय पाठ्यक्रम अवसंरचना में इस बात पर बल दिया गया कि :–

"हमें सांस्कृतिक और सामाजिक आर्थिक विभिन्नता की पृष्ठभूमि में जिनसे बच्चे स्कूल के फलक पर प्रवेश करते हैं, समानता की अवधारणा के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को पुनः दृढ़ करने की आवश्यकता है । प्रतिस्पर्धी अर्थव्यवस्था में व्यक्तिगत प्रेरणा भौतिक सफलता के उपकरण के रूप में शिक्षा के लक्ष्य को कम करती है । ऐसी अवधारणा जो व्यक्ति में अनन्यतः प्रतिस्पर्धात्मक संबंध बनाती है, बच्चों पर असंगत दबाव पैदा करती है और इस प्रकार मूल्यों को विकृत करती है । यह एक दूसरे से शिक्षा को बिल्कुल महत्वहीन बनाती है । शिक्षा ऐसे मूल्यों को संवर्धन करने में समर्थ होनी चाहिए जो बहु सांस्कृतिक समाज में शांति, मानवता और सहनशीलता को विकसित करे ।"

5. अवसंरचना इस बात पर बल देती है कि शासन की प्रणाली के बजाय जीवनशैली के रूप में लोकतंत्र को विकसित करने के लिए, संविधान में प्रतिस्थापित मूल्यों का सर्वाधिक महत्व है । अवसंरचना में समानता, न्याय, स्वतंत्रता और पंथनिरपेक्षता के संवैधानिक मूल्यों के प्रति संविधान द्वारा वर्णित महत्व पर विशेष ध्यान दिया गया है ।

6. सी. बी. एस. ई. ने अपने उत्तर में यह कहा कि उसने संवैधानिक मूल्यों और मुख्य सार्वभौमिक मानव मूल्यों जिनकी पुष्टि सभी संस्कृतियों में की गई हैं को विकसित करने के लिए संपूर्ण पाठ्यक्रम में शिक्षा के इन मूल्यों को समाहित किया है । सी. बी. एस. ई. का यह कहना है कि उसने त्रिस्तरीय सोच स्वीकार कर मूल्य आधारित शिक्षा पर बल दिया है जिसमें निम्नलिखित सम्मिलित है :–

(i) विद्यालय समुदाय में सभी पणधारियों को आकृष्ट करना ;

(ii) विद्यालय के वातावरण में अपने संपूर्ण पाठ्यक्रम को व्याप्त

करना ;

(iii) सकारात्मक, उचित और अनुरक्षण विद्यालय पर्यावरण, नैतिक शिक्षा, सामाजिक-भावनात्मक शिक्षण, सकारात्मक युवक विकास, नागरिक शिक्षा और सेवा शिक्षण जैसी व्यापक अवधारणाओं को अपनी पाठ्य सामग्री में सम्मिलित करना ।

7. इन उद्देश्यों की प्राप्ति को सुकर बनाने के लिए, सी. बी. एस. ई. ने अभिवृत्ति और मूल्यों के साथ मूल्यांकन की उपांतरित स्कीम सहित ठोस उपाय किए हैं । वर्ष 2009 में, जीवन दक्षता, अभिवृत्ति और मूल्य, खेल-कूद और क्रीड़ा और पाठ्यक्रम सह-क्रियाकलापों के सह-शैक्षिक क्षेत्रों पर बल देते हुए कक्षा 9 और 10 के लिए मूल्यांकन स्कीम पर बल दिया । बोर्ड ने विनिर्दिष्टतः लोकतांत्रिक मूल्यों को मन में बैठाने के अपने प्रयास में संविधान के अनुच्छेद 51क पर फोकस किया । अभिवृत्ति और मूल्यों के साथ निर्धारण की उपांतरित स्कीम को लागू करने के अलावा, सी. बी. एस. ई. ने वर्ष 2012-13 से कक्षा 9 और 10 में संकलित मूल्यांकन-II और कक्षा 11 और 12 के लिए समाप्ति वर्ष परीक्षा में मूल्य आधारित प्रश्नों को लागू किया । बोर्ड ने अंतर अनुशासनिक दृष्टिकोण अपनाया और ऐसे प्रश्नों के माध्यम से जो विषय की अंतर्वस्तु में समेकित हैं उपरोक्त संकलित मूल्यांकनों पर प्रत्येक विषय में लगभग 5 प्रतिशत अधिमान के साथ छात्रों का मूल्यांकन करने का विनिश्चय किया और अपने प्रतिबिम्बित मूल्यों के आधार पर विश्लेषण किया ।

8. इस उद्देश्य को आगे बढ़ाने के लिए, 19 जून, 2012 को सी. बी. एस. ई. द्वारा परिपत्र जारी किए गए । सी. बी. एस. ई. ने 1997 में मूल्य शिक्षा पर अध्यापकों के लिए एक पुस्तिका भी प्रकाशित की जिसका संशोधित अंक 2003 और 2012 में लाया गया । वर्ष 2015 में, सी. बी. एस. ई. ने अध्यापकों की पुनरीक्षित मूल्य शिक्षा पुस्तिका, मूल्य कार्ड के सेट और अन्य सामग्रियों सहित एक मूल्य शिक्षा किट आरंभ किया । मूल्य शिक्षा किट का विकास नैतिक शिक्षा पर अध्यापकों के लिए व्यापक मार्गदर्शी सिद्धांत उपलब्ध कराने के लिए किया गया है । यह अध्यापकों के लिए अपने कक्षाओं में प्रतिक्रियात्मक सत्र का संचालन करने के संसाधन के रूप में कार्य करता है ।

9. अन्य उपायों के साथ-साथ जो सी. बी. एस. ई. द्वारा किए गए हैं

निम्न उपाय इस प्रकार हैं :–

"(i) पर्यावरणीय शिक्षा और प्रौढ़ शिक्षा पर एक मैनुअल ;

(ii) रामकृष्ण मिशन के साथ 'नागरिक जागरूकता कार्यक्रम' का प्रारंभ ;

(iii) प्राथमिक, उत्तर प्राथमिक, माध्यमिक और ज्येष्ठ माध्यमिक कक्षाओं में लिंग संवेदनशीलता शिक्षा के लिए शिक्षक मैनुअल ;

(iv) मानव अधिकार और लिंग शिक्षा चयन पाठ्यक्रम का शुभारंभ ;

(v) विशेषकर निःशक्ततायुक्त छात्रों और विशेष गरीब व्यक्तियों के लिए समाविष्ट शिक्षा में सुधार करने का उपाय ।"

10. सी. बी. एस. ई. द्वारा फाइल शपथपत्र में मानव अधिकार और लिंगीय अध्ययन के माध्यम से लिंग संवेदनशीलता और समान शिक्षा के प्रति उसके दृष्टिकोण के महत्वपूर्ण पहलुओं को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है :–

- "लिंग मुद्दों के शिक्षण में ऐसे व्यापक परिधि के प्रश्न समाविष्ट हैं जो लिंग के पीछे छिपी अवधारणाओं से संबंधित हैं क्योंकि वे विभिन्न शैक्षणिक विषयों, ज्ञान मीमांसा दृष्टिकोण और सभी स्तरों पर आधुनिक शैक्षिक प्रणालियों के संस्थागत व्यवस्था द्वारा विकसित किए गए हैं ।

- लिंगीय शिक्षण में लिंग के संभाव्य परिप्रेक्ष्य के उद्देश्यों में हमेशा सामाजिक-राजनीतिक और शैक्षणिक पहलू अंतर्विष्ट होता है । शिक्षा प्रणाली में यह पाठ्यक्रम का विषय होगा कि लिंग की क्या भूमिका है ।

- लिंग शिक्षण में, संस्थागत व्यवस्था में सार्वभौमिक व्यक्तिगत अनुभव, स्वीय या सामाजिक होते हुए लिंग की संभावनाएं और समस्याएं अंतर्वलित हैं ।

- पाठ्यक्रम का आशय छात्रों को ऐसे माध्यमों की जानकारी प्रदान करना है जिसमें लिंग को 'यथा स्वीकृत माना जाता है' और लिंग का कैसे अध्ययन किया जाए, हमारे जीवन में लिंग की

जटिलता और परिवर्तन की संभावनाएं जहां तक पुरुष और स्त्री पारंपरिक पुरुषत्व और स्त्रीत्व के तत्वों को जोड़ने और/या अस्वीकार करने में समर्थ हैं ।

- पाठ्यक्रम में विभिन्न सामाजिक संस्थाओं (अर्थात् कुटुम्ब, कार्यस्थल, शिक्षा, आदि) के संदर्भ के भीतर लिंग पर विचार किया जाएगा और ऐसे माध्यमों पर विचार करेगा जिसमें इन संस्थाओं द्वारा लिंग की भूमिका को बनाए रखा जाएगा और/या सामाजीकरण के माध्यम से प्रभावी रूप से शिक्षा प्राप्त की जाए ।"

11. सी. बी. एस. ई. ने यह भी उल्लेख किया कि समेकित दृष्टिकोण का अनुसरण करते हुए एन. सी. ई. आर. टी. की नई पाठ्य-पुस्तकों में इस बात को सम्मिलित किया है जो छात्रों को व्यक्तिगत, सामाजिक, संवैधानिक और मानवीय मूल्यों पर फोकस करने का उपबंध करते हैं । भूगोल, समाज विज्ञान, इतिहास, रसायनशास्त्र, जीव-विज्ञान और गणित सहित विभिन्न विषयों के लिए विहित पाठ्य-पुस्तकों में इन मूल्यों को समाहित करते हुए बनाए गए विनिर्दिष्ट अध्यायों के दृष्टांत न्यायालय में प्रस्तुत किए गए । एक दूसरे के साथ सद्भाव में रहने के लिए अभिवृत्ति, मूल्य और आवश्यक दक्षता के संवर्धन के लिए अध्यापकों के लिए "शांति का मार्ग" शीर्षक वाली एक स्रोत पुस्तक लिखी गई है ।

12. दिसंबर, 2012 में, एन. सी. ई. आर. टी. ने प्रधानाचार्यों, अध्यापकों और शिक्षाविदों जैसे विभिन्न पणधारियों के परामर्श से "विद्यालयों में मूल्यों की शिक्षा" शीर्षक अवसंरचना का विकास किया । अवसंरचना में यह स्वीकार करते हुए कि मुख्य मूल्यों पर फोकस करते हुए शिक्षा प्रदान करने के लिए "संपूर्ण विद्यालय दृष्टिकोण" के रूप में क्या विहित किया जाए, पारंपरिक शिक्षाशास्त्र से मूल्यों के नए शिक्षाशास्त्र में परिवर्तन की आवश्यकता पर विचार किया गया है । सी. बी. एस. ई. ने विशिष्टतः निम्नलिखित बातों पर बल दिया है :–

"(i) वाद-विवाद, बहस, प्रदर्शन, परियोजना, प्रहसन जैसे सहचर्या पाठ्यक्रम, पृथ्वी दिवस, पर्यावरण दिवस, राष्ट्रीय शिक्षा दिवस, विरासत भारतीय प्रश्नावली, प्रातःकालीन सभा जैसे महत्वपूर्ण दिवसों का समारोह, स्वामी विवेकानंद, रवीन्द्रनाथ टैगोर आदि जैसे नेताओं का जन्मदिवस मनाना, सामुदायिक सेवा, प्रौढ़ शिक्षा अभियान,

आदर्श कार्यों के लिए रैली और पदयात्रा ।

(ii) मूल अधिकार और कर्तव्य, तथा राज्य के नीति-निर्देशक तत्व कक्षा 8 और कक्षा 11 के सामाजिक विज्ञान के समाज विज्ञान पाठ्यक्रम के भाग होते हैं ।

(iii) बच्चों में मूल्यों के प्रति जागरूकता पैदा करने के लिए विभिन्न प्रकाशन प्रकाशित करना ।"

बोर्ड ने संविधान के अनुच्छेद 51क पर विशेष रूप से फोकस किया है क्योंकि ये मूल्य छात्रों के कार्यपालन में आधार बनाए जाते हैं । विद्यालय पाठ्यचर्या, परस्पर पाठ्यचर्या समूह क्रियाकलाप और परियोजनाओं के संचालन द्वारा उनके मन में बैठाने के लिए बाध्य हैं ।

13. याची ने तत्वतः विद्यालय पाठ्यक्रम में एक पृथक् विषय के रूप में नैतिक विज्ञान के प्रारंभ के लिए परमादेश की ईप्सा करते हुए अनुच्छेद 32 के अधीन इस न्यायालय की अधिकारिता का अवलंब लिया है ।

14. इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता है कि नैतिक मूल्य मूल्य आधारित शिक्षा का अभिन्न संघटक हैं । शिक्षा का प्रयोजन नवयुवक में जिज्ञासा की भावना, ज्ञान की इच्छा और मूल्यों का भाव पैदा करना है । वे मूल्य आधारभूत मूल्य हैं जिन पर हमारा संवैधानिक मर्म आधारित है अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता, समता और प्रतिष्ठा । शिक्षा के प्रयोजन अपने अधिकारों और दूसरों के प्रति अपने कर्तव्यों, दोनों के प्रति सजग उत्तरदायी और सुविज्ञ नागरिक का सृजन करना भी है ।

15. शिक्षा वस्तुतः व्यक्ति के विकास का एक महत्वपूर्ण उपकरण है और यह राष्ट्र निर्माण में भी बहुत सहायक है । तकनीक ने पारंपरिक अवरोधों को प्रभावित किया है और विश्व सूचना क्षेत्र का वैश्विक नेटवर्क समुदाय हो गया है । वे चुनौतियां जो शिक्षा पद्धति के सामने हैं, शीघ्रता से विकसित हो रही हैं और संभवतः इतनी शीघ्रता से कि हमारी शैक्षिक प्रणाली के लिए उनसे निपटने के लिए व्यावहारिक समाधान विकसित करने की आवश्यकता है ।

16. न्यायालय के समक्ष यह मुद्दा है कि क्या इस प्रकृति का परमादेश लोक हित में न्यायालय द्वारा अपनी अधिकारिता का प्रयोग करते हुए जारी किया जा सकता है ।

17. जहां मूल्य आधारित शिक्षा प्रदान करने की आवश्यकता के बारे में कोई विवाद नहीं हो सकता है, यह किस रूप में होनी चाहिए और ऐसी रीति जिसमें मूल्यों को मन में बैठाया जाए, का आदेश न्यायालय द्वारा नहीं दिया जाना चाहिए । अकेले न्यायालय ऐसा करने की दक्षता से हीन है । याची को इस बारे में शिकायत है जिसे वह हमारे समाज में भौतिकवाद की संस्कृति की व्याप्ति के रूप में उल्लेख करती है । अनुच्छेद 32 के अधीन इस न्यायालय की अधिकारिता सभी बुराइयों के लिए रोगहर नहीं है बल्कि मूल अधिकारों के अतिक्रमण का केवल उपचार है । ऐसे बोधगम्य शिकायतों के लिए उपचार कहीं अन्यत्र है जैसा याची ने भौतिकवाद के प्रबल अस्तित्व का उल्लेख किया है और यह उन लोगों के लिए है जिनके पास ऐसी समस्याओं से निपटने की क्षमता है और शैक्षिक नीतियों को अधिकथित करने और लागू करने का संवैधानिक कर्तव्य है ।

18. लोक हित याचियों की यह मान लेने की प्रवृत्ति है कि प्रत्येक अच्छी बात जो समाज को स्वीकार कर लेनी चाहिए, न्यायालय के माध्यम से ही प्राप्त की जा सकती है । न्यायिक प्रक्रिया से संवैधानिक या विधिक उल्लंघनों का ही उपचार किया जाता है । लोक हित वाद सुने जाने के अधिकार के कठोर नियमों में शिथिलीकरण अनुज्ञात करते हैं । तथापि, न्यायालय को वस्तुतः ऐसे पैरामीटर का पालन करना चाहिए जो न्यायिक शक्ति के सूक्ष्म प्रयोग को शासित करते हैं । अतः जहां न्यायालय के समक्ष सुशासन के मुद्दों को लाने का प्रयास किया जाता है, ऐसी आधारभूत कसौटी, जिस पर अधिकारिता का अवलंब लिया जाना चाहिए, यह है कि क्या मुद्दे पर विधि या संविधान की अवसंरचना के भीतर संबोधित किया जा सकता है । नीति का विषय राज्य की कार्यपालिका अंग को सौंपा गया है । न्यायालय का संबंध विधि के नियम के संरक्षण से है ।

19. यह याचिका ऐसे विषयों के लिए एक उदाहरण है जो न्यायिक पुनर्विलोकन की परिधि के परे है । क्या कक्षा 1 से 12 तक के बच्चों को अपनी शिक्षा प्राप्त करते समय नैतिक विज्ञान के पृथक् पाठ्यक्रम से बोझिल किया जाना चाहिए, का विनिश्चय न्यायालय नहीं कर सकता है । क्या मूल्य आधारित शिक्षा प्रणाली में नैतिक विज्ञान को पृथक् विषय सम्मिलित करने से प्रयोजन पूर्ण हो जाएगा या क्या मूल्य आधारित शिक्षण विहित पाठ्यक्रम के सम्पूर्ण परिधि को परिवर्तित कर देगी, ऐसा विषय है

जिसका समाधान न्यायिक पुनर्विलोकन के स्थिर मानकों को लागू कर नहीं किया जा सकता । ये ऐसे विषय हैं जिनका अवधारण अनुच्छेद 32 के अधीन न्यायालय की अधिकारिता का प्रयोग करते हुए नहीं किया जा सकता ।

20. नैतिकता पर चर्चा याची जो संस्कृति की अवनति पर विलाप करते हैं जैसे लोगों के लिए आकर्षक लगता है । नैतिकता के साथ ऐसे मूल्य जो कोई समाज अपने नवयुवकों के लिए चाहता है, को पुनः परिभाषित करने की आवश्यकता है और यह प्रतीत होता है कि इसके समर्थन में आपके पास अनुनयकारी तर्क हों । इस तर्क की न्यायालय अधिदिष्ट स्वीकृति की कठिनाई यह है कि स्थिति की जटिलताओं और उत्तर जो यह चाहता है, को पुनः उजागर करना संक्षिप्ततः बहुत असंभव है ।

21. नैतिकता कुछ लोगों को बहुत महत्वपूर्ण प्रतीत होती है किंतु अब भी यह मूल्यों की संरचना का मात्र एक तत्व है जो समाज आचरण करना चाहता है । समानतः अन्य महत्वपूर्ण मूल्य हैं जो एक लोकतांत्रिक समाज अपने नवयुवकों को शिक्षा देना चाहता है । उनमें से विचारों की बहुलता और विभिन्नता, दृष्टिकोण और आस्था जिन्हें दुर्भाग्यवश वैश्विक धमकी का सामना करना पड़ता है, की स्वीकृति है । पुनः, ऐसे उन लोगों में सहने की क्षमता जो मूलतः भिन्न मत रखते हैं, उन लोगों के प्रति तद्नुभूति रखते हैं जो आर्थिक और सामाजिक परिवेश के कारण हाशिए पर हैं, उस सहजजात मानवता जो प्रत्येक मानव में है, के प्रति अनुकंपा और बोध की भावना पैदा करने की आवश्यकता है । मूल्य आधारित शिक्षा हमारे नवयुवकों को उस पक्षपात, घृणा और भेदभाव के भयंकर परिणामों के प्रति जागरूक करने वाली होनी चाहिए जो संपूर्ण विश्व के लोगों और समाज में भय पैदा किए हुए है । मूल्यों के प्रचार की अवधारणा को परिभाषित करने के रूप में नैतिकता एकपक्षीय होने के कारण खतरनाक हो सकती है जो नवयुवकों को उसी धर्म सिद्धांत का प्रचार करती है जो भौतिकवाद के सिद्धांत को अस्वीकार करने वाले लोग परिवर्तित करना चाहते हैं । तथापि, स्वयं नैतिकता एक ऐसी धारणा है जिसके भिन्न-भिन्न रंग हैं ।

22. न्यायालय के लिए यह मान लेना अवास्तविक है कि यह ऐसे उलझाऊ मुद्दों का समाधान उपलब्ध करा सकता है जिसमें परस्पर विरोधी आयामों के बीच संतुलन निकालना है जो विधिक परिधि के परे हैं । न्यायालय का संबंध संवैधानिकता और विधिकता के मुद्दों से है । यह स्वीकार करना कठिन है कि ऐसे विषय जिनके समाधान वैचारिकता, समाज सिद्धांत, नीति निर्धारण के क्षेत्रों में हैं और विद्यालय शिक्षा में किसी

विशिष्ट विषय में शिक्षा की स्कीम को प्रवृत्त करने के लिए परमादेश जारी करने जैसे प्रयोग द्वारा इस न्यायालय द्वारा नियमित नहीं किया जा सकता है । क्या कोई विषय कतई बढ़ाया जाना चाहिए ? क्या किसी शिक्षा प्रणाली में प्रबंध के पृथक् विषय के रूप में मूल्यों के सेट या जिज्ञासा और जानकारी को सम्मिलित किया जाना चाहिए ? क्या संपूर्ण विद्यमान विषयों में मूल्यों के क्षैतिज समेकन से बेहतर वांछनीय परिणाम प्राप्त होगा ? क्या पहले से ही बोझिल विद्यालय पाठ्यक्रम में अध्ययन के विषय के रूप में एक अन्य विषय अधिरोपित करना कतई वांछनीय है ?

23. ये ऐसे उलझाऊ मुद्दे हैं जिनके एक से अधिक उचित समाधान निकल सकते हैं । उचित ही यही कारण है कि ऐसे विषयों के समाधान उन लोगों द्वारा निकाला जाना चाहिए जिनके पास पढ़ाने और शिक्षा के विषयों को लागू करने का उत्तरदायित्व है । न्यायालय द्वारा ऐसी सभी अच्छी बातों का अधिदेश नहीं दिया जा सकता जिन्हें समाज के हित में माना जाता है । न ही ऐसी सभी सामाजिक बुराइयों का उत्तर न्यायिक प्रक्रिया में है जिसे याची लोक हित में होना मानता है । वर्तमान जैसा विषय जिसका समाधान विधिक या संवैधानिक अवसंरचना में नहीं है, पर विचार न्यायिकतः प्रबंधयोग्य मानक के अनुसार किया जाना असंभव है ।

24. किसी भी दशा में, हमने सी. बी. एस. ई. द्वारा अपनी स्थिति का प्रतिबिम्बन करते हुए फाइल किए गए उत्तर, जिसे भारत संघ द्वारा भी स्वीकार किया गया है, का कुछ विस्तार से विचार किया । यह मुद्दा कि क्या कोई अनुकल्पी दृष्टिकोण मूल्य आधारित शिक्षा उपलब्ध कराने की चिंता को बेहतर ढंग से पूरा करेगा, का मूल्यांकन करना न्यायालय का विषय नहीं है ।

25. इन कारणों से, हम रिट याचिका में कोई सार नहीं पाते । तद्नुसार, याचिका खारिज की जाती है । पक्षकार बनाने और हस्तक्षेप के आवेदनों का तद्नुसार निपटान किया जाता है ।

रिट याचिका खारिज की गई ।

पा.

[2017] 1 उम. नि. प. 116

मनोज कुमार शर्मा

बनाम

छत्तीसगढ़ राज्य

23 अगस्त, 2016

न्यायमूर्ति मदन बी. लोकुर और न्यायमूर्ति आर. के. अग्रवाल

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) – धारा 154 और 174 – पुलिस को मृतका द्वारा आत्महत्या करने की इत्तिला प्राप्त होना – जांच करने पर मामला फांसी लगाने का पाया जाना और किसी कूटकर्म का चिह्न प्रकट न होना – कोई संज्ञेय अपराध कारित न होने का उल्लेख करते हुए पुलिस द्वारा उप-मंडल मजिस्ट्रेट के समक्ष अंतिम रिपोर्ट प्रस्तुत किया जाना – रिपोर्ट स्वीकार करते हुए मामला बंद किया जाना – पांच वर्ष पश्चात् अपीलार्थियों के विरुद्ध नए सिरे से प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज किया जाना – संधार्यता – पुलिस द्वारा पूर्ववर्ती इत्तिला के आधार पर जो अन्वेषण किया गया था, वह धारा 174 के अधीन की जाने वाली जांच थी, इसलिए बाद में धारा 154 के अधीन दर्ज की गई प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को एक ही घटना की दूसरी प्रथम इत्तिला रिपोर्ट होने के आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती ।

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 – धारा 156, 177 और 178 [दंड संहिता, 1860 की धारा 304ख और 498क] – मृतका-पत्नी द्वारा 'अम्बाला' में आत्महत्या किया जाना – अम्बाला पुलिस द्वारा इत्तिला प्राप्त होने पर धारा 174 की अपेक्षाओं का पालन करते हुए जांच किया जाना – मामला फांसी लगाने का पाया जाना और किसी कूटकर्म का चिह्न प्रकट न होना – मृतका के नातेदारों द्वारा कोई संदेह प्रकट न किया जाना और धारा 154 के अधीन कोई प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज न किया जाना – पुलिस द्वारा मामले की अंतिम रिपोर्ट उप-मंडल मजिस्ट्रेट के समक्ष प्रस्तुत किया जाना और रिपोर्ट स्वीकार करते हुए मामला बंद किया जाना – पांच वर्ष पश्चात् अपीलार्थियों के विरुद्ध भिलाई नगर, जिला दुर्ग में नए सिरे से प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज किया जाना – क्षेत्रीय अधिकारिता – अभिकथित अपराध का संपूर्ण वाद हेतुक तात्पर्यित रूप से अम्बाला शहर

में उद्भूत हुआ था, इसलिए अधिकारिता के आधार पर अपीलार्थियों के विरुद्ध दर्ज की गई दांडिक कार्यवाहियां अभिखंडित किए जाने योग्य हैं ।

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 – धारा 154 और 482 [दंड संहिता, 1860 की धारा 304ख और 498क] – मृतका-पत्नी द्वारा की गई आत्महत्या फांसी लगाने का मामला पाए जाने और कोई कूटकर्म का चिह्न न पाए जाने पर पुलिस द्वारा अंतिम रिपोर्ट प्रस्तुत किया जाना – उप-मंडल अधिकारी द्वारा रिपोर्ट स्वीकार करते हुए मामला बंद किया जाना – मृतका के भाई द्वारा पांच वर्ष पश्चात् मृतका की मृत्यु दहेज के लिए की गई एक पूर्वनियोजित हत्या बताते हुए अपीलार्थियों के विरुद्ध नए सिरे से प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज किया जाना – प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज कराने में विलंब – घटना के पश्चात् अपीलार्थी और प्रत्यर्थियों के बीच सौहार्दपूर्ण संबंध बने रहने के कारण प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज कराने में किए गए असाधारण विलंब से इसमें किए गए अभिकथनों की सत्यता पर गंभीर संदेह उत्पन्न होता है, इसलिए न्याय के हित में इसे अभिखंडित करना उचित होगा ।

अपीलार्थी-अभियुक्त, जो सुसंगत समय पर भारतीय वायु सेना में सेवारत था, का विवाह तारीख 27 अप्रैल, 1999 को मृतका (नंदिनी शर्मा) के साथ हुआ था । नंदिनी शर्मा ने तारीख 20 सितंबर, 1999 को अपने दांपत्य-निवास में आत्महत्या कर ली । इस बाबत भारतीय वायु सेना के सिक्योरिटी आफिसर द्वारा पुलिस थाना, मुलाना, जिला अम्बाला में इत्तिला दर्ज की गई । मुलाना पुलिस थाने के अन्वेषण करने वाले भारसाधक अधिकारी ने तारीख 22 सितंबर, 1999 को एक रिपोर्ट यह उल्लेख करते हुए प्रस्तुत की कि घटना में कूटकर्म का कोई चिह्न नहीं है । तारीख 22 सितंबर, 1989 को मृतका के शव की मरणोत्तर परीक्षा की गई और शव को अंतिम संस्कार के लिए नातेदारों को सौंप दिया गया । अन्वेषण के आधार पर तारीख 24 जनवरी, 2000 को उप-मंडल मजिस्ट्रेट के समक्ष एक अंतिम रिपोर्ट प्रस्तुत की गई, जिसे तारीख 19 फरवरी, 2000 को स्वीकार कर लिया गया । साथ-साथ, अपीलार्थी-अभियुक्त की अभिकथित भूमिका का अन्वेषण करने के लिए एक जांच न्यायालय (कोर्ट आफ इंक्वायरी) भी संयोजित किया गया, किंतु जांच पूर्ण होने के पश्चात् तारीख 25 जुलाई, 2000 को मामला अंतिम रूप से बंद कर दिया गया । उपरोक्त मामला बंद होने के पांच वर्ष पश्चात् मृतका के भाई (प्रत्यर्थी सं. 2) द्वारा उसे प्राप्त हुए अनाम पत्रों के आधार पर, जिनमें मृतका की मृत्यु को एक योजनाबद्ध हत्या बताया गया था, अपीलार्थियों के विरुद्ध पुलिस थाना भिलाई नगर,

जिला दुर्ग में भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 34 के साथ पठित धारा 304ख और 498क के अधीन तारीख 29 मई, 2005 को एक नई प्रथम इत्तिला रिपोर्ट रजिस्ट्रीकृत कराई गई । प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में, सारतः, यह अभिलिखित किया गया कि मृतका के साथ दहेज की मांग के लिए दांपत्य-निवास में अपीलार्थियों द्वारा क्रूरता की गई थी । मृतका ने तारीख 20 सितंबर, 1999 को दूरभाष पर अपीलार्थी सं. 1 के साथ झगड़ा होने के संबंध में सूचित किया था और वह उसी तारीख को मृत पाई गई थी । अपीलार्थियों ने प्रथम इत्तिला रिपोर्ट फाइल होने से व्यथित होकर उच्च न्यायालय के समक्ष एक रिट याचिका फाइल की । उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ ने तारीख 25 जुलाई, 2005 के आदेश द्वारा अभिकथित अपराध का अन्वेषण जारी रखने का निदेश दिया । तारीख 4 अप्रैल, 2007 को उक्त याचिका न्यायालय की इजाजत से वापस ले ली गई और अपीलार्थियों ने प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को अभिखंडित करने के लिए दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 482 के अधीन उच्च न्यायालय के समक्ष एक दांडिक प्रकीर्ण याचिका फाइल की । उच्च न्यायालय के विद्वान् एकल न्यायाधीश ने तारीख 17 अक्तूबर, 2011 के आदेश द्वारा कार्यवाहियों को जारी रखे जाने की मंजूरी दी और पुलिस को यह निदेश दिया कि कार्यवाहियों में तर्कसंगत निष्कर्ष सुनिश्चित करने के लिए अनावश्यक विलंब के बिना ऋजु और उचित अन्वेषण किया जाए । उक्त दांडिक प्रकीर्ण याचिका में तारीख 17 अक्तूबर, 2011 को किए गए आदेश में उपांतरण के लिए एक आवेदन इस आधार पर फाइल किया गया कि मामले में निर्णय के लंबित रहने के दौरान पुलिस द्वारा न्यायालय में आरोप पत्र फाइल किया जा चुका था और यह आवेदन तारीख 17 अक्तूबर, 2011 के आदेश द्वारा मंजूर किया गया । इसके बाद, अपीलार्थियों ने पुलिस थाना भिलाई नगर, जिला दुर्ग में रजिस्ट्रीकृत अपराध मामला सं. 194 में उद्भूत 2011 की दांडिक कार्यवाही सं. 805 में फाइल किए गए क्रमशः तारीख 3 सितंबर, 2011 के आरोप पत्र और तारीख 13 अक्तूबर, 2011 को न्यायिक मजिस्ट्रेट, प्रथम श्रेणी, दुर्ग द्वारा आरोप पत्र पर किए गए संज्ञान को अभिखंडित करने के लिए संहिता की धारा 397 के साथ पठित धारा 482 के अधीन उच्च न्यायालय के समक्ष दांडिक प्रकीर्ण याचिका फाइल की । उच्च न्यायालय के विद्वान् एकल न्यायाधीश ने तारीख 27 सितंबर, 2012 के आदेश द्वारा अपीलार्थियों द्वारा फाइल की गई याचिका खारिज कर दी । अपीलार्थियों ने उपर्युक्त आदेश से व्यथित होकर विशेष इजाजत लेकर उच्चतम न्यायालय के समक्ष अपील फाइल की । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 174 और 175 आकस्मिक या संदेहास्पद मौतों के मामलों में "जांचों" के प्रयोजन के लिए स्वतः एक पूर्ण संहिता है और संहिता की धारा 157 के अधीन किए जाने वाले "अन्वेषण" से पूरी तरह से सुभिन्न हैं, जिसमें यह उपबंधित है कि यदि पुलिस थाने के भारसाधक अधिकारी को यह संदेह करने का कारण है कि ऐसा अपराध किया गया है जिसका अन्वेषण करने के लिए वह सशक्त है, तो वह मामले के तथ्यों और परिस्थितियों का अन्वेषण करने के लिए स्वयं घटनास्थल पर जाएगा । प्रस्तुत मामले में, प्रारंभ में यह अभिनिश्चित करने के लिए संहिता की धारा 174 के अधीन एक जांच की गई थी कि मृत्यु प्राकृतिक है या अप्राकृतिक । अपीलार्थियों की ओर से विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने यह दावा किया है कि अप्राकृतिक मृत्यु होने के संबंध में दी गई पूर्ववर्ती इत्तिला संहिता की धारा 154 के अधीन प्रथम इत्तिला रिपोर्ट की कोटि में आती है, जिसका पुलिस द्वारा अन्वेषण किया गया था और उसके पश्चात् मामला बंद कर दिया गया था । जो जांच यह अभिनिश्चित करने के प्रयोजन के लिए की गई थी कि मृत्यु प्राकृतिक है या अप्राकृतिक, उसे अभिलेख की सामग्री की सावधानीपूर्वक संवीक्षा करने के पश्चात् संहिता की धारा 154 के अर्थ और आशय के अंतर्गत किसी संज्ञेय अपराध के कारित होने के संबंध में दी गई इत्तिला की कोटि में आने वाली नहीं कहा जा सकता है । पुलिस थाना, मुलाना द्वारा इत्तिला प्राप्त होने पर उसने संहिता की धारा 174 के अधीन यथा अनुध्यात जांच की थी । पुलिस ने जांच करने के पश्चात् उप-मण्डल मजिस्ट्रेट, अम्बाला के समक्ष अपनी रिपोर्ट यह उल्लेख करते हुए प्रस्तुत की कि यह फांसी लगाने का मामला था और यह नहीं पाया गया है कि कोई संज्ञेय अपराध किया गया है । रिपोर्ट में यह भी उल्लिखित था कि मृतका का पिता आर. पी. शर्मा (अभि. सा. 1) नहीं चाहते कि मामले में आगे कोई कार्यवाही की जाए । उपरोक्त चर्चा को देखते हुए, स्पष्ट रूप से यह दर्शित होता है कि पुलिस द्वारा जो कार्य किया गया था, वह संहिता की धारा 174 के अधीन की जाने वाली जांच थी जो इस बात तक सीमित थी कि मृत्यु प्राकृतिक है या अप्राकृतिक और मामला बंद कर दिया गया था । जबकि, प्रथम इत्तिला रिपोर्ट अभिलिखित करने के लिए पूर्ववर्ती शर्त यह है कि किसी इत्तिला का होना आवश्यक है और उस इत्तिला से अवश्य कोई संज्ञेय अपराध किया गया प्रकट होना चाहिए और प्रस्तुत मामले में संदेह की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती है कि जो सूचना प्राप्त हुई थी वह संहिता की धारा 174 के अधीन यथा अनुध्यात प्रकृति की एक

इत्तिला थी और इसे कोई संज्ञेय अपराध प्रकट करने वाली इत्तिला के रूप में वर्गीकृत नहीं किया जा सकता है । साथ ही, यह दर्शित करने के लिए कोई सामग्री नहीं है कि पुलिस ने अन्वेषण करने के पश्चात् संहिता की धारा 173 के अधीन यथा अनुध्यात रिपोर्ट सक्षम प्राधिकारी के समक्ष प्रस्तुत की थी और उसने उक्त रिपोर्ट स्वीकार की थी और मामला बंद कर दिया था । उपरोक्त को ध्यान में रखते हुए, इस न्यायालय की यह राय है कि संहिता की धारा 174 के अधीन की जाने वाली जांच में जो अन्वेषण किया जाता है वह कोई संज्ञेय अपराध कारित होने के संबंध में संहिता की धारा 154 के अधीन यथा अनुध्यात अन्वेषण से सुभिन्न है और प्रस्तुत मामले में पुलिस थाना, मुलाना में कोई प्रथम इत्तिला रिपोर्ट रजिस्ट्रीकृत नहीं थी और न तो कोई अन्वेषण किया गया था और न ही संहिता की धारा 173 के अधीन कोई रिपोर्ट प्रस्तुत की गई थी । इसलिए पुलिस थाना, भिलाई नगर द्वारा 2005 के अपराध सं. 194 के अधीन रजिस्ट्रीकृत आक्षेपित प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती है कि यह दूसरी प्रथम इत्तिला रिपोर्ट थी, जिसके बहाने उसी घटना का अन्वेषण या नए सिरे से अन्वेषण आरंभ किया गया था । (पैरा 11 और 12)

किसी दांडिक अपराध की बाबत न्यायालय की क्षेत्रीय अधिकारिता घटना घटित होने के स्थान के आधार पर विनिश्चित की जाती है । प्रस्तुत मामले में, आत्महत्या अम्बाला में की गई थी । अम्बाला पुलिस ने संहिता की धारा 174 की अपेक्षाओं को पूरा करने के पश्चात् यह अभिनिर्धारित करते हुए मामले को बंद कर दिया कि घटना में कोई कूटकर्म नहीं है और धारा 154 के अधीन प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज करने की भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मृतका के परिवार के किसी भी सदस्य ने उसकी मृत्यु पर कोई संदेह नहीं जताया है, हालांकि मृत्यु विवाह के सात वर्ष के भीतर हुई है । ऐसा भी कोई साक्ष्य नहीं है कि यह अपराध ऐसा था जो जारी रहा था । इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि अभिकथित अपराध पूर्णतः या अंशतः दुर्ग स्थित मजिस्ट्रेट के न्यायालय की स्थानीय अधिकारिता के भीतर कारित किया गया है । प्रथमदृष्ट्या, यह नहीं कहा जा सकता है कि अपराध गठित करने वाला कोई संघटक उस न्यायालय की स्थानीय अधिकारिता के भीतर घटित हुआ था । प्रस्तुत मामले में, अभिलेख की सामग्री के अनुसार 2005 के अपराध सं. 194 में आरोप पत्र फाइल किया गया है और न्यायिक मजिस्ट्रेट, प्रथम श्रेणी, दुर्ग ने कार्यवाहियों का संज्ञान किया है । वर्तमान वस्तुस्थिति में, इस न्यायालय की यह सुविचारित राय है

कि दुर्ग स्थित न्यायालय को मामले का विचारण करने की अधिकारिता नहीं है और क्षेत्रीय अधिकारिता की कमी के आधार पर कार्यवाहियां अभिखंडित की जानी चाहिए, चूंकि अभिकथित अपराध का संपूर्ण वाद हेतुक तात्पर्यित रूप से अम्बाला शहर में उद्भूत हुआ था । (पैरा 15 और 16)

प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज कराने में विलंब के परिणामस्वरूप बढ़ा-चढ़ाकर बातें कही जाती हैं, जो कि सोच-विचार करके किया जाता है । विलंब के कारण प्रथम इत्तिला रिपोर्ट न केवल सहजता विहिन हो जाती है, अपितु गढ़े गए वृत्तांत या अतिरंजनात्मक कहानी के पुरःस्थापन का भी खतरा बना रहता है । इस न्यायालय की राय में, प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज कराने में हुए ऐसे अत्यधिक विलंब से प्रत्यर्थी सं. 2 द्वारा अपीलार्थियों के विरुद्ध किए गए अभिकथनों की सत्यता के बारे में गंभीर संदेह उत्पन्न होता है जो, किसी भी स्थिति में, साधारण प्रकृति के हैं । इस न्यायालय को कोई संदेह नहीं है कि प्रत्यर्थी सं. 2 ने ऐसे अविवेकपूर्ण और अस्पष्ट अभिकथन करके अपीलार्थियों को दांडिक कार्यवाहियों में फंसाने की कोशिश की है । इस न्यायालय की यह सुविचारित राय है कि इस प्रथम इत्तिला रिपोर्ट के अनुसरण में अपीलार्थियों के विरुद्ध की गई दांडिक कार्यवाहियां विधि की प्रक्रिया का दुरुपयोग है । इसलिए न्याय के हित में प्रथम इत्तिला रिपोर्ट खारिज किए जाने योग्य है । उपरोक्त चर्चा को ध्यान में रखते हुए, इस न्यायालय की यह सुविचारित राय है कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में किए गए अभिकथन अंतर्निहित रूप से अनधिसंभाव्य हैं और इनके समर्थन में एकत्रित किए गए साक्ष्य से किसी अपराध का कारित होना प्रकट नहीं होता है तथा अपीलार्थियों के विरुद्ध कोई मामला नहीं बनता है । इसके अतिरिक्त, संहिता की धारा 482 के अधीन अंतर्निहित अधिकारिता का अवलंब लेने के लिए उच्च न्यायालय का पूरी तरह से यह समाधान होना आवश्यक है कि अभिलेख पर प्रस्तुत की गई सामग्री सटीक, उचित और युक्तियुक्त तथ्यों पर आधारित हो । प्रस्तुत मामले में, मृतका के भाई द्वारा पांच वर्ष की अवधि के पश्चात् और वह भी अनाम पत्रों के आधार पर विद्वेषपूर्ण अभियोजन संस्थित किया गया था । प्रथम इत्तिला रिपोर्ट फाइल होने से पूर्व अपीलार्थियों के विरुद्ध कोई अभ्यारोपण नहीं था । अपीलार्थियों के विरुद्ध किए गए अभिकथन अस्पष्ट हैं और दांडिक कार्यवाहियां जारी रखने की आवश्यकता नहीं है । साथ ही, दुर्ग स्थित न्यायालय को क्षेत्रीय अधिकारिता नहीं है क्योंकि वाद हेतुक, यदि कोई है, अम्बाला में उद्भूत हुआ था । दांडिक कार्यवाही अत्यधिक विलंब

के पश्चात् की गई है और बाद में सोच-विचार का परिणाम है । उच्च न्यायालय इस कसौटी को लागू करने में असफल रहा है कि क्या अविवादित अभिकथनों से, जो प्रथमदृष्ट्या किए गए हैं, अपराध सिद्ध होता है या नहीं । न्यायालय के लिए यह भी आवश्यक है कि वह किन्हीं ऐसी विशेषताओं पर भी विचार करे जो किसी विशिष्ट मामले में यह विचार करने के लिए प्रतीत होती हों कि क्या अभियोजन जारी रखने की अनुज्ञा देना समीचीन और न्याय के हित में है या नहीं । उच्च न्यायालय ने न्यायिक रूप से अपने मस्तिष्क का प्रयोग नहीं किया और अभिलेख के गलत मूल्यांकन के आधार पर संहिता की धारा 482 के अधीन फाइल की गई याचिका के आधार पर अन्वेषण को जारी रखने का आदेश दिया । इस शक्ति का प्रयोग न्यायसम्मत रूप से किया जाना चाहिए न कि अनुचित रूप से या मनमाने ढंग से, क्योंकि शक्ति के ऐसे अनुचित या अस्थिर मन से प्रयोग के अवांछनीय परिणाम हो सकते हैं । (पैरा 18 और 22)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[2013]	(2013) 3 एस. सी. सी. 330 : **राजीव थापर और अन्य** बनाम **मदन लाल कपूर** ;	21
[2012]	(2012) 4 एस. सी. सी. 379 **जय प्रकाश सिंह** बनाम **बिहार राज्य और एक अन्य** ;	18
[2000]	(2000) 4 एस. सी. सी. 84 : **सुरेश राय और अन्य** बनाम **बिहार राज्य** ;	10
[1998]	(1998) 4 एस. सी. सी. 605 : **जार्ज और अन्य** बनाम **केरल राज्य और एक अन्य** ;	10
[1992]	(1992) (सप्ली.) 1 एस. सी. सी. 335 : **हरियाणा राज्य और अन्य** बनाम **भजन लाल और अन्य** ।	20

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2013 की दांडिक अपील सं. 775.

2011 की दांडिक प्रकीर्ण याचिका सं. 765 में छत्तीसगढ़ उच्च न्यायालय, बिलासपुर के तारीख 27 सितंबर, 2012 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थियों की ओर से सर्वश्री सुशील कुमार, ज्येष्ठ अधिवक्ता, आदित्य कुमार, हर पुनीत सिंह राय और संजय जैन

प्रत्यर्थियों की ओर से सर्वश्री अतुल झा, संदीप झा, धर्मेन्द्र कुमार सिन्हा, के. एम. शुक्ला, डी. विद्यानंदम और अनिल कुमार झा

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति आर. के. अग्रवाल ने दिया ।

न्या. अग्रवाल – यह अपील 2011 की दांडिक प्रकीर्ण याचिका सं. 765 में छत्तीसगढ़ उच्च न्यायालय, बिलासपुर द्वारा तारीख 27 सितंबर, 2012 को पारित उस निर्णय और आदेश के विरुद्ध फाइल की गई है, जिसके द्वारा उच्च न्यायालय के विद्वान् एकल न्यायाधीश ने इस अपील में अपीलार्थियों द्वारा फाइल की गई याचिका खारिज कर दी ।

2. **संक्षिप्त तथ्य :**

(क) अपीलार्थी-अभियुक्त, मनोज कुमार शर्मा, जो सुसंगत समय पर भारतीय वायु सेना में सेवारत था, का विवाह तारीख 27 अप्रैल, 1999 को नंदिनी के साथ हुआ था । नंदिनी शर्मा (जिसकी मृत्यु हो चुकी है) ने तारीख 20 सितंबर, 1999 को अपने दांपत्य-निवास में आत्महत्या कर ली । इस बाबत इत्तिला भारतीय वायु सेना के सिक्योरिटी आफिसर द्वारा पुलिस थाना, मुलाना, जिला अम्बाला में दर्ज की गई थी । तारीख 22 सितंबर, 1989 को मृतका के शव की मरणोत्तर परीक्षा की गई और शव को अंतिम संस्कार के लिए नातेदारों को सौंप दिया गया ।

(ख) मुलाना पुलिस थाने के अन्वेषण करने वाले भारसाधक अधिकारी ने तारीख 22 सितंबर, 1999 को एक रिपोर्ट सं. 26 यह उल्लेख करते हुए प्रस्तुत की कि घटना में कूटकर्म का कोई चिह्न नहीं है । अन्वेषण के आधार पर तारीख 24 जनवरी, 2000 को उप-मंडल मजिस्ट्रेट के समक्ष एक अंतिम रिपोर्ट प्रस्तुत की गई, जिसे तारीख 19 फरवरी, 2000 को स्वीकार कर लिया गया । साथ-साथ, अपीलार्थी-अभियुक्त की अभिकथित भूमिका का अन्वेषण करने के लिए एक जांच न्यायालय (कोर्ट आफ इंक्वायरी) भी संयोजित किया गया, किंतु जांच पूर्ण होने के पश्चात् तारीख 25 जुलाई, 2000 को मामला अंतिम रूप से बंद कर दिया गया ।

(ग) उपरोक्त मामला बंद होने के पांच वर्ष पश्चात् मृतका के भाई श्री

शशि भूषण शर्मा (इस अपील के प्रत्यर्थी सं. 2) द्वारा इस अपील में अपीलार्थी सं. 1 मनोज शर्मा, हीरा लाल शर्मा, महावीर प्रसाद शर्मा और श्रीमती हेमलता शर्मा, जो क्रमशः अपीलार्थी सं. 1 का पिता, चाचा और माता हैं, के विरुद्ध पुलिस थाना भिलाई नगर, जिला दुर्ग में भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 34 के साथ पठित धारा 304ख और 498क के अधीन तारीख 29 मई, 2005 को एक नई प्रथम इत्तिला रिपोर्ट सं. 194 रजिस्ट्रीकृत कराई गई ।

(घ) अपीलार्थियों ने प्रथम इत्तिला रिपोर्ट फाइल होने से व्यथित होकर उच्च न्यायालय के समक्ष 2005 की रिट याचिका सं. 2890 फाइल की । उच्च न्यायालय की दंड न्यायपीठ ने तारीख 25 जुलाई, 2005 के आदेश द्वारा अभिकथित अपराध का अन्वेषण जारी रखने का निदेश दिया ।

(ङ) तारीख 4 अप्रैल, 2007 को उक्त याचिका न्यायालय की इजाजत से वापस ले ली गई और अपीलार्थियों ने प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को अभिखंडित करने के लिए दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (जिसे इसमें आगे "संहिता" कहा गया है) की धारा 482 के अधीन उच्च न्यायालय के समक्ष 2007 की दांडिक प्रकीर्ण याचिका सं. 612 फाइल की । उच्च न्यायालय के विद्वान् एकल न्यायाधीश ने तारीख 17 अक्तूबर, 2011 के आदेश द्वारा कार्यवाहियों को जारी रखे जाने की मंजूरी दी और पुलिस को यह निदेश दिया कि कार्यवाहियों में तर्कसंगत निष्कर्ष सुनिश्चित करने के लिए अनावश्यक विलंब के बिना ऋजु और उचित अन्वेषण किया जाए ।

(च) 2007 की दांडिक प्रकीर्ण याचिका सं. 612 में तारीख 17 अक्तूबर, 2011 को किए गए आदेश में उपांतरण के लिए एक आवेदन (2011 की दांडिक प्रकीर्ण याचिका सं. 732) इस आधार पर फाइल किया गया कि मामले में निर्णय के लंबित रहने के दौरान पुलिस द्वारा न्यायालय में आरोप पत्र फाइल किया जा चुका था और यह आवेदन तारीख 17 अक्तूबर, 2011 के आदेश द्वारा मंजूर किया गया ।

(छ) इसके बाद, अपीलार्थियों ने पुलिस थाना भिलाई नगर, जिला दुर्ग में रजिस्ट्रीकृत 2005 के अपराध मामला सं. 194 में उद्भूत 2011 की दांडिक कार्यवाही सं. 805 में फाइल किए गए क्रमशः तारीख 3 सितंबर, 2011 के आरोप पत्र और तारीख 13 अक्तूबर, 2011 को न्यायिक मजिस्ट्रेट, प्रथम श्रेणी, दुर्ग द्वारा आरोप पत्र पर किए गए संज्ञान को अभिखंडित करने के लिए संहिता की धारा 397 के साथ पठित धारा 482 के अधीन उच्च न्यायालय के समक्ष 2011 की दांडिक प्रकीर्ण याचिका सं. 765 फाइल की । उच्च न्यायालय के

विद्वान् एकल न्यायाधीश ने तारीख 27 सितंबर, 2012 के आदेश द्वारा अपीलार्थियों द्वारा फाइल की गई याचिका खारिज कर दी ।

(ज) अपीलार्थियों ने उपर्युक्त आदेश से व्यथित होकर विशेष इजाजत लेकर इस न्यायालय के समक्ष यह अपील फाइल की ।

3. अपीलार्थी-अभियुक्तों की ओर से विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल श्री सुशील कुमार और प्रत्यर्थी-राज्य की ओर से विद्वान् काउंसेल श्री अतुल झा को सुना ।

परस्पर विरोधी दलीलें :

4. अपीलार्थियों की ओर से विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने जोरदार रूप से यह दलील दी कि चूंकि घटनास्थल हरियाणा में है, इसलिए प्रथम इत्तिला रिपोर्ट और अपराध का संज्ञान दुर्ग में नहीं किया जा सकता था । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने यह भी दलील दी कि किसी संज्ञेय अपराध के कारित होने के संबंध में दी गई पूर्ववर्ती या प्रथम इत्तिला से संहिता की धारा 154 की अपेक्षा का समाधान हो जाता है और उसी संज्ञेय अपराध के संबंध में किसी पश्चात्वर्ती जानकारी के आधार पर दूसरी प्रथम इत्तिला रिपोर्ट या नए सिरे से अन्वेषण नहीं किया जा सकता है । अन्वेषण दुर्ग, छत्तीसगढ़ में किया गया था और मृतका विवाह के पश्चात् उक्त स्थान पर कभी नहीं रही, अतः दुर्ग स्थित न्यायालय को अभियोजन चलाने की अधिकारिता नहीं थी । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने अंततः यह दलील दी कि वर्तमान आरोप-पत्र प्रक्रिया का घोर दुरुपयोग था और यह किसी आधार के बिना ऐसी प्रथम इत्तिला रिपोर्ट के आधार पर फाइल किया गया था जो कि पांच वर्ष के पश्चात् दर्ज की गई थी और वह भी अनाम पत्रों के आधार पर ।

5. इसके विपरीत, प्रत्यर्थी-राज्य की ओर से विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी कि मुलाना पुलिस थाने में कोई प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज नहीं कराई गई थी और न ही किसी संज्ञेय अपराध के कारित होने के किसी अभिकथन का कोई अन्वेषण किया गया था, अपितु मृत्यु होने की इत्तिला प्राप्त होने पर पुलिस ने संहिता की धारा 174 के अधीन जांच की थी और उप-मंडल मजिस्ट्रेट को रिपोर्ट प्रस्तुत की थी । विद्वान् काउंसेल ने यह भी दलील दी कि यह ऐसा मामला नहीं है जहां पुलिस ने प्रथम इत्तिला रिपोर्ट रजिस्ट्रीकृत की हो, अन्वेषण किया है और संहिता की धारा 173 के अधीन रिपोर्ट प्रस्तुत की हो, बल्कि मामले को यह उल्लेख करते हुए बंद कर दिया गया था कि कोई अपराध कारित किया गया नहीं पाया गया है और सक्षम अधिकारिता वाले न्यायालय

द्वारा इस बात को स्वीकार किया गया था । आगे यह भी दलील दी गई कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट पहली बार भिलाई नगर थाने में दर्ज कराई गई थी और इसे एक ही घटना की दूसरी प्रथम इत्तिला रिपोर्ट नहीं कहा जा सकता है । घटनास्थल जांच इकाई कार्यालय, दुर्ग और निदेशक, चिकित्सा-विधिक संस्थान की रिपोर्टें ; प्रथम इत्तिला रिपोर्ट की अंतर्वस्तुएं, मामला डायरी के बयान भारतीय दंड संहिता की धारा 304ख और 498क के अधीन दांडिक कार्यवाहियां आरंभ करने के लिए प्रथमदृष्ट्या पर्याप्त हैं । विद्वान् काउंसेल ने यह भी दलील दी कि जहां तक क्षेत्रीय अधिकारिता के प्रश्न का संबंध है, वाद हेतुक भागतः दुर्ग स्थित न्यायालय की क्षेत्रीय अधिकारिता के भीतर उद्भूत हुआ था । विद्वान् काउंसेल ने अंतिमतः, यह दलील दी कि मृतका की मृत्यु के कारण की पूरी जांच की जानी चाहिए और न्याय की सर्वोत्तम पूर्ति तभी होगी जब अभियुक्त उसकी अप्राकृतिक मृत्यु के दोषी पाए जाएंगे ।

6. हमने परिसाक्ष्यों तथा दस्तावेजों सहित संपूर्ण अभिलेख का सावधानीपूर्वक परिशीलन किया और परस्पर विरोधी दलीलों पर विचार किया ।

चर्चा :

7. नंदिनी (जिसकी मृत्यु हो चुकी है) का विवाह तारीख 27 अप्रैल, 1999 को दुर्ग में अपीलार्थी सं. 1 के साथ हुआ था । तारीख 20 सितंबर, 1999 को उसकी अम्बाला स्थित अपने दांपत्य-निवास में संदिग्ध परिस्थितियों में मृत्यु हो गई । आरंभिक अन्वेषण के अनुसार, मृत्यु फांसी लगाने के कारण हुई थी । थाना अम्बाला ने इत्तिला प्राप्त होने पर संहिता की धारा 174 के अधीन जांच की । अन्वेषण के दौरान कोई अपराध कारित किया गया नहीं पाया गया । यहां यह, उल्लेखनीय है कि मृतका के पिता श्री आर. पी. शर्मा और अन्य नातेदार अन्वेषण के दौरान मौजूद थे । संहिता की धारा 174 के अधीन की गई जांच की रिपोर्ट उप-मंडल अधिकारी, अम्बाला को प्रेषित की गई, जो स्वीकार की गई और मामला अंतिम रूप से बंद कर दिया गया । साथ-साथ, भारतीय वायु सेना द्वारा जांच की गई और यह अभिनिर्धारित करते हुए मामले को बंद कर दिया गया कि मामले में किसी कूटकर्म की संदिग्धता नहीं है ।

8. लगभग पांच वर्ष पश्चात्, मृतका के भाई-प्रत्यर्थी सं. 2 को प्राप्त हुए अनाम पत्रों के आधार पर, जिनमें मृतका की मृत्यु को एक योजनाबद्ध हत्या बताया गया था, अपीलार्थियों के विरुद्ध भारतीय दंड संहिता की धारा 304ख और 498क के अधीन तारीख 29 मई, 2005 को 2005 की प्रथम इत्तिला रिपोर्ट सं. 194 रजिस्ट्रीकृत की गई । प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में,

सारतः, यह अभिलिखित किया गया है कि मृतका के साथ दहेज की मांग के लिए दांपत्य-निवास में अपीलार्थियों द्वारा क्रूरता की गई थी । मृतका ने तारीख 20 सितंबर, 1999 को दूरभाष पर अपीलार्थी सं. 1 के साथ झगड़ा होने के संबंध में सूचित किया था और वह उसी तारीख को मृत पाई गई । दुर्ग की पुलिस ने अन्वेषण के दौरान यह पाया कि मृतका के साथ दहेज की मांग के संबंध में उसके ससुराल वालों द्वारा वास्तव में क्रूरता की गई थी । अपीलार्थी सं. 1 को अपराध में अभिकथित अंतर्ग्रस्तता के कारण गिरफ्तार किया गया । अपीलार्थी सं. 1 ने प्रथम इत्तिला रिपोर्ट फाइल होने से व्यथित होकर उच्च न्यायालय के समक्ष एक रिट याचिका फाइल की, जिसे वापस लेने के कारण तारीख 17 अक्तूबर, 2011 के आदेश द्वारा खारिज कर दिया गया । उच्च न्यायालय के समक्ष संहिता की धारा 482 के अधीन एक नई याचिका भी फाइल की गई, जिसमें उच्च न्यायालय के विद्वान् एकल न्यायाधीश ने तारीख 17 अक्तूबर, 2011 के आदेश द्वारा पुलिस को यह निदेश देते हुए कि अन्वेषण तीव्रता से पूर्ण किया जाए अपीलार्थियों द्वारा फाइल की गई याचिका खारिज कर दी । इसके बाद, अपीलार्थियों द्वारा भिलाई नगर, जिला दुर्ग के थाने में रजिस्ट्रीकृत 2005 के अपराध मामला सं. 194 में क्रमशः तारीख 3 सितंबर, 2011 और 13 अक्तूबर, 2011 के आरोप पत्र और अपराध में किए गए संज्ञान को अभिखंडित करने के लिए एक याचिका फाइल की गई और उच्च न्यायालय के तारीख 27 सितंबर, 2012 के आदेश द्वारा उसे भी खारिज कर दिया गया ।

9. अपीलार्थियों की ओर से विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने यह दलील दी कि किसी संज्ञेय अपराध के कारित होने की बाबत दी गई पूर्ववर्ती या प्रथम इत्तिला से संहिता की धारा 154 की अपेक्षा का समाधान हो जाता है और उसी अपराध के संबंध में किसी पश्चात्वर्ती इत्तिला पर दूसरी प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज नहीं की जा सकती है या नए सिरे से अन्वेषण नहीं किया जा सकता है । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने इस बात पर भी जोर दिया कि जब पुलिस ने इत्तिला के आधार पर जांच कर ली थी और मामला बंद कर दिया था, तब प्रथम इत्तिला रिपोर्ट फाइल करके मामले को पुनः खोलने में कोई सार नहीं है और वह भी पांच वर्ष व्यतीत हो जाने के पश्चात् मृतका के भाई को प्राप्त हुए अनाम पत्रों के आधार पर । अपीलार्थियों की ओर से विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल के उपरोक्त दावे को ध्यान में रखते हुए, संहिता की धारा 174 के अधीन "जांच" की परिधि पर यह अभिनिश्चित करने के लिए

विचार करना आवश्यक है कि क्या संहिता की धारा 174 के अधीन प्राप्त "इत्तिला" से संहिता की धारा 154 की अपेक्षा का समाधान हो जाता है या नहीं ।

संहिता की धारा 174 के अधीन "जांच" की परिधि :

10. धारा 174 के अधीन कार्यवाहियों की अति सीमित परिधि है । इन कार्यवाहियों का उद्देश्य केवल यह अभिनिश्चित करना है कि क्या किसी व्यक्ति की मृत्यु संदेहास्पद परिस्थितियों में हुई है या अप्राकृतिक मृत्यु है और यदि ऐसा है तो मृत्यु का दृश्यमान कारण क्या है । मृतका पर कैसे हमला हुआ या उस पर किसने हमला किया या किन परिस्थितियों में उस पर हमला हुआ, इन ब्यौरों से संबंधित प्रश्न संहिता की धारा 174 के अधीन कार्यवाहियों की परिधि और व्याप्ति से बाहर हैं । पुलिस के लिए इन ब्यौरों का मृत्यु समीक्षा रिपोर्ट में उल्लेख करना न तो परिपाटी के अनुसार और न ही विधि के अनुसार आवश्यक है । अतः, मृत्यु समीक्षा रिपोर्ट में इन सभी बाह्य कृत्यों का ब्यौरा प्रविष्ट करना आवश्यक नहीं है । धारा 174 के अधीन प्रक्रिया मृत्यु का कारण पता लगाने के प्रयोजन के लिए है और साक्ष्य लेने का प्रयोजन बहुत ही कम है । जब शव पाया नहीं जा सकता हो या अन्त्येष्टि कर दी गई हो, तब धारा 174 के अधीन अन्वेषण नहीं किया जा सकता है । यह धारा उन मामलों में लागू होनी आशयित है, जिनमें मृत्यु समीक्षा आवश्यक होती है । इस धारा के अधीन की जाने वाली कार्यवाहियों को शिकायत के आधार पर की जाने वाली कार्यवाहियों से पूरी तरह से सुभिन्न रखा जाना चाहिए । पुलिस थाने के भारसाधक अधिकारी की, मजिस्ट्रेट के आदेश के बिना, किसी संज्ञेय अपराध का अन्वेषण करने की शक्ति किसी संज्ञेय अपराध के कारित होने के संबंध में प्रथम इत्तिला लेखबद्ध करने पर, चाहे वह मौखिक रूप से प्राप्त हुई हो या लिखित में, पुलिस की शक्तियों के आरंभिक बिंदु से परिवर्तित हो जाती है । इसलिए इन उपबंधों को इस प्रकार से स्थापित करने का जो स्पष्ट उद्देश्य है वह यह सुनिश्चित करना है कि पुलिस द्वारा कोई अन्वेषण आरंभ करने का प्रारंभिक बिंदु प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को अभिलिखित करना होना चाहिए । प्रथम इत्तिला रिपोर्ट रजिस्ट्रीकृत करने का प्रयोजन दांडिक अन्वेषण तंत्र को प्रारंभ करना है और उसके परिणाम के आधार पर ही पुलिस रिपोर्ट फाइल की जाती है और प्रथम इत्तिला रिपोर्ट के रजिस्ट्रीकरण के पश्चात् मामले में अन्वेषण आंरभ करना, अन्वेषण के दौरान साक्ष्य एकत्रित करना और अंतिम राय बनाना वह क्रम है जिसके

परिणाम के आधार पर संहिता की धारा 173 के अधीन रिपोर्ट फाइल की जाती है । **जार्ज और अन्य** बनाम **केरल राज्य और एक अन्य**[1] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि अन्वेषक अधिकारी मृत्युसमीक्षा के प्रक्रम पर अन्वेषण करने या यह अभिनिश्चित करने के लिए कि हमलावर कौन थे, आबद्ध नहीं है । **सुरेश राय और अन्य** बनाम **बिहार राज्य**[2] वाले मामले में इसी प्रकार का दृष्टिकोण अपनाया गया है ।

11. ऐसी वस्तुस्थिति में, संहिता की धारा 174 और 175 आकस्मिक या संदेहास्पद मौतों के मामलों में "जांचों" के प्रयोजन के लिए स्वतः एक पूर्ण संहिता है और संहिता की धारा 157 के अधीन किए जाने वाले "अन्वेषण" से पूरी तरह से सुभिन्न हैं, जिसमें यह उपबंधित है कि यदि पुलिस थाने के भारसाधक अधिकारी को यह संदेह करने का कारण है कि ऐसा अपराध किया गया है जिसका अन्वेषण करने के लिए वह सशक्त है, तो वह मामले के तथ्यों और परिस्थितियों का अन्वेषण करने के लिए स्वयं घटनास्थल पर जाएगा । प्रस्तुत मामले में, प्रारंभ में यह अभिनिश्चित करने के लिए संहिता की धारा 174 के अधीन एक जांच की गई थी कि मृत्यु प्राकृतिक है या अप्राकृतिक । अपीलार्थियों की ओर से विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने यह दावा किया है कि अप्राकृतिक मृत्यु होने के संबंध में दी गई पूर्ववर्ती इत्तिला संहिता की धारा 154 के अधीन प्रथम इत्तिला रिपोर्ट की कोटि में आती है, जिसका पुलिस द्वारा अन्वेषण किया गया था और उसके पश्चात् मामला बंद कर दिया गया था । जो जांच यह अभिनिश्चित करने के प्रयोजन के लिए की गई थी कि मृत्यु प्राकृतिक है या अप्राकृतिक, उसे अभिलेख की सामग्री की सावधानीपूर्वक संवीक्षा करने के पश्चात् संहिता की धारा 154 के अर्थ और आशय के अंतर्गत किसी संज्ञेय अपराध के कारित होने के संबंध में दी गई इत्तिला की कोटि में आने वाली नहीं कहा जा सकता है । पुलिस थाना, मुलाना द्वारा इत्तिला प्राप्त होने पर उसने संहिता की धारा 174 के अधीन यथा अनुध्यात जांच की थी । पुलिस ने जांच करने के पश्चात् उप-मण्डल मजिस्ट्रेट, अम्बाला के समक्ष अपनी रिपोर्ट यह उल्लेख करते हुए प्रस्तुत की कि यह फांसी लगाने का मामला था और यह नहीं पाया गया है कि कोई संज्ञेय अपराध किया गया है । रिपोर्ट में यह भी उल्लिखित था कि मृतका का पिता आर. पी. शर्मा (अभि. सा. 1) नहीं चाहते कि

---

[1] (1998) 4 एस. सी. सी. 605.

[2] (2000) 4 एस. सी. सी. 84.

मामले में आगे कोई कार्यवाही की जाए । उपरोक्त चर्चा को देखते हुए, स्पष्ट रूप से यह दर्शित होता है कि पुलिस द्वारा जो कार्य किया गया था, वह संहिता की धारा 174 के अधीन की जाने वाली जांच थी जो इस बात तक सीमित थी कि मृत्यु प्राकृतिक है या अप्राकृतिक और मामला बंद कर दिया गया था । जबकि, प्रथम इत्तिला रिपोर्ट अभिलिखित करने के लिए पूर्ववर्ती शर्त यह है कि किसी इत्तिला का होना आवश्यक है और उस इत्तिला से अवश्य कोई संज्ञेय अपराध किया गया प्रकट होना चाहिए और प्रस्तुत मामले में संदेह की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती है कि जो सूचना प्राप्त हुई थी वह संहिता की धारा 174 के अधीन यथा अनुध्यात प्रकृति की एक इत्तिला थी और इसे कोई संज्ञेय अपराध प्रकट करने वाली इत्तिला के रूप में वर्गीकृत नहीं किया जा सकता है । साथ ही, यह दर्शित करने के लिए कोई सामग्री नहीं है कि पुलिस ने अन्वेषण करने के पश्चात् संहिता की धारा 173 के अधीन यथा अनुध्यात रिपोर्ट सक्षम प्राधिकारी के समक्ष प्रस्तुत की थी और उसने उक्त रिपोर्ट स्वीकार की थी और मामला बंद कर दिया था ।

12. उपरोक्त को ध्यान में रखते हुए, हमारी यह राय है कि संहिता की धारा 174 के अधीन की जाने वाली जांच में जो अन्वेषण किया जाता है वह कोई संज्ञेय अपराध कारित होने के संबंध में संहिता की धारा 154 के अधीन यथा अनुध्यात अन्वेषण से सुभिन्न है और प्रस्तुत मामले में पुलिस थाना, मुलाना में कोई प्रथम इत्तिला रिपोर्ट रजिस्ट्रीकृत नहीं थी और न तो कोई अन्वेषण किया गया था और न ही संहिता की धारा 173 के अधीन कोई रिपोर्ट प्रस्तुत की गई थी । इसलिए पुलिस थाना, भिलाई नगर द्वारा 2005 के अपराध सं. 194 के अधीन रजिस्ट्रीकृत आक्षेपित प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती है कि यह दूसरी प्रथम इत्तिला रिपोर्ट थी, जिसके बहाने उसी घटना का अन्वेषण या नए सिरे से अन्वेषण आरंभ किया गया था ।

क्षेत्रीय अधिकारिता :

13. अपीलार्थियों की ओर से विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने जोरदार रूप से यह दलील दी कि पुलिस थाना भिलाई नगर, दुर्ग को भारतीय दंड संहिता की धारा 304ख और 498क के अधीन अपराध कारित होने का अभिकथन करने वाले मामले का अन्वेषण करने की अधिकारिता नहीं थी, क्योंकि अभिकथित अपराध का कोई भी भाग पुलिस थाना, भिलाई नगर की क्षेत्रीय अधिकारिता के भीतर कारित नहीं हुआ था । यह सत्य है कि धारा 156 की उपधारा (1) के अधीन क्षेत्रीय अधिकारिता भी इस सीमा तक

विहित है कि पुलिस अधिकारी किसी ऐसे संज्ञेय मामले का अन्वेषण कर सकता है, जिसकी जांच या विचारण करने की शक्ति उस थाने की सीमाओं के अंदर के स्थानीय क्षेत्र पर अधिकारिता रखने वाले न्यायालय को अध्याय 13 के उपबंधों के अधीन है । तथापि, उपधारा (2) में यह उपबंध करके स्थिति को स्पष्ट किया गया है कि ऐसे किसी मामले में पुलिस अधिकारी की किसी ऐसी कार्यवाही को किसी भी प्रक्रम पर इस आधार पर प्रश्नगत नहीं किया जाएगा कि वह मामला ऐसा था जिसमें ऐसा अधिकारी अन्वेषण करने के लिए सशक्त नहीं था । अन्वेषण पूर्ण होने के पश्चात् उस अन्वेषण का परिणाम धारा 168, 169 और 170 के अधीन उपबंधित अनुसार प्रस्तुत किया जाना अपेक्षित है । धारा 170 में विनिर्दिष्ट रूप से यह उपबंधित है कि अन्वेषण करने पर पुलिस थाने के भारसाधक अधिकारी को यह प्रतीत होता है कि अभियुक्त को मजिस्ट्रेट के पास भेजने की बात को न्यायोचित ठहराने के लिए पर्याप्त साक्ष्य है या संदेह करने का युक्तियुक्त आधार है तो वह अधिकारी पुलिस रिपोर्ट पर उस अपराध का संज्ञान करने के लिए और अभियुक्त का विचारण करने या उसे विचाराणार्थ सुपुर्द करने के लिए सशक्त मजिस्ट्रेट के पास अभिरक्षा में भेजेगा । इसके अतिरिक्त, यदि अन्वेषक अधिकारी इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि अपराध उसके पुलिस थाने की क्षेत्रीय अधिकारिता के भीतर कारित नहीं हुआ था, तब प्रथम इत्तिला रिपोर्ट उस क्षेत्र पर अधिकारिता रखने वाले पुलिस थाने को अग्रेषित की जा सकती है, जिसकी अधिकारिता के भीतर अपराध कारित हुआ था । किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि ऐसा मामला, जिसमें अन्वेषण की आवश्यकता है, पुलिस अधिकारी प्रथम इत्तिला रिपोर्ट अभिलिखित करने और/या अन्वेषण करने से इनकार कर सकता है । संहिता के अध्याय 13 में "जांचों और विचारणों में दंड न्यायालयों की अधिकारिता" का उपबंध है । यह कहना होगा कि उक्त अध्याय के अधीन ऐसे विभिन्न उपबंध हैं जो किसी दांडिक मामले की जांच या विचारण करने के लिए न्यायालय को सशक्त करते हैं और ऐसा कोई आत्यंतिक प्रतिषेध नहीं है कि स्थानीय क्षेत्रीय अधिकारिता से परे कारित अपराध का अन्वेषण, जांच या विचारण न किया जा सकता हो । यह बात धारा 177 से 188 के प्रतिनिर्देश से स्पष्ट हो जाती है । हमारे प्रयोजन के लिए, केवल धारा 177 और 178 को निर्दिष्ट करना पर्याप्त होगा, जो निम्नलिखित हैं :–

> "**177. जांच और विचारण का मामूली स्थान** – प्रत्येक अपराध की जांच और विचारण मामूली तौर पर ऐसे न्यायालय द्वारा किया जाएगा जिसकी स्थानीय अधिकारिता के अंदर वह अपराध किया गया है ।

178. जांच या विचारण का स्थान – (क) जहां यह अनिश्चित है कि कई स्थानीय क्षेत्रों में से किसमें अपराध किया गया है, अथवा

(ख) जहां अपराध अंशतः एक स्थानीय क्षेत्र में और अंशतः किसी दूसरे में किया गया है, अथवा

(ग) जहां अपराध चालू रहने वाला है और उसका किया जाना एक से अधिक स्थानीय क्षेत्रों में चालू रहता है, अथवा

(घ) जहां वह विभिन्न स्थानीय क्षेत्रों में किए गए कई कार्यों से मिलकर बनता है, वहां उसकी जांच या विचारण ऐसे स्थानीय क्षेत्रों में से किसी पर अधिकारिता रखने वाले न्यायालय द्वारा किया जा सकता है ।"

पूर्वोक्त उपबंधों के वाचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि धारा 177 में जांच और विचारण के "मामूली" स्थान के बारे में उपबंध है । धारा 178 में, अन्य बातों के साथ-साथ, जांच और विचारण के उस स्थान के बारे में उपबंध किया गया है, जब यह अनिश्चित है कि कई स्थानीय क्षेत्रों में से किसमें अपराध किया गया है या जहां अपराध अंशतः एक स्थानीय क्षेत्र में और अंशतः किसी दूसरे में किया गया है और जहां वह विभिन्न स्थानीय क्षेत्रों में किए गए कार्यों से मिलकर बनता है, वहां इसकी जांच या विचारण ऐसे स्थानीय क्षेत्रों में से किसी पर अधिकारिता रखने वाले न्यायालय द्वारा किया जा सकता है । इसलिए, अन्वेषण के प्रक्रम पर यह अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता है कि थाना अधिकारी को अपराध का अन्वेषण करने की क्षेत्रीय अधिकारिता नहीं है । किंतु अन्वेषण पूर्ण होने के पश्चात्, यदि अधिकारी इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज करने के लिए वाद-हेतुक उसकी क्षेत्रीय अधिकारिता के भीतर उद्भूत नहीं हुआ है, तब वह मामले को अपराध का संज्ञान करने के लिए संबंधित सशक्त मजिस्ट्रेट को अग्रेषित करेगा ।

14. प्रस्तुत मामले में, कार्यवाहियों को अभिखंडित करने के लिए क्षेत्रीय अधिकारिता का प्रश्न अन्य आधारों के साथ-साथ केवल एक आधार था और इसलिए उच्च न्यायालय को यह परीक्षा करनी चाहिए थी कि क्या मामला अन्य आधारों पर अभिखंडित किए जाने के लिए उपयुक्त है या नहीं । नंदिनी शर्मा ने अम्बाला में अपने दांपत्य-निवास में आत्महत्या की थी । उक्त घटना की बाबत इत्तिला पुलिस थाना, मुलाना, जिला अम्बाला को भेजी गई थी । तारीख 22 सितंबर, 1999 को शव की

मरणोत्तर परीक्षा की गई और उप-मंडल मजिस्ट्रेट के समक्ष प्रस्तुत अंतिम रिपोर्ट में यह उल्लेख करते हुए कि घटना में कोई कूटकर्म के चिह्न नहीं हैं, मामला बंद कर दिया गया । चूंकि अपीलार्थी सुसंगत समय पर फ्लाइंग आफिसर था, इसलिए अपीलार्थी सं. 1 की अभिकथित भूमिका का अन्वेषण करने के लिए एक न्यायालय जांच (कोर्ट आफ इंक्वायरी) भी संयोजित की गई, जिसे अंततः तारीख 25 सितंबर, 2000 को बंद कर दिया गया । मृतका के परिवार के किसी भी सदस्य ने नंदिनी की मृत्यु पर कोई संदेह नहीं किया या अपीलार्थी के परिवार के किसी भी सदस्य को नामित नहीं किया, विशिष्ट रूप से जब मृतका का पिता, भाई और अन्य नातेदार उस समय अम्बाला में मौजूद थे जब अन्वेषण किया गया था । अभिलेख का ठीक प्रकार से मूल्यांकन करने के पश्चात् हमारा यह निष्कर्ष है कि मृतका की मृत्यु के ठीक पूर्व उसके साथ की गई क्रूरता के बारे में जिक्र तक नहीं है । वास्तव में, यह बात अभिलेख पर है कि अपीलार्थी सं. 1 नंदिनी की मृत्यु के पश्चात् कई बार दुर्ग गया था और ससुराल में ठहरा था ।

15. किसी दांडिक अपराध की बाबत न्यायालय की क्षेत्रीय अधिकारिता घटना घटित होने के स्थान के आधार पर विनिश्चित की जाती है । प्रस्तुत मामले में, आत्महत्या अम्बाला में की गई थी । अम्बाला पुलिस ने संहिता की धारा 174 की अपेक्षाओं को पूरा करने के पश्चात् यह अभिनिर्धारित करते हुए मामले को बंद कर दिया कि घटना में कोई कूटकर्म नहीं है और धारा 154 के अधीन प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज करने की भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मृतका के परिवार के किसी भी सदस्य ने उसकी मृत्यु पर कोई संदेह नहीं जताया है, हालांकि मृत्यु विवाह के सात वर्ष के भीतर हुई है । ऐसा भी कोई साक्ष्य नहीं है कि यह अपराध ऐसा था जो जारी रहा था । इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि अभिकथित अपराध पूर्णतः या अंशतः दुर्ग स्थित मजिस्ट्रेट के न्यायालय की स्थानीय अधिकारिता के भीतर कारित किया गया है । प्रथमदृष्ट्या, यह नहीं कहा जा सकता है कि अपराध गठित करने वाला कोई संघटक उस न्यायालय की स्थानीय अधिकारिता के भीतर घटित हुआ था ।

16. प्रस्तुत मामले में, अभिलेख की सामग्री के अनुसार 2005 के अपराध सं. 194 में आरोप पत्र फाइल किया गया है और न्यायिक मजिस्ट्रेट, प्रथम श्रेणी, दुर्ग ने कार्यवाहियों का संज्ञान किया है । वर्तमान वस्तुस्थिति में, हमारी यह सुविचारित राय है कि दुर्ग स्थित न्यायालय को

मामले का विचारण करने की अधिकारिता नहीं है और क्षेत्रीय अधिकारिता की कमी के आधार पर कार्यवाहियां अभिखंडित की जानी चाहिए, चूंकि अभिकथित अपराध का संपूर्ण वाद-हेतुक तात्पर्यित रूप से अम्बाला शहर में उद्भूत हुआ था ।

प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज करने में विलंब :

17. प्रस्तुत मामले में, संहिता की धारा 174 के अधीन उपरोक्त मामला बंद होने के 5 (पांच) वर्ष पश्चात् इस मामले में प्रत्यर्थी सं. 2 – मृतका के भाई को प्राप्त हुए अनाम पत्रों के आधार पर भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 304ख और 498क के अधीन दुर्ग में नए सिरे से 2005 की प्रथम इत्तिला रिपोर्ट सं. 194 यह उल्लेख करते हुए रजिस्ट्रीकृत की गई कि नंदिनी शर्मा की मृत्यु एक पूर्व-योजनाबद्ध हत्या थी । नंदिनी की मृत्यु के पश्चात् भी अपीलार्थी सं. 1 और उसके ससुराल वालों के बीच संबंध सौहार्दपूर्ण थे, जैसाकि अभिलेख के साक्ष्य से यह आसानी से देखा जा सकता है । अपीलार्थी सं. 1 दुर्ग में अपनी ससुराल वालों से कई बार मिला था । न तो नंदिनी की मृत्यु के समय और न ही प्रत्यर्थी सं. 2 को अनाम पत्र प्राप्त होने से पूर्व प्रत्यर्थियों के मस्तिष्क में अपीलार्थियों की बाबत तनिक भी संदेह था । यहां तक कि मृतका के पिता ने भी कभी अपने दामाद के आचरण पर संदेह नहीं किया और प्रत्यर्थी सं. 2 को उपर्युक्त पत्र प्राप्त होने के पश्चात् ही, पांच वर्ष बीत जाने के पश्चात्, उसने यह अभिसाक्ष्य दिया कि अपीलार्थियों द्वारा दहेज की मांग के लिए उसकी पुत्री के साथ क्रूरता की गई थी ।

18. प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज कराने में विलंब के परिणामस्वरूप बढ़ा-चढ़ाकर बातें कही जाती हैं, जो कि सोच-विचार करके किया जाता है । विलंब के कारण प्रथम इत्तिला रिपोर्ट न केवल सहजता विहीन हो जाती है, अपितु गढ़े गए वृत्तांत या अतिरंजनात्मक कहानी के पुरःस्थापन का भी खतरा बना रहता है । हमारी राय में, प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज कराने में हुए ऐसे अत्यधिक विलंब से प्रत्यर्थी सं. 2 द्वारा अपीलार्थियों के विरुद्ध किए गए अभिकथनों की सत्यता के बारे में गंभीर संदेह उत्पन्न होता है जो, किसी भी स्थिति में, साधारण प्रकृति के हैं । हमें कोई संदेह नहीं है कि प्रत्यर्थी सं. 2 ने ऐसे अविवेकपूर्ण और अस्पष्ट अभिकथन करके अपीलार्थियों को दांडिक कार्यवाहियों में फंसाने की कोशिश की है । हमारी यह सुविचारित राय है कि इस प्रथम इत्तिला रिपोर्ट के अनुसरण में

अपीलार्थियों के विरुद्ध की गई दांडिक कार्यवाहियां विधि की प्रक्रिया का दुरुपयोग है । इसलिए न्याय के हित में प्रथम इत्तिला रिपोर्ट खारिज किए जाने योग्य है । इस संदर्भ में, **जय प्रकाश सिंह** बनाम **बिहार राज्य और एक अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के निम्नलिखित विनिश्चय को उद्धृत करना उपयुक्त है :–

> "12. किसी दांडिक मामले में प्रथम इत्तिला रिपोर्ट एक महत्वपूर्ण और मूल्यवान साक्ष्य होती है, भले ही सारवान् साक्ष्य न हो । कोई अपराध कारित होने के बारे में तत्परता से प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज कराने की बात पर जोर देने का उद्देश्य उन परिस्थितियों, जिनमें अपराध कारित किया गया, की शीघ्रता से इत्तिला, वास्तविक अपराधियों के नाम और उनके द्वारा निभाई गई भूमिका तथा घटनास्थल पर मौजूद प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों के नामों की जानकारी अभिप्राप्त करना है । यदि प्रथम इत्तिला दर्ज कराने में विलंब होता है तो इससे उसकी सहजस्वरूप के फायदे की हानि होती है और अनेकों परामर्शों/बातचीत के परिणामस्वरूप गढ़े गए वृत्तांत, अतिरंजनात्मक ब्यौरे या गढ़ी गई कहानी के पुरःस्थापन का खतरा बना रहता है । निस्संदेह, प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज कराने में तत्परता इत्तिलाकर्ता के वृत्तांत की सत्यता का आश्वासन है । शीघ्रतापूर्वक दर्ज कराई गई प्रथम इत्तिला रिपोर्ट से उसका वह प्रत्यक्ष विवरण प्रतिबिंबित होता है जो वास्तव में घटित हुआ है और प्रश्नगत अपराध के लिए कौन उत्तरदायी था ।"

19. कोई अपराध किया गया प्रकट होता है या नहीं, यह आवश्यक रूप से प्रत्येक मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर करेगा । यदि सुसंगत सामग्री पर विचार करने के पश्चात् न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि अपराध किया गया प्रकट होता है, तो वह प्रसामान्यतः अपराध के अन्वेषण में हस्तक्षेप नहीं करेगा और अपराध साबित करने के लिए सामग्री एकत्रित करने हेतु सामान्य तौर पर अपराध के अन्वेषण को पूर्ण किए जाने की मंजूरी देगा ।

20. उपरोक्त पृष्ठभूमि में, संहिता की धारा 482 के अधीन उच्च न्यायालय की अंतर्निहित शक्ति की परिधि की चर्चा करना भी आवश्यक है । हमारे समक्ष अपीलार्थियों ने प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को

---

[1] (2012) 4 एस. सी. सी. 379.

अभिखंडित करने के लिए संहिता की धारा 482 के अधीन एक याचिका इस आधार पर फाइल की कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट पांच वर्ष के विलंब के पश्चात् अपीलार्थियों से प्रतिशोध लेने के लिए विद्वेषपूर्वक अंतरस्थ हेतु के साथ संस्थित की गई है । **हरियाणा राज्य और अन्य** बनाम **भजन लाल और अन्य**[1] वाले मामले में इस बिंदु को बेहतर स्पष्ट किया गया है, जिसमें इस न्यायालय ने यह भी उल्लेख किया कि यद्यपि कोई स्पष्ट और साफ-साफ परिभाषित, पर्याप्ततः निर्दिष्ट और अनम्य दिशा निर्देश या कठोर सिद्धांत अधिकथित करना या ऐसे असंख्य मामलों की व्यापक सूची देना संभव न हो, जिनमें प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को अभिखंडित करने के लिए संहिता की धारा 482 के अधीन शक्ति का प्रयोग किया जाना चाहिए, किंतु ऐसी परिस्थितियां हो सकती हैं जिनमें न्यायालय ऐसी अधिकारिता का प्रयोग करने में न्यायोचित हो सकता है । ये परिस्थितियां हैं, जहां प्रथम इत्तिला रिपोर्ट से प्रथमदृष्ट्या कोई अपराध गठित न होता हो, कोई ऐसा संज्ञेय अपराध प्रकट न होता हो कि पुलिस द्वारा अन्वेषण करना न्यायोचित हो ; जहां अभिकथन इतने अस्पष्ट और अंतर्निहित रूप से अनधिसंभाव्य हों जिनके आधार पर कोई प्रज्ञावान व्यक्ति कदापि इस न्यायसंगत निष्कर्ष पर न पहुंच सके कि अभियुक्त के विरुद्ध कार्यवाहियां चलाने के लिए पर्याप्त आधार हैं ; जहां संहिता के किसी उपबंध में उपबंधित कोई अभित्यक्त विधिक वर्जना हो ; और जहां कोई दांडिक कार्यवाही स्पष्ट रूप से असद्भावपूर्ण हो और/या जहां कार्यवाहियां अभियुक्त से प्रतिशोध लेने के लिए अंतरस्थ हेतु के साथ विद्वेषपूर्वक तथा प्राइवेट और व्यक्तिगत वैमनस्य के कारण उसे तंग करने के लिए संस्थित की गई हो । इन आधारों का उल्लेख करने के बावजूद न्यायालय ने असंदिग्ध रूप से इस आशय की चेतावनी भी दी कि किसी दांडिक कार्यवाही को अभिखंडित करने की शक्ति का प्रयोग यदाकदा ही और अतिसावधानीपूर्वक किया जाना चाहिए और वह भी विरल से विरलतम मामलों में ; इस न्यायालय ने इस बात के लिए भी सचेत किया कि न्यायालय के लिए प्रथम इत्तिला रिपोर्ट या शिकायत में किए गए अभिकथनों की विश्वसनीयता या असलियत या अन्यथा के बारे में जांच का सहारा लेना न्यायोचित नहीं होगा और असाधारण या अंतर्निहित शक्तियां न्यायालय को अपनी इच्छा अनुसार कार्य करने के लिए मनमानी अधिकारिता प्रदत्त नहीं करती है । निर्णय के पैरा 102 में जो अभिनिर्धारित

---

[1] (1992) (सप्ली.) 1 एस. सी. सी. 335.

किया गया, वह निम्नलिखित है :–

"102. संहिता के अध्याय 14 के अधीन आने वाले विभिन्न सुसंगत उपबंधों के निर्वचन और अनुच्छेद 226 के अधीन असाधारण शक्ति या संहिता की धारा 482 के अधीन अंतर्निहित शक्ति के प्रयोग से संबंधित अनेक विनिश्चयों में इस न्यायालय द्वारा प्रतिपादित विधि के सिद्धांतों, जिनको हमने ऊपर प्रोद्धरित और उद्धृत किया है, की पृष्ठभूमि में हम दृष्टांत देकर मामलों के निम्नलिखित प्रवर्ग का उल्लेख करते हैं जिनमें ऐसी शक्ति का प्रयोग या तो किसी न्यायालय की प्रक्रिया के दुरुपयोग को रोकने या अन्यथा न्याय की प्राप्ति को सुनिश्चित करने के लिए किया जा सकता है, हालांकि स्पष्ट और साफ-साफ परिभाषित और पर्याप्ततः निर्दिष्ट तथा अनम्य दिशा-निर्देश या कठोर सिद्धांत अधिकथित करना और ऐसे असंख्य प्रकार के मामलों की व्यापक सूची देना संभव नहीं हो सकता है जिनमें ऐसी शक्ति का प्रयोग किया जाए –

(1) जहां प्रथम इत्तिला रिपोर्ट या शिकायत में किए गए अभिकथनों से, चाहे उन्हें हू-ब-हू ग्रहण करने और समग्र रूप से स्वीकार करने पर अभियुक्त के विरुद्ध प्रथमदृष्ट्या कोई अपराध गठित न होता हो या कोई मामला न बनता हो ।

(2) जहां प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में किए गए अभिकथनों और प्रथम इत्तिला रिपोर्ट से संलग्न अन्य सामग्री से, यदि कोई हो, ऐसा कोई संज्ञेय अपराध प्रकट न होता हो, जो संहिता की धारा 155(2) की परिधि के भीतर आने वाले मजिस्ट्रेट के आदेश के अधीन अन्वेषण के सिवाय धारा 156(1) के अधीन पुलिस अधिकारियों द्वारा किए जाने वाले अन्वेषण को न्यायोचित ठहराता हो ।

(3) जहां प्रथम इत्तिला रिपोर्ट या शिकायत में किए गए अविवादित अभिकथनों और उनके समर्थन में एकत्रित किए गए साक्ष्य से कोई अपराध किया गया प्रकट नहीं होता है और अभियुक्त के विरुद्ध कोई मामला नहीं बनता है ।

(4) जहां प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में किए गए अभिकथनों से कोई संज्ञेय अपराध गठित नहीं होता है अपितु असंज्ञेय अपराध गठित होता है, वहां संहिता की धारा 155(2) में यथा अनुध्यात

किसी मजिस्ट्रेट के आदेश के बिना पुलिस अधिकारी द्वारा अन्वेषण करना अनुज्ञात नहीं है ।

(5) जहां प्रथम इत्तिला रिपोर्ट या शिकायत में किए गए अभिकथन इतने अस्पष्ट और अंतर्निहित रूप से अनधिसंभाव्य हैं, जिनके आधार पर कोई प्रज्ञावान व्यक्ति कदापि इस निष्कर्ष पर न पहुंच सके कि अभियुक्त के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए पर्याप्त आधार है ।

(6) जहां संहिता या संबंधित अधिनियम (जिसके अधीन कोई दांडिक कार्यवाही संस्थित की जाती है) के किसी उपबंध में कार्यवाहियां संस्थित करने और जारी रखने के लिए अभिव्यक्त विधिक वर्जना उपबंधित है और/या जहां संहिता या संबंधित अधिनियम में व्यथित पक्षकार की शिकायत के लिए प्रभावी समाधान प्रदान करते हुए कोई विनिर्दिष्ट उपबंध है ।

(7) जहां कोई दांडिक कार्यवाही स्पष्ट रूप से असद्भाविक है और/या जहां कार्यवाही विद्वेषपूर्वक अंतरस्थ हेतु के साथ अभियुक्त से प्रतिशोध लेने के लिए और प्राइवेट और व्यक्तिगत वैरभाव के कारण उसे तंग करने के लिए संस्थित की गई है ।"

21. **राजीव थापर और अन्य** बनाम **मदन लाल कपूर**[1] वाले मामले में संहिता की धारा 482 की व्याप्ति और परिधि की चर्चा करते हुए इस न्यायालय की एक खंड न्यायपीठ द्वारा इसी प्रकार का दृष्टिकोण अपनाया गया, जिसमें निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया गया :–

"29. प्रस्तुत मामले में जिस मुद्दे की परीक्षा की जा रही है, वह उच्च न्यायालय की दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन अधिकारिता का है, यदि उच्च न्यायालय अभियुक्त के विरुद्ध आदेशिका जारी करने के प्रक्रम पर, या सुपुर्दगी के प्रक्रम पर, या यहां तक कि आरोप विरचित करने के प्रक्रम पर अभियोजन के प्रारंभ को अभिखंडित करना चाहता है । ये सभी प्रक्रम वास्तविक विचारण प्रारंभ होने के पूर्व के हैं । यही मानदंड स्वाभाविक रूप से बाद के प्रक्रमों पर भी उपलब्ध होंगे । दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के

---

[1] (2013) 3 एस. सी. सी. 330.

अधीन उच्च न्यायालय में निहित शक्ति के इसमें ऊपर निर्दिष्ट प्रक्रमों पर दूरगामी परिणाम होंगे, क्योंकि इससे अभियोजन/शिकायतकर्ता को साक्ष्य प्रस्तुत करने की अनुज्ञा दिए बिना अभियोजन/शिकायतकर्ता का पक्षकथन अस्वीकार हो जाएगा । ऐसा अवधारण सदैव सतर्कता, सावधानी और अवधानतापूर्वक किया जाना चाहिए । दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन अपनी अंतर्निहित अधिकारिता का अवलंब लेने के लिए उच्च न्यायालय को पूरी तरह से यह समाधान कर लेना चाहिए कि अभियुक्त द्वारा प्रस्तुत सामग्री ऐसी है जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उसकी/उनकी प्रतिरक्षा, सटीक, युक्तियुक्त और असंदेहास्पद तथ्यों पर आधारित है ; प्रस्तुत की गई सामग्री ऐसी है जिससे अभियुक्त के विरुद्ध आरोप पत्र में किए गए प्रकथन अस्वीकार और निरस्त हो जाते हैं ; और प्रस्तुत की गई सामग्री ऐसी है जिससे अभियोजन/शिकायतकर्ता द्वारा लगाए गए लांछनों में अंतर्विष्ट अभिकथनों की सत्यता स्पष्ट रूप से नामंजूर और अस्वीकार हो जाती है । यह सामग्री अभियोजन/शिकायतकर्ता द्वारा लगाए गए लांछनों को, कोई साक्ष्य अभिलिखित करने की आवश्यकता के बिना, अस्वीकार, नामंजूर और त्यक्त करने के लिए पर्याप्त होनी चाहिए । इसके लिए प्रतिरक्षा पक्ष द्वारा अवलंब ली गई सामग्री का खंडन न किया गया हो, या अनुकल्पतः, सामग्री की गुणवत्ता का सारभूत और अकाट्य होने के कारण उचित रूप से खंडन न किया जा सकता हो । अभियुक्त द्वारा अवलंब ली गई सामग्री ऐसी होनी चाहिए जो एक युक्तियुक्त व्यक्ति को लांछनों के वास्तविक आधार को मिथ्या होने के रूप में खारिज करने और अनुपयोगी घोषित करने के लिए प्रेरित करती हो । ऐसी स्थिति में, उच्च न्यायालय की अंतश्चेतना ऐसी दांडिक कार्यवाहियों को अभिखंडित करने के लिए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन अपनी शक्ति का प्रयोग करने के लिए उसे प्रेरित करेगी, क्योंकि उससे न्यायालय की प्रक्रिया का दुरुपयोग निवारित होगा और न्याय की प्राप्ति सुनिश्चित होगी ।

30. पूर्वगामी पैराओं में चर्चा की गई बातों के आधार पर हम किसी अभियुक्त द्वारा दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन उच्च न्यायालय में निहित शक्ति का अवलंब लेकर अभिखंडन के लिए की गई प्रार्थना की सत्यता का अवधारण करने के लिए

निम्नलिखित उपायों का वर्णन करते हैं –

30.1 उपाय एक : क्या अभियुक्त द्वारा अवलंब ली गई सामग्री सटीक, युक्तियुक्त और असंदेहास्पद है, अर्थात् क्या सामग्री की गुणवत्ता सारभूत और अकाट्य है ?

30.2 उपाय दो : क्या अभियुक्त के विरुद्ध लगाए गए आरोपों में अंतर्विष्ट प्रकथनों को उसके द्वारा अवलंब ली गई सामग्री से नकारा जा सकता है, अर्थात् क्या सामग्री शिकायत में अंतर्विष्ट तथ्यात्मक प्रकथनों को नामंजूर और उलटने के लिए पर्याप्त है, अर्थात् क्या सामग्री ऐसी है जो एक युक्तियुक्त व्यक्ति को अभियुक्त पर लगाए गए लांछनों के तथ्यात्मक आधार को मिथ्या होने के रूप में खारिज और अनुपयोगी घोषित करने के लिए प्रेरित करती है ?

30.3 उपाय तीन : क्या अभियुक्त द्वारा अवलंब ली गई सामग्री का अभियोजन/शिकायतकर्ता द्वारा खंडन नहीं किया गया है ; और/या सामग्री ऐसी है जिसका अभियोजन/शिकायतकर्ता द्वारा उचित रूप से खंडन नहीं किया जा सकता है ?

30.4 उपाय चार : क्या विचारण अग्रसर करने के परिणामस्वरूप न्यायालय की प्रक्रिया का दुरुपयोग होगा और न्याय की प्राप्ति नहीं हो सकेगी ?

30.5 यदि सभी उपायों का उत्तर सकारात्मक है, तो उच्च न्यायालय की न्यायिक अंतश्चेतना उसे दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 422 के अधीन उसमें निहित शक्ति का प्रयोग करते हुए ऐसी दांडिक कार्यवाहियों को अभिखंडित करने के लिए प्रेरित करेगी । शक्ति के ऐसे प्रयोग से अभियुक्त के साथ न्याय करने के अतिरिक्त न्यायालय का मूल्यवान समय भी बचेगा, जो अन्यथा ऐसा विचारण (तथा उससे उद्भूत कार्यवाहियों) करने में बर्बाद होता, विशिष्ट रूप से जब यह स्पष्ट है कि उनसे अभियुक्त की दोषसिद्धि का निष्कर्ष नहीं निकलेगा ।'

निष्कर्ष :

22. उपरोक्त चर्चा को ध्यान में रखते हुए, हमारी यह सुविचारित राय है कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में किए गए अभिकथन अंतर्निहित रूप से अनधिसंभाव्य हैं और इनके समर्थन में एकत्रित किए गए साक्ष्य से किसी अपराध का कारित होना प्रकट नहीं होता है तथा अपीलार्थियों के विरुद्ध

कोई मामला नहीं बनता है । इसके अतिरिक्त, संहिता की धारा 482 के अधीन अंतर्निहित अधिकारिता का अवलंब लेने के लिए उच्च न्यायालय का पूरी तरह से यह समाधान होना आवश्यक है कि अभिलेख पर प्रस्तुत की गई सामग्री सटीक, उचित और युक्तियुक्त तथ्यों पर आधारित हो । प्रस्तुत मामले में, मृतका के भाई द्वारा पांच वर्ष की अवधि के पश्चात् और वह भी अनाम पत्रों के आधार पर विद्वेषपूर्ण अभियोजन संस्थित किया गया था । प्रथम इत्तिला रिपोर्ट फाइल होने से पूर्व अपीलार्थियों के विरुद्ध कोई अभ्यारोपण नहीं था । अपीलार्थियों के विरुद्ध किए गए अभिकथन अस्पष्ट हैं और दांडिक कार्यवाहियां जारी रखने की आवश्यकता नहीं है । साथ ही, दुर्ग स्थित न्यायालय को क्षेत्रीय अधिकारिता नहीं है क्योंकि वाद हेतुक, यदि कोई है, अम्बाला में उद्भूत हुआ था । दांडिक कार्यवाही अत्यधिक विलंब के पश्चात् की गई है और बाद में सोच-विचार का परिणाम है । उच्च न्यायालय इस कसौटी को लागू करने में असफल रहा है कि क्या अविवादित अभिकथनों से, जो प्रथमदृष्ट्या किए गए हैं, अपराध सिद्ध होता है या नहीं । न्यायालय के लिए यह भी आवश्यक है कि वह किन्हीं ऐसी विशेषताओं पर भी विचार करे जो किसी विशिष्ट मामले में यह विचार करने के लिए प्रतीत होती हों कि क्या अभियोजन जारी रखने की अनुज्ञा देना समीचीन और न्याय के हित में है या नहीं । उच्च न्यायालय ने न्यायिक रूप से अपने मस्तिष्क का प्रयोग नहीं किया और अभिलेख के गलत मूल्यांकन के आधार पर संहिता की धारा 482 के अधीन फाइल की गई याचिका के आधार पर अन्वेषण को जारी रखने का आदेश दिया । इस शक्ति का प्रयोग न्यायसम्मत रूप से किया जाना चाहिए न कि अनुचित रूप से या मनमाने ढंग से, क्योंकि शक्ति के ऐसे अनुचित या अस्थिर मन से प्रयोग के अवांछनीय परिणाम हो सकते हैं ।

23. पूर्वगामी चर्चा को ध्यान में रखते हुए, तारीख 29 मई, 2005 की प्रथम इत्तिला रिपोर्ट सं. 194 तद्द्वारा अभिखंडित की जाती है और अपीलार्थियों के विरुद्ध दांडिक कार्यवाही अभियोजन पक्षकथन के अभाव में बंद की जाती है । परिणामतः, यह अपील मंजूर की जाती है ।

अपील मंजूर की गई ।

जस.

[2017] 1 उम. नि. प. 142

प्रभू चावला

बनाम

राजस्थान राज्य

5 सितंबर, 2016

न्यायमूर्ति जे. चेलामेश्वर, न्यायमूर्ति शिव कीर्ति सिंह और न्यायमूर्ति अभय मनोहर सप्रे

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) – धारा 482 और धारा 397 – उच्च न्यायालय की अंतर्निहित अधिकारिता – उच्च न्यायालय को धारा 482 के अधीन अपनी अंतर्निहित शक्तियों का प्रयोग करते हुए न्याय के प्रयोजनों को पूरा करने और किसी न्यायालय की प्रक्रिया के दुरुपयोग को रोकने की असाधारण शक्ति है, चूंकि धारा 397 अंतर्वर्ती आदेश से भिन्न सभी आदेशों को लागू होती है अतः धारा 482 के अधीन अंतर्निहित शक्ति की उपलब्धता को सीमित करना अन्यायसंगत होगा ।

प्रभू चावला और जगदीश उपासने और अन्य की अपीलों पर विचार करते हुए इन दोनों दांडिक अपीलों में तारीख 2 अप्रैल, 2009 के ऐसे एक ही आदेश की चुनौती दी गई है जिसके द्वारा जोधपुर स्थित राजस्थान उच्च न्यायालय ने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन अपीलार्थियों द्वारा प्रस्तुत की गई याचिकाओं को खारिज किया गया । उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करते हुए कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 397 के अधीन उपचार की उपलब्धता दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन याचिका को संधार्य नहीं बनाएगा, संजय भंडारी बनाम राजस्थान राज्य वाले मामले में राजस्थान उच्च न्यायालय के निर्णय को ध्यान में रखते हुए याचिकाओं का संधार्य न होना अभिनिर्धारित किया । इन सभी विषयों पर विचार करते हुए, 5 जुलाई, 2013 को खंड न्यायपीठ ने उच्च न्यायालय के आक्षेपित आदेश को धारीवाल टोबैको प्रोडक्ट्स लिमिटेड और अन्य बनाम महाराष्ट्र राज्य और एक अन्य वाले मामले में कथित विधि के विरुद्ध पाया । उस मामले में खंड न्यायपीठ ने विधि की इस प्रतिपादना से सहमति व्यक्त की कि स्वयं दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 397 के अधीन दांडिक पुनरीक्षण के अनुकल्पी उपचार की उपलब्धता दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन किसी आवेदन को खारिज करने का अच्छा आधार नहीं

बनता । किंतु यह ध्यान दिया कि मोहित **उर्फ** सोनू और एक अन्य बनाम उत्तर प्रदेश राज्य और एक अन्य वाले मामले में इस न्यायालय की पश्चात्वर्ती खंड न्यायपीठ के निर्णय में प्रकटतः इसके प्रतिकूल यह अभिनिर्धारित किया गया कि जब चुनौतीधीन कोई आदेश अंतर्वर्ती प्रकृति का नहीं है और उच्च न्यायालय की पुनरीक्षण अधिकारिता के अधीन है तो उच्च न्यायालय की अंतर्निहित अधिकारिता का अवलंब लेने का वर्जन होना चाहिए । ऐसे विरोध को ध्यान में रखते हुए, इन मामलों को वृहत्तर न्यायपीठ के निर्देश के लिए माननीय मुख्य न्यायमूर्ति के समक्ष रखे जाने का निदेश दिया गया और इस प्रकार इस न्यायपीठ के समक्ष ये मामले विरोध को दूर करने के लिए हैं । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपीलें मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन उच्च न्यायालय की अंतर्निहित शक्ति से संबंधित मुद्दे के बारे में आगे किसी विधि को स्पष्ट करने का कोई प्रयास करने की अपेक्षा नहीं है । हम मात्र यह दोहराते हैं कि धारा 482 यह उल्लेख करते हुए सर्वोपरि खंड से आरंभ होती है : "इस संहिता की कोई बात उच्च न्यायालय की ऐसे आदेश देने की अंतर्निहित शक्ति को सीमित या प्रभावित करने वाली न समझी जाएगी जैसे इस संहिता के अधीन किसी आदेश को प्रभावी करने के लिए या किसी न्यायालय की कार्यवाही का दुरुपयोग निवारित करने के लिए या किसी अन्य प्रकार से न्याय के उद्देश्यों की प्राप्ति सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक हो ।" सुतराम, न्यायमूर्ति कृष्णा अय्यर के शब्दों में, इस संपूर्ण अधिकारिता के प्रयोग पर कोई पूर्ण रोक नहीं लगाया जा सकता जहां "न्याय की प्रक्रिया का दुरुपयोग या अन्य असाधारण स्थिति न्यायालय की अधिकारिता पैदा करते हैं । परिसीमा आत्मसंयम से अधिक कुछ नहीं है ।" हम समर्थन में अतिरिक्त कारण बताते हैं । चूंकि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 397 अंतर्वर्ती आदेश से भिन्न सभी आदेशों के विरुद्ध लागू होते हैं इसलिए प्रतिकूल मत दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन अंतर्निहित शक्तियों की उपलब्धता को सीमित करेगा । केवल ऐसे छोटे अंतर्वर्ती आदेशों की स्थिति में ऐसी अधिकारिता पूर्णतः अनापेक्षित और अवांछनीय होगी । परिणामतः, न्यायालय यह कहने के लिए मजबूर है कि मोहित **उर्फ** सोनू और एक अन्य वाले मामले में विशेषकर पैरा 28 में खंड न्यायपीठ ने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 में उच्च न्यायालय की अंतर्निहित शक्तियों की बाबत विधि का सही उल्लेख नहीं किया है । हम

ससम्मान इससे असहमति व्यक्त करते हैं । उच्च न्यायालय के विद्वान् एकल न्यायाधीश को धारीवाल टोबैको प्रोडक्ट्स लिमिटेड और अन्य पूर्व मामलों जिन्हें उद्धृत किया गया था, में इस न्यायालय द्वारा अधिकथित विधि का पालन करना चाहिए किंतु 2006 की एकल न्यायपीठ दांडिक प्रकीर्ण याचिका सं. 289 जो 2009 की विशेष इजाजत याचिका सं. 4744 से उद्भूत संबद्ध दांडिक अपील में आक्षेपित है, में तारीख 5 फरवरी, 2009 को एक अन्य विद्वान् एकल न्यायाधीश द्वारा पारित संजय भंडारी वाले मामले में उस न्यायालय के निर्णय के अधिमान में गलत ढंग से उपेक्षित किया गया । परिणामतः प्रभू चावला द्वारा फाइल की गई और दूसरी जगदीश उपासने और अन्य द्वारा फाइल की गई दोनों अपीलें अनुज्ञात की गईं हैं । राजस्थान उच्च न्यायालय द्वारा पारित तारीख 2 अप्रैल, 2009 का आक्षेपित एक जैसे आदेश को अपास्त किया गया और मामलों को उपरोक्त स्पष्ट किए गए विधि के आलोक में और विधि के अनुसार निपटान के लिए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन याचिकाओं की नए सिरे से सुनवाई के लिए उच्च न्यायालय को प्रतिप्रेषित किया गया । क्योंकि मामले काफी समय से लंबित हैं इसीलिए उच्च न्यायालय से अधिमानतः छह माह के भीतर मामलों की सुनवाई करने और यथाशीघ्र विनिश्चित करने का अनुरोध किया जाता है । (पैरा 6, 7 और 8)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[2013]	(2013) 7 एस. सी. सी. 789 : **मोहित** उर्फ **सोनू और एक अन्य** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य और एक अन्य** ;	3
[2009]	(2009) 2 एस. सी. सी. 370 : **धारीवाल टोबैको प्रोडक्ट्स लिमिटेड और अन्य** बनाम **महाराष्ट्र राज्य और एक अन्य** ;	
[2009]	2009 (1) क्रिमिनल ला रिपोर्ट (राजस्थान) 282 : **संजय भंडारी** बनाम **राजस्थान राज्य** ;	2
[2008]	(2008) 3 एस. सी. सी. 574 : **सोम मित्तल** बनाम **कर्नाटक राज्य** ;	5
[1980]	(1980) 1 एस. सी. सी. 43 : **राज कपूर और अन्य** बनाम **राज्य और अन्य** ;	5

[1977] (1977) 4 एस. सी. सी. 551 :
मधु लिमये बनाम **महाराष्ट्र राज्य** ; 5

[1960] ए. आई. आर. 1960 एस. सी. 866 :
आर. पी. कपूर बनाम **पंजाब राज्य** । 5

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : **2016 की दांडिक अपील सं. 842 के साथ 2016 की दांडिक अपील सं. 844 और 845-846.**

2007 की एकल न्यायपीठ दांडिक प्रकीर्ण याचिका सं. 296 में राजस्थान उच्च न्यायालय, जोधपुर द्वारा पारित तारीख 2 अप्रैल, 2009 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री पी. के. गोस्वामी, ज्येष्ठ अधिवक्ता, अरुनभ चौधरी, जयंत मोहन, वैभव तोमर, कर्मा दोर्जी (मैसर्स कोक की ओर से), राजशेखर राव, सुश्री चतन्या पुरी और डी. महेश बाबू, अधिवक्ता

प्रत्यर्थी की ओर से सर्वश्री शिव मंगल शर्मा, अटर्नी जनरल, सारांश कुमार, ब्रजेश पांडेय, राम नरेश यादव, सुश्री रुचि कोहली और मिलिंद कुमार, अधिवक्ता

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति शिव कीर्ति सिंह ने दिया ।

न्या. सिंह – इजाजत दी गई ।

2. सर्वप्रथम हम प्रभू चावला और जगदीश उपासने और अन्य की अपीलों पर विचार करते हैं क्योंकि इन दोनों दांडिक अपीलों में तारीख 2 अप्रैल, 2009 के ऐसे एक ही आदेश की चुनौती दी गई है जिसके द्वारा जोधपुर स्थित राजस्थान उच्च न्यायालय ने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन अपीलार्थियों द्वारा प्रस्तुत की गई याचिकाओं को खारिज किया गया । उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करते हुए कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 397 के अधीन उपचार की उपलब्धता दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन याचिका को संधार्य नहीं बनाएगा, **संजय भंडारी**

बनाम **राजस्थान राज्य**[1] (अन्य संबद्ध अपील में आक्षेपित) वाले मामले में राजस्थान उच्च न्यायालय के निर्णय को ध्यान में रखते हुए याचिकाओं का संधार्य न होना अभिनिर्धारित किया ।

3. विशेष इजाजत याचिका प्रक्रम पर इन सभी विषयों पर विचार करते हुए, 5 जुलाई, 2013 को खंड न्यायपीठ ने उच्च न्यायालय के आक्षेपित आदेश को **धारीवाल टोबैको प्रोडक्ट्स लिमिटेड और अन्य** बनाम **महाराष्ट्र राज्य और एक अन्य**[2] वाले मामले में कथित विधि के विरुद्ध पाया । उस मामले में खंड न्यायपीठ ने विधि की इस प्रतिपादना से सहमति व्यक्त की कि स्वयं दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 397 के अधीन दांडिक पुनरीक्षण के अनुकल्पी उपचार की उपलब्धता दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन किसी आवेदन को खारिज करने का अच्छा आधार नहीं बनता । किंतु यह ध्यान दिया कि **मोहित** उर्फ **सोनू और एक अन्य** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य और एक अन्य**[3] वाले मामले में इस न्यायालय की पश्चात्वर्ती खंड न्यायपीठ के निर्णय में प्रकटतः इसके प्रतिकूल अभिनिर्धारित किया गया कि जब चुनौतीधीन कोई आदेश अंतर्वर्ती प्रकृति का नहीं है और उच्च न्यायालय की पुनरीक्षण अधिकारिता के अधीन है तो उच्च न्यायालय की अंतर्निहित अधिकारिता का अवलंब लेने का वर्जन होना चाहिए । ऐसे विरोध को ध्यान में रखते हुए, इन मामलों को वृहत्तर न्यायपीठ के निर्देश के लिए माननीय मुख्य न्यायमूर्ति के समक्ष रखे जाने का निदेश दिया गया और इस प्रकार इस न्यायपीठ के समक्ष ये मामले विरोध को दूर करने के लिए हमारे समक्ष हैं ।

4. इन अपीलों के तथ्य हमें निरुद्ध नहीं कर सकते क्योंकि हमारी विचारित राय में आक्षेपित आदेश में राजस्थान उच्च न्यायालय द्वारा व्यक्त किया गया मत विधि के प्रतिकूल है अतः, मामलों को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन उच्च न्यायालय को उपलब्ध अंतर्निहित शक्तियों की व्याप्ति के भीतर गुणागुण पर नए सिरे से विचार करने के लिए उच्च न्यायालय को वापस प्रतिप्रेषित करना होगा । यह उल्लेख करना पर्याप्त होगा कि इन दोनों अपीलों में, उच्च न्यायालय के समक्ष प्रकीर्ण याचिकाएं 2006 की परिवाद सं. 1669 में जोधपुर के विद्वान् न्यायिक मजिस्ट्रेट सं. 3 द्वारा पारित तारीख 30 नवंबर, 2006 के उस आदेश से उद्भूत हुईं जिसके

---

[1] 2009 (1) क्रिमिनल ला रिपोर्ट (राजस्थान) 282.

[2] (2009) 2 एस. सी. सी. 370.

[3] (2013) 7 एस. सी. सी. 789.

द्वारा उसने भारतीय दंड संहिता की धारा 228क के अधीन अपीलार्थियों के विरुद्ध संज्ञान लिया और मामले में आगे कार्यवाहियों का सामना करने के लिए जमानतीय वारंट के माध्यम से उन्हें समन किया ।

5. अपीलार्थियों की ओर से विद्वान् वरिष्ठ अधिवक्ता श्री पी. के. गोस्वामी ने **धारीवाल टोबैको प्रोडक्ट्स लिमिटेड** (उपरोक्त) वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा व्यक्त किए गए मत का समर्थन किया । उन्होंने यह इंगित किया कि इस निर्णय के पैरा 6 में न्यायमूर्ति एस. बी. सिन्हा ने यह निष्कर्ष निकालते हुए **आर. पी. कपूर** बनाम **पंजाब राज्य**[1] और **सोम मित्तल** बनाम **कर्नाटक राज्य**[2] वाले मामले सहित इस न्यायालय के कई पूर्व निर्णयों पर ध्यान दिया कि "केवल इस कारण कि पुनरीक्षण याचिका संधार्य है, स्वयं यह ..... संहिता की धारा 482 के अधीन किसी आवेदन को ग्रहण करने के लिए वर्जन गठित नहीं करेगा ।" श्री गोस्वामी ने **राज कपूर और अन्य** बनाम **राज्य और अन्य**[3] वाले मामले में खंड न्यायपीठ की ओर से न्यायमूर्ति कृष्णा अय्यर के निर्णय का ठोस अवलंब भी लिया । **मधु लिमये** बनाम **महाराष्ट्र राज्य**[4] वाले मामले में तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ का अवलंब लेते हुए और उसमें के पैरा 10 में न्यायमूर्ति कृष्णा अय्यर द्वारा अपनी अमिट शैली में स्पष्ट किए गए विधि का उल्लेख करते हुए विचार व्यक्त किया । पैरा 10 इस प्रकार है :–

> "10. प्रथम प्रश्न यह है कि क्या धारा 482 के अधीन उच्च न्यायालय की अंतर्निहित शक्ति ऐसी दशा में अभिखंडित हो जाती है जिसमें कि धारा 397 के अधीन पुनरीक्षण शक्ति अतिव्याप्ति करती है । धारा 482 के प्रारंभिक शब्द इस दलील का खंडन करते हैं क्योंकि संहिता में ऐसी कोई बात नहीं है और न ही वह धारा 397, धारा 482 की भाषा द्वारा पूर्ण रूप से परिरक्षित अंतर्निहित शक्ति के प्रसार को प्रभावित करती है । तथापि, विधि की इस शाखा में एक सामान्य सिद्धांत व्याप्त होता है जबकि कोई विनिर्दिष्ट उपबंध किया जाता है, अंतर्निहित शक्ति के प्रति सुगमतापूर्वक आश्रय उचित नहीं है जब तक कि विवश्यक परिस्थितियां विद्यमान न हों । ऐसी बात नहीं है कि यहां अधिकारिता का अभाव है, किंतु यह कि अंतर्निहित शक्ति ऐसे

---

[1] ए. आई. आर. 1960 एस. सी. 866.
[2] (2008) 3 एस. सी. सी. 574.
[3] (1980) 1 एस. सी. सी. 43.
[4] (1977) 4 एस. सी. सी. 551.

क्षेत्रों को आक्रांत करने वाली नहीं होनी चाहिए जो कि उसी संहिता के अधीन विनिर्दिष्ट शक्ति के लिए पृथक् रखी गई है । मधु लिमये **बनाम** महाराष्ट्र राज्य [(1977) 4 एस. सी. सी. 551] वाले मामले में इस न्यायालय ने विस्तारपूर्वक, और यदि मैं अत्यंत आदर सहित कहूं तो विधि के संबंध का सही तौर पर विचार-विमर्श तथा चित्रण समूचे रूप से किया है । जबकि यह सही है कि धारा 482 व्यापक धारा है उसे चाहिए कि यह उसी संहिता में लिखित विधिक निषेधों का प्रत्याख्यान न करें, जैसाकि उदाहरणार्थ धारा 397(2) में लिखित है । इन दोनों उपबंधों में कुछ स्थितियों में हो सकता है कि प्रत्यक्ष मतभेद उत्पन्न हो तथा उसका सुचारु हल निकल आए –

> धारा 397 की उपधारा (2) में उपबंधित वर्जन केवल उच्च न्यायालय की पुनरीक्षण शक्ति के प्रयोग में ही प्रवर्तित होता है जिसका अर्थ यह है कि उच्च न्यायालय को अंतर्वर्ती आदेश के संबंध में पुनरीक्षण की कोई शक्ति प्राप्त नहीं है । ऊपर प्रतिपादित अन्य सिद्धांतों में से एक सिद्धांत के अनुसार अंतर्निहित शक्ति लागू होगी चूंकि व्यथित पक्षकार की व्यथा का परितोष करने के लिए संहिता में कोई अन्य उपबंध नहीं है । परंतु फिर यदि आक्षेपित आदेश पूर्णतः 1898 की संहिता के अधीन उच्च न्यायालय की पुनरीक्षण शक्ति के प्रयोग में है, तो उच्च न्यायालय अपनी अंतर्निहित शक्ति का प्रयोग करने से मना कर देगा, परंतु यदि आक्षेपित आदेश स्पष्ट रूप से ऐसी स्थिति पैदा कर देता है जो न्यायालय की प्रक्रिया का दुरुपयोग है या न्याय के उद्देश्य को प्राप्त करने के प्रयोजन के लिए उच्च न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप पूर्णतः आवश्यक है, तो धारा 397(2) में अंतर्विष्ट कोई बात उच्च न्यायालय द्वारा अंतर्निहित शक्ति के प्रयोग को सीमित या प्रभावित नहीं करेगी । परंतु ऐसे मामले थोड़े और यदाकदा होते हैं । उच्च न्यायालय को अंतर्निहित शक्ति का प्रयोग बहुत कम करना चाहिए । ऐसा एक मामला अवैध रूप से या तंग करने के लिए प्रारंभ की गई दांडिक कार्यवाही या अधिकारिता-विहीन कार्यवाही को अभिखंडित करने की वांछनीयता हो सकती है ।"

संक्षेप में, अंतर्निहित शक्ति के प्रयोग पर पूर्ण वर्जन नहीं है जहां कि न्यायालय की प्रक्रिया का दुरुपयोग अथवा अन्य असाधारण स्थिति

न्यायालय की अधिकारिता को उत्तेजित करती है । अधिकारिता आत्मनिर्बंधित है, न कि उससे कुछ अधिक । विधि की नीति स्पष्ट है, अर्थात् यह कि अंतर्वर्ती आदेश जो कि शुद्ध तथा सामान्य हो, उच्च न्यायालय के समक्ष नहीं ले जाए जाने चाहिए क्योंकि इससे परिणामतः अनावश्यक मुकदमेबाजी और विलंब होता है । दूसरे छोर पर अंतिम आदेश स्पष्ट रूप से अंतर्निहित शक्ति के प्रयोग में विचार करने योग्य है यदि न्यायालय के समक्ष गंभीर अन्याय आता है । इन दोनों के बीच तृतीय प्रतिफल (टर्शयम क्विड) जैसा कि न्यायाधिपति ऊंटवालिया द्वारा उदाहरणार्थ बताया गया है, जहां कहीं अंतर्वर्ती आदेश का स्वरूप शुद्ध अंतर्वर्ती आदेश से अधिक हो और अंतिम व्ययन से कम हो । वर्तमान मामला उस कोटि के अधीन आता है जिसमें कि अभियुक्तों ने न्यायालय के आदेश द्वारा तंग किए जाने का परिवाद रखा है । क्या हम यह कथन कर सकते हैं कि इस तृतीय प्रवर्ग में अंतर्निहित शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है ? न्यायाधिपति ऊंटवालिया के शब्दों में –

> "इसका उत्तर स्पष्ट है कि वर्जन न्यायालय की प्रक्रिया के दुरुपयोग को रोकने के लिए और/या न्याय के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए प्रवृत्त नहीं होगा । व्यथित पक्षकार द्वारा फाइल किए गए पिटीशन का लेबल महत्वहीन है । उच्च न्यायालय मामले की परीक्षा कर सकता है । निःसंदेह प्रस्तुत मामला 1973 की संहिता की धारा 482 के अनुसार उच्च न्यायालय की शक्ति के प्रयोग के लिए है, चाहे इस बात को मान लिया जाए, यद्यपि इसे माना नहीं गया है कि उच्च न्यायालय की पुनरीक्षण शक्ति को लागू करना अननुज्ञेय है ।"

इसलिए मेरे मन में यह बात स्पष्ट है कि हमारे समक्ष मामले की जो स्थिति है उसमें अंतर्निहित शक्ति का उपहास नहीं किया । दोनों ओर से काउंसेलों ने वैधता के लिए हमारी तीव्रग्राहिता के प्रति अपनी संवेदनशील प्रवृत्ति दर्शित करते हुए समुचित रूप से इस बारे में सहमति व्यक्त की कि न्यायालय के अधीन आदेश की प्रति के औपचारिक रूप से फाइल किए जाने पर इस न्यायालय को अपना समय नष्ट नहीं करना चाहिए । हमारा निष्कर्ष दोनों ओर से विद्यमान काउंसेलों द्वारा दी गई रियायत से सहमत है कि मात्र इस कारण कि आदेश की प्रति पेश नहीं की गई है, हालांकि वह न्यायालय के

अभिलेख में विद्यमान है, मेरे लिए यह संभव नहीं है कि मैं यह अभिनिर्धारित करूं कि समस्त पुनरीक्षण शक्ति निष्फल हो जाती है और अंतर्निहित शक्ति का बहिष्कार हो जाता है ।

6. हमारे विचारित मतानुसार, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन उच्च न्यायालय की अंतर्निहित शक्ति से संबंधित मुद्दे के बारे में आगे किसी विधि को स्पष्ट करने का कोई प्रयास करने की अपेक्षा नहीं है । हम मात्र यह दोहराते हैं कि धारा 482 यह उल्लेख करते हुए सर्वोपरि खंड से आरंभ होती है : "इस संहिता की कोई बात उच्च न्यायालय की ऐसे आदेश देने की अन्तर्निहित शक्ति को सीमित या प्रभावित करने वाली न समझी जाएगी जैसे इस संहिता के अधीन किसी आदेश को प्रभावी करने के लिए या किसी न्यायालय की कार्यवाही का दुरुपयोग निवारित करने के लिए या किसी अन्य प्रकार से न्याय के उद्देश्यों की प्राप्ति सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक हो ।" सुतराम, न्यायमूर्ति कृष्णा अय्यर के शब्दों में, इस संपूर्ण अधिकारिता के प्रयोग पर कोई पूर्ण रोक नहीं लगाया जा सकता जहां "न्याय की प्रक्रिया का दुरुपयोग या अन्य असाधारण स्थिति न्यायालय की अधिकारिता पैदा करते हैं । परिसीमा आत्मसंयम से अधिक कुछ नहीं है।" हम समर्थन में अतिरिक्त कारण बताते हैं । चूंकि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 397 अंतर्वर्ती आदेश से भिन्न सभी आदेशों के विरुद्ध लागू होते हैं इसलिए प्रतिकूल मत दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन अंतर्निहित शक्तियों की उपलब्धता को सीमित करेगा । केवल ऐसे छोटे अंतर्वर्ती आदेशों की स्थिति में ऐसी अधिकारिता पूर्णतः अनापेक्षित और अवांछनीय होगी ।

7. परिणामतः, हम यह कहने के लिए मजबूर हैं कि **मोहित** उर्फ **सोनू और एक अन्य** (उपरोक्त) वाले मामले में विशेषकर पैरा 28 में खंड न्यायपीठ ने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 में उच्च न्यायालय की अंतर्निहित शक्तियों की बाबत विधि का सही उल्लेख नहीं किया है । हम ससम्मान इससे असहमति व्यक्त करते हैं ।

8. हमारी विचारित राय में, उच्च न्यायालय के विद्वान् एकल न्यायाधीश को **धारीवाल टोबैको प्रोडक्ट्स लिमिटेड और अन्य** (उपरोक्त) पूर्व मामलों, जिन्हें उद्धृत किया गया था, में इस न्यायालय द्वारा अधिकथित विधि का पालन करना चाहिए किंतु 2006 की एकल न्यायपीठ दांडिक प्रकीर्ण याचिका सं. 289 जो 2009 की विशेष इजाजत याचिका सं. 4744

से उद्भूत संबद्ध दांडिक अपील में आक्षेपित है, में तारीख 5 फरवरी, 2009 को एक अन्य विद्वान् एकल न्यायाधीश द्वारा पारित **संजय भंडारी** (उपरोक्त) वाले मामले में उस न्यायालय के निर्णय के अधिमान में गलत ढंग से उपेक्षित किया गया । परिणामतः प्रभू चावला द्वारा फाइल की गई और दूसरी जगदीश उपासने और अन्य द्वारा फाइल की गई दोनों अपीलें अनुज्ञात की गईं हैं । राजस्थान उच्च न्यायालय द्वारा पारित तारीख 2 अप्रैल, 2009 का आक्षेपित एक जैसे आदेश को अपास्त किया गया और मामलों को उपरोक्त स्पष्ट किए गए विधि के आलोक में और विधि के अनुसार निपटान के लिए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन याचिकाओं की नए सिरे से सुनवाई के लिए उच्च न्यायालय को प्रतिप्रेषित किया गया । क्योंकि मामले काफी समय से लंबित हैं इसीलिए उच्च न्यायालय से अधिमानतः छह माह के भीतर मामलों की सुनवाई करने और यथाशीघ्र विनिश्चित करने का अनुरोध किया जाता है ।

9. तीसरी अपीलें जोधपुर स्थित राजस्थान उच्च न्यायालय द्वारा पारित तारीख 5 फरवरी, 2009 के आक्षेपित आदेश का अवलंब लिया जाता है और अन्य दो अपीलों में आक्षेपित तारीख 2 अप्रैल, 2009 का आदेश पारित करते समय पालन किया जाता है । चूंकि उस आदेश को ये अपीलें अनुज्ञात करते समय अपास्त किया गया अतः इस अपील में आक्षेपित आदेश को भी उन्हीं कारणों से और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 की व्याप्ति और परिधि की बाबत हमारे द्वारा व्यक्त किए गए मत के अनुसार अपास्त किया जाता है । तद्नुसार यह अपील भी मंजूर की जाती है और अन्य दो अपीलों के अनुसार उन्हीं निदेशों के साथ आक्षेपित आदेश अपास्त किया जाता है ।

अपीलें मंजूर की गईं ।

पा.

[2017] 1 उम. नि. प. 152

एल. नारायण स्वामी

बनाम

कर्नाटक राज्य और अन्य

6 सितम्बर, 2016

न्यायमूर्ति ए. के. सीकरी और न्यायमूर्ति एन. वी. रमण

भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 (1947 का 2) – धारा 13(2), 13(1)(घ) और 19 [सपठित भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 34, 120(ख), 427, 447 और 506] – लोक सेवक द्वारा अपने पद का दुरुपयोग – अभियोजन हेतु सक्षम प्राधिकारी की पूर्व-मंजूरी – यदि किसी लोक सेवक द्वारा अपने पद का दुरुपयोग किया जाता है और उसके विरुद्ध परिवाद के आधार पर मामले का संज्ञान उस समय लिया जाता है जब वह उस लोक पद पर नहीं रहता है तो उसके विरुद्ध अभियोजन हेतु सक्षम प्राधिकारी की मंजूरी लेना आवश्यक नहीं होता है ।

वर्तमान मामले में, श्रीमती अमाशरमल बेल्लारी में सर्वे संख्या 597-ख में माप 259.95 एकड़ और सर्वे संख्या 601-ए में माप 57.30 एकड़ अचल सम्पत्ति की मूल स्वामी थी, जिसने इसे तारीख 19 जनवरी, 1940 को एक रजिस्ट्रीकृत विक्रय-विलेख के अधीन भारत सरकार से क्रय किया था जो उप-रजिस्ट्रार, बेल्लारी के कार्यालय में रजिस्ट्रीकृत है । परिवादी ने यह भी कथन किया है कि श्रीमती अकूला लक्षम्मा और उसके बच्चों ने पितर्नबारा मोदलियार के विरुद्ध धन डिक्री प्राप्त कर ली थी और उक्त डिक्री के निष्पादन में डिक्रीधारक ने न्यायालय के माध्यम से माप 27.25 एकड़ भूमि क्रय कर ली थी और इस प्रकार, उक्त संपत्ति के स्वामी हो गए थे जो सर्वे संख्या 597-बी में स्थित है । इस 27.25 एकड़ भूमि में से माप 10 एकड़ भूमि को सरकार द्वारा उच्च स्तरीय कैनल, तुंगभद्रा प्रोजेक्ट के लिए बाद में अर्जन कर लिया गया था । तथापि, राजस्व प्राधिकारी शेष माप 17.25 एकड़ भूमि का सीमांकन करने में असफल रहे थे जिसके कारण श्रीमती अकूला लक्षम्मा और उसके बच्चों को आज्ञापक व्यादेश की ईप्सा करते हुए एक वाद फाइल करने के लिए बाध्य होना पड़ा । इसी बीच में, उन्होंने उक्त 17.25 एकड़ भूमि, श्री परमेश्वर रेड्डी, श्री जाली जनार्दन के ससुर को विक्रय कर दिया । उसी दिन, अर्थात् तारीख 24 अक्तूबर, 2002 को

श्रीमती अकूला लक्षम्मा और उसके कुटुम्ब सदस्यों ने माप 27.25 एकड़, जिसमें 10 एकड़ की वह भूमि भी सम्मिलित थी जिसे सरकार द्वारा पहले ही अर्जित कर लिया गया था, का विक्रय करने के लिए अभियुक्त संख्या 6 (श्री बी. श्रीरामूलू) के साथ विक्रय करार भी कर लिया था । इस प्रकार, अभियुक्त संख्या 6 ने अर्जित भूमि के बारे में भी विक्रय करार कर लिया था । इसके अतिरिक्त, अभियुक्त संख्या 6 और श्री जाली जनार्दन रेड्डी नजदीकी मित्र हैं और इसलिए, यह अभिनिर्धारित करने के लिए कोई कारण नहीं था कि अभियुक्त संख्या 6 को श्रीमती अकूला लक्षम्मा और श्री परमेश्वर रेड्डी के बीच संव्यवहार की जानकारी नहीं थी । अभियुक्त संख्या 6 ने उक्त विक्रय करार के आधार पर विनिर्दिष्ट पालन के लिए एक वाद फाइल किया था जिसमें उसने तारीख 8 अप्रैल, 2003 को एकपक्षीय डिक्री पारित करा ली थी । तारीख 21 अप्रैल, 2003 को श्री परमेश्वर रेड्डी (जिसके साथ प्रथम विक्रय करार किया गया था) ने भूमि उपयोग परिवर्तन की ईप्सा की (यद्यपि इसी भूमि के संबंध में अभियुक्त सं. 6 ने विनिर्दिष्ट पालन के लिए एक वाद फाइल किया था) । तत्कालीन उपायुक्त ने तारीख 17 जून, 2003 के आदेश द्वारा भूमि उपयोग के परिवर्तन के लिए अनुज्ञा प्रदान कर दी । इस परिवर्तन आदेश के पश्चात् श्री परमेश्वर रेड्डी ने सम्पूर्ण भूमि माप 17.25 एकड़ को अपनी पुत्री श्रीमती जाली लक्ष्मी अरुणा पत्नी श्री जाली जनार्दन रेड्डी के पक्ष में तारीख 21 मार्च, 2006 के दान विलेख द्वारा दान कर दी । यह अभिकथित है कि अभियुक्त सं. 6 को इन तथ्यों की सम्पूर्ण जानकारी थी । इन तथ्यों के होते हुए भी उसने स्वयं द्वारा प्राप्त विनिर्दिष्ट पालन के एकपक्षीय डिक्री के आधार पर एक निष्पादन याचिका फाइल की और सम्पूर्ण 27.25 एकड़ भूमि के संबंध में न्यायालय से विक्रय-विलेख प्राप्त कर लिया । इस तथ्य के होते हुए भी कि इस 27.25 एकड़ भूमि में से, जिसके संबंध में अभियुक्त सं. 6 ने विक्रय-विलेख प्राप्त कर लिया था, 17.25 एकड़ भूमि श्री परमेश्वर रेड्डी द्वारा दावा किया गया था और इसे उसने अपनी पुत्री को दान कर दिया था और शेष 10 एकड़ भूमि को सरकार द्वारा अर्जित कर लिया गया था । न केवल यह अपितु अभियुक्त संख्या 6 ने भी इसी भूमि के उपयोग परिवर्तन के लिए आवेदन किया था और प्राधिकारियों ने उसके पक्ष में परिवर्तन आदेश पारित कर दिया था । परिवर्तन आदेश की तारीख को ही अभियुक्त संख्या 6 ने कैबिनेट मंत्री के रूप में पद ग्रहण किया था । यह अभिकथित है कि इस कारण से ही उसने राजस्व प्राधिकारियों पर अपना प्रभाव डालते हुए परिवर्तन आदेश प्राप्त कर सका था । अभियुक्त संख्या 3 और 5 (इसमें

के अपीलार्थी) सरकारी अधिकारी हैं, जो क्रमशः सहायक भूमि आयुक्त और भूमि राजस्व उप-निदेशक के रूप में कार्य कर रहे थे । सरकारी कर्मचारियों के संबंध में, यह अभिकथित है कि अभियुक्त संख्या 1 राजस्व निरीक्षक ने तारीख 17 जनवरी, 2011 को घटनास्थल का निरीक्षण किया था, अभियुक्त संख्या 3 जो तहसीलदार है, ने उसी दिन परिवर्तन करने के लिए मामले की सिफारिश की थी और अभियुक्त संख्या 5 जो सहायक आयुक्त है, ने उसके अगले ही दिन अभियुक्त संख्या 6 को यह पृष्ठांकित किया था कि प्रश्नगत संपत्ति अर्जन के अध्यधीन नहीं है । इसी आधार पर यह अभिकथित है कि सभी कर्मचारियों ने, जो अभियुक्त संख्या 6 से जुड़े थे, अपने पदीय प्रास्थिति का दुरुपयोग किया है । पूर्वोक्त अभिकथनों के आधार पर, अभियुक्त व्यक्तियों की उपस्थिति सुनिश्चित कराने के लिए परिवाद में प्रार्थना की गई थी और परिवाद को दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 156(3) के अधीन अन्वेषण करने के लिए कर्नाटक पुलिस लोकायुक्त को निर्दिष्ट कर दिया गया था, क्योंकि मामले से संबंधित अन्य कतिपय दस्तावेजों का पता लगाने के लिए अन्वेषक शक्तियों का प्रयोग अपेक्षित था । जिला और सेशन न्यायाधीश, बेल्लारी ने उक्त परिवाद के आधार पर तारीख 14 जून, 2003 को एक आदेश पारित किया, तद्द्वारा इसे दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 156(3) के अधीन आगे अन्वेषण के लिए पुलिस निरीक्षक, कर्नाटक लोकायुक्त पुलिस, बेल्लारी को निर्दिष्ट कर दिया । आधिकारिक पुलिस ने पूर्वोक्त मामले को भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 13(2) के साथ पठित धारा 13(1)(घ) के अधीन और भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 34 के साथ पठित धारा 120(ख), 427, 447 और 506 के अधीन दांडिक अपील संख्या 9/2013 के रूप में रजिस्ट्रीकृत किया । इसमें के अपीलार्थियों ने 4 अन्य व्यक्तियों के साथ उक्त कार्यवाहियों को अभिखंडित करने की ईप्सा करते हुए, कर्नाटक उच्च न्यायालय के समक्ष 2013 की दांडिक याचिका सं. 10864 फाइल की । इस याचिका में तारीख 8 जुलाई, 2013 को आदेश पारित करते हुए, यह मत व्यक्त किया गया कि मामला लम्बित रहने के दौरान चूंकि पुलिस ने अंतिम रिपोर्ट फाइल कर दी थी इसलिए, उन याचियों को विचारण न्यायालय के समक्ष अंतिम रिपोर्ट को चुनौती देने की स्वतंत्रता है । अपीलार्थियों के अनुसार, उच्च न्यायालय द्वारा पारित आदेश काउंसेल द्वारा किए गए त्रुटिपूर्ण कथन पर आधारित हैं, क्योंकि न तो अन्वेषण पूरा हुआ था न ही इस न्यायालय में अंतिम रिपोर्ट फाइल की गई थी । इसलिए, इन अपीलार्थियों ने सम्पूर्ण कार्यवाहियों को अभिखंडित करने की ईप्सा करते

हुए, एक अन्य 2014 की दांडिक याचिका सं. 101017 फाइल की । इस याचिका में अपीलार्थियों द्वारा यह आधार लिया गया था कि सम्पूर्ण परिवाद में कोई भ्रष्टाचार करने के बारे में कोई अभिकथन नहीं था जहां तक कि वे संबंधित थे । यह भी निवेदन किया कि दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 156(3) के अधीन आगे अन्वेषण का निर्देश देने और परिवाद का संज्ञान लेने के पूर्व विचारण न्यायालय का स्वयं यह समाधान होना चाहिए था कि सम्यक् मंजूरी प्राप्त की गई है जैसी कि भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 19 के साथ पठित दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 190 के अधीन अपेक्षित था और चूंकि ऐसी मंजूरी प्राप्त नहीं की गई थी इसलिए विचारण न्यायालय द्वारा आगे अन्वेषण के लिए ऐसा कोई आदेश पारित नहीं किया जा सकता था । यह उल्लिखित किया जा सकता है कि परिवाद फाइल किए जाने के समय, अपीलार्थी उन कार्यालयों में स्थानांतरित हो गए थे जिसमें वे अपनी प्रोन्नति द्वारा पद ग्रहण किए हुए थे । उन्होंने यह निवेदन किया कि स्थानांतरण होने पर भी वे निरन्तर लोक पद धारण किए हुए थे और इसलिए, ऐसी मंजूरी प्राप्त करने की अपेक्षा आज्ञापक थी । उच्च न्यायालय ने अपीलार्थियों द्वारा लिए गए पूर्वोक्त दलीलों को अभिखंडित कर दिया और उनके द्वारा फाइल याचिका को खारिज कर दिया । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – जब परिवाद प्राप्त किया जाता है तो अभिलेख न्यायालय, परिवादी के प्रारंभिक साक्ष्य, जिसके आधार पर उसका स्वयं का यह समाधान होता है कि क्या पर्याप्त साक्ष्य अभिलेख पर मौजूद है जिनसे प्रथमदृष्ट्या ऐसा अपराध बनता है । इसी प्रकार, दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 173(2) के अधीन अन्वेषण की समाप्ति पर फाइल पुलिस रिपोर्ट और उसके परिशीलन पर यदि मजिस्ट्रेट का स्वयं उन तथ्यों के बारे में समाधान होता है, जिनसे ऐसा अपराध बनता है । इसी प्रकार की स्थिति तीसरी दशा में भी है । इस आधार पर, उच्च न्यायालय ने यह राय दी है कि चूंकि पूर्व मंजूरी, मात्र संज्ञान लेने के समय ही अपेक्षित है, जो प्रक्रम दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 156(3) के अधीन अन्वेषण करने का आदेश देने के पश्चात् आता है, परिवाद का अन्वेषण करने का निर्देश देने के प्रक्रम पर ऐसी मंजूरी अपेक्षित नहीं होती है । वर्तमान अपीलार्थियों के मामले में, मंजूरी द्वारा अपीलार्थियों को कोई संरक्षण देने का प्रश्न ही नहीं है । उच्च न्यायालय ने प्रकाश सिंह बादल वाले मामले में दिए गए विनिश्चय को पूर्णरूपेण सही ही अवलंब लिया है, यह अभिनिर्धारित करने

में कि दोनों अपीलों में अपीलार्थियों ने एक से भिन्न पद या पदों का पूर्णतया दुरुपयोग किया है जिसे वे उस तारीख को धारण करते थे जिस तारीख को संज्ञान लिया गया था और इसलिए, भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 19 के अधीन मंजूरी लेना आवश्यक नहीं थी । क्या एक लोक सेवक ने उस पद का दुरुपयोग किया है जिसे वह जांच अवधि के दौरान धारण करता था किन्तु, उसे वह पद धारण करने से रोक दिया गया था या वह भिन्न पद धारण करता था तो मंजूरी लेना आवश्यक नहीं होगा । जहां अभिकथित अवचार एक से कुछ भिन्न क्षमता में किया गया है जिसे वह संज्ञान लेते समय धारण करता है तो मंजूरी लेने की आवश्यकता नहीं होगी । जहां तक अपीलार्थियों का यह तर्क कि उनके द्वारा अभिकथित कृत्य कारित करने के बारे में, परिवाद में कोई विनिर्दिष्ट प्रकथन नहीं है, का संबंध है, न्यायालय इस तर्क से सहमत होने में असमर्थ हैं । जैसा कि, उपर्युक्त पहले ही इंगित किया जा चुका है, इन दोनों अपीलार्थियों के विरुद्ध अभिकथन यह है कि तारीख 17 जनवरी, 2003 को अभियुक्त संख्या 1 द्वारा घटनास्थल का निरीक्षण करने के पश्चात् प्रथम अपीलार्थी जो तहसीलदार के रूप में कार्य कर रहा था, ने उसी दिन इसकी सिफारिश की थी और इसके पश्चात्, द्वितीय अपीलार्थी जो सहायक आयुक्त के रूप में कार्य कर रहा था, ने ठीक उसी दिन एक पृष्ठांकन इस प्रभाव का किया कि संपत्ति अर्जन की विषयवस्तु नहीं है । इस आधार पर, यह अभिकथित है कि इन कर्मचारियों ने अपनी पदीय प्रास्थिति का दुरुपयोग किया है । न्यायालय यह अभिलिखित कर सकता है कि अपीलार्थियों के विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी है कि वे मात्र न्यायालय डिक्री पर कार्य कर रहे थे । तथापि, इस मामले के तथ्यों पर दो सही स्पष्टीकरण हो सकते हैं, जैसा कि मामले में अभिकथित है, चूंकि यह अभिकथित है कि इन दोनों अपीलार्थियों ने यह पता नहीं लगाया कि उसी भूमि के संबंध में, दो भिन्न नामों से दो डिक्रियां थीं, और यह भी कि प्रश्नगत 10 एकड़ भूमि पहले ही अर्जित की जा चुकी थी और यह डिक्री की विषयवस्तु नहीं हो सकती थी । मामले के इन पहलुओं पर प्रथमदृष्ट्या इन अपीलार्थियों द्वारा देखा जाना चाहिए था । इसलिए, पूर्वोक्त तात्पर्यित प्रतिरक्षा के आधार पर, कार्यवाहियां अभिखंडित नहीं की जा सकती हैं । यह साक्ष्य का मामला होगा जिसके आधार पर अपीलार्थियों की सदोषिता के बारे में न्यायनिर्णयन किया जाएगा । (पैरा 10, 18 और 19)

अवलम्बित निर्णय

पैरा

[2007] (2007) 1 एस. सी. सी. 1 :
प्रकाश सिंह बादल बनाम **पंजाब राज्य** । 16, 17

निर्दिष्ट निर्णय

[2011] (2011) 7 एस. सी. सी. 141 :
अभय सिंह चौटाला बनाम **केन्द्रीय जांच ब्यूरो** ; 14, 17

[2010] (2010) 14 एस. सी. सी. 527 :
हिमाचल प्रदेश राज्य बनाम **निशांत सरीन** ; 13

[1997] (1997) 7 एस. सी. सी. 622 :
मनसुख लाल विट्ठल दास चौहान बनाम **गुजरात राज्य** ; 13

[1984] (1984) 2 एस. सी. सी. 183 :
आर. एस. नायक बनाम **ए. आर. अंतुले** । 17

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2016 की दांडिक अपील सं. 721, 722.

संविधान, 1950 के अनुच्छेद 134 के अधीन अपील ।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री के. वी. विश्वनाथन, पी. वी. शेट्टी, ज्येष्ठ अधिवक्ता, गौतम एस. भारद्वाज, वेलिप्पा अश्वनी कुमार, धनंजय भास्कर, डी. एल. चिदनन्दा और गुरुदत्त अंकोलकर, अधिवक्तागण

प्रत्यर्थियों की ओर से सर्वश्री बसव प्रभु एस. पाटिल, ज्येष्ठ अधिवक्ता, जोसेफ अरिस्टोटले एस., सुश्री प्रिया अरिस्टोटले, सुश्री शिवानी श्रीवास्तव, शैलेस मादियाल और चिन्मय देशपांडे, अधिवक्तागण

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति ए. के. सीकरी ने दिया ।

न्या. सीकरी – इन अपीलों (जो दोनों मामलों में सामान्य हैं) में

उद्भूत विधि के प्रश्न को उल्लिखित करने के पूर्व, हम तथ्यों और इसकी पृष्ठभूमि का उल्लेख करना चाहेंगे जो वर्तमान अपीलों को फाइल करने के कारण हैं ।

2. प्रत्यर्थी सं. 2 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "परिवादी" कहा गया है) ने एक परिवाद फाइल किया जिसके आधार पर उन अपीलार्थियों के विरुद्ध एक मामला रजिस्ट्रीकृत किया गया जो भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 (जिसे संक्षेप में "पी. सी. अधिनियम" कहा गया है) की धारा 13(2) के साथ पठित धारा 13(1)(घ) के अधीन और भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 34 के साथ पठित धारा 120(ख), 427, 447 और 506 के अधीन दंडनीय अपराधों के लिए अभियुक्त सं. 3 और 5 हैं । परिवादी के परिवाद में निम्नलिखित अभिकथन अन्तर्वलित हैं ।

3. श्रीमती अमाशरनमल बेल्लारी में सर्वे संख्या 597-ख में माप 259.95 एकड़ और सर्वे संख्या 601-ए में माप 57.30 एकड़ अचल सम्पत्ति की मूल स्वामी थी, जिसने इसे तारीख 19 जनवरी, 1940 को एक रजिस्ट्रीकृत विक्रय-विलेख के अधीन भारत सरकार से क्रय किया था जो उप-रजिस्ट्रार, बेल्लारी के कार्यालय में रजिस्ट्रीकृत है । परिवादी ने यह भी कथन किया है कि श्रीमती अकूला लक्षम्मा और उसके बच्चों ने पितर्नबारा मोदलियार के विरुद्ध धन डिक्री प्राप्त कर ली थी और उक्त डिक्री के निष्पादन में डिक्रीधारक ने न्यायालय के माध्यम से माप 27.25 एकड़ भूमि क्रय कर ली थी और इस प्रकार, उक्त संपत्ति के स्वामी हो गए थे जो सर्वे संख्या 597-बी में स्थित है । इस 27.25 एकड़ भूमि में से माप 10 एकड़ भूमि को सरकार द्वारा उच्च स्तरीय कैनल, तुंगभद्रा प्रोजेक्ट के लिए बाद में अर्जन कर लिया गया था । तथापि, राजस्व प्राधिकारी शेष माप 17.25 एकड़ भूमि का सीमांकन करने में असफल रहे थे जिसके कारण श्रीमती अकूला लक्षम्मा और उसके बच्चों को आज्ञापक व्यादेश की ईप्सा करते हुए एक वाद फाइल करने के लिए बाध्य होना पड़ा । इसी बीच में, उन्होंने उक्त 17.25 एकड़ भूमि, श्री परमेश्वर रेड्डी, श्री जाली जनार्दन के ससुर को विक्रय कर दिया । उसी दिन, अर्थात् तारीख 24 अक्तूबर, 2002 को श्रीमती अकूला लक्षम्मा और उसके कुटुम्ब सदस्यों ने माप 27.25 एकड़, जिसमें 10 एकड़ की वह भूमि भी सम्मिलित थी जिसे सरकार द्वारा पहले ही अर्जित कर लिया गया था, का विक्रय करने के लिए अभियुक्त संख्या 6 (श्री बी. श्रीरामूलू) के साथ विक्रय करार भी कर लिया था । इस प्रकार, अभियुक्त संख्या 6 ने अर्जित भूमि के बारे में भी विक्रय करार कर लिया

था । इसके अतिरिक्त, अभियुक्त संख्या 6 और श्री जाली जनार्दन रेड्डी नजदीकी मित्र हैं और इसलिए, यह अभिनिर्धारित करने के लिए कोई कारण नहीं था कि अभियुक्त संख्या 6 को श्रीमती अकूला लक्ष्म्मा और श्री परमेश्वर रेड्डी के बीच संव्यवहार की जानकारी नहीं थी । अभियुक्त संख्या 6 ने उक्त विक्रय करार के आधार पर विनिर्दिष्ट पालन के लिए एक वाद फाइल किया था जिसमें उसने तारीख 8 अप्रैल, 2003 को एकपक्षीय डिक्री पारित करा ली थी । तारीख 21 अप्रैल, 2003 को श्री परमेश्वर रेड्डी (जिसके साथ प्रथम विक्रय करार किया गया था) ने भूमि उपयोग परिवर्तन की ईप्सा की (यद्यपि इसी भूमि के संबंध में अभियुक्त सं. 6 ने विनिर्दिष्ट पालन के लिए एक वाद फाइल किया था) । तत्कालीन उपायुक्त ने तारीख 17 जून, 2003 के आदेश द्वारा भूमि उपयोग के परिवर्तन के लिए अनुज्ञा प्रदान कर दी । इस परिवर्तन आदेश के पश्चात् श्री परमेश्वर रेड्डी ने सम्पूर्ण भूमि माप 17.25 एकड़ को अपनी पुत्री श्रीमती जाली लक्ष्मी अरुणा पत्नी श्री जाली जनार्दन रेड्डी के पक्ष में तारीख 21 मार्च, 2006 के दान विलेख द्वारा दान कर दी । यह अभिकथित है कि अभियुक्त सं. 6 को इन तथ्यों की सम्पूर्ण जानकारी थी । इन तथ्यों के होते हुए भी उसने स्वयं द्वारा प्राप्त विनिर्दिष्ट पालन के एकपक्षीय डिक्री के आधार पर एक निष्पादन याचिका फाइल की और सम्पूर्ण 27.25 एकड़ भूमि के संबंध में न्यायालय से विक्रय-विलेख प्राप्त कर लिया । इस तथ्य के होते हुए भी कि इस 27.25 एकड़ भूमि में से, जिसके संबंध में अभियुक्त सं. 6 ने विक्रय-विलेख प्राप्त कर लिया था, 17.25 एकड़ भूमि श्री परमेश्वर रेड्डी द्वारा दावा किया गया था और इसे उसने अपनी पुत्री को दान कर दिया था और शेष 10 एकड़ भूमि को सरकार द्वारा अर्जित कर लिया गया था । न केवल यह अपितु अभियुक्त संख्या 6 ने भी इसी भूमि के उपयोग परिवर्तन के लिए आवेदन किया था और प्राधिकारियों ने उसके पक्ष में परिवर्तन आदेश पारित कर दिया था । परिवर्तन आदेश की तारीख को ही अभियुक्त संख्या 6 ने कैबिनेट मंत्री के रूप में पद ग्रहण किया था । यह अभिकथित है कि इस कारण से ही उसने राजस्व प्राधिकारियों पर अपना प्रभाव डालते हुए परिवर्तन आदेश प्राप्त कर सका था । अभियुक्त संख्या 3 और 5 (इसमें के अपीलार्थी) सरकारी अधिकारी हैं, जो क्रमशः सहायक भूमि आयुक्त और भूमि राजस्व उप-निदेशक के रूप में कार्य कर रहे थे । सरकारी कर्मचारियों के संबंध में, यह अभिकथित है कि अभियुक्त संख्या 1 राजस्व निरीक्षक ने तारीख 17 जनवरी, 2011 को घटनास्थल का निरीक्षण किया था, अभियुक्त संख्या 3 जो तहसीलदार है, ने उसी दिन परिवर्तन करने के लिए

मामले की सिफारिश की थी और अभियुक्त संख्या 5 जो सहायक आयुक्त है, ने उसके अगले ही दिन अभियुक्त संख्या 6 को यह पृष्ठांकित किया था कि प्रश्नगत संपत्ति अर्जन के अध्यधीन नहीं है । इसी आधार पर यह अभिकथित है कि सभी कर्मचारियों ने, जो अभियुक्त संख्या 6 से जुड़े थे, अपने पदीय प्रास्थिति का दुरुपयोग किया है । इस प्रक्रम पर, हम स्वयं यह कह सकते हैं कि अपीलार्थी यह तर्क नहीं दे सकते हैं कि उनके बारे में संज्ञान लेते हुए, परिवाद में उनके विरुद्ध कोई अभिकथन नहीं है ।

पूर्वोक्त अभिकथनों के आधार पर, अभियुक्त व्यक्तियों की उपस्थिति सुनिश्चित कराने के लिए परिवाद में प्रार्थना की गई थी और परिवाद को दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (संक्षेप में "सी. आर. पी. सी.") की धारा 156(3) के अधीन अन्वेषण करने के लिए कर्नाटक पुलिस लोकायुक्त को निर्दिष्ट कर दिया गया था, क्योंकि मामले से संबंधित अन्य कतिपय दस्तावेजों का पता लगाने के लिए अन्वेषक शक्तियों का प्रयोग अपेक्षित था ।

4. जिला और सेशन न्यायाधीश, बेल्लारी ने उक्त परिवाद के आधार पर तारीख 14 जून, 2003 को एक आदेश पारित किया, तद्द्वारा इसे दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 156(3) के अधीन आगे अन्वेषण के लिए पुलिस निरीक्षक, कर्नाटक लोकायुक्त पुलिस, बेल्लारी को निर्दिष्ट कर दिया । आधिकारिक पुलिस ने पूर्वोक्त मामले को भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 13(2) के साथ पठित धारा 13(1)(घ) के अधीन और भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 34 के साथ पठित धारा 120(ख), 427, 447 और 506 के अधीन दांडिक संख्या 9/2013 के रूप में रजिस्ट्रीकृत किया । इसमें के अपीलार्थियों ने 4 अन्य व्यक्तियों के साथ उक्त कार्यवाहियों को अभिखंडित करने की ईप्सा करते हुए, कर्नाटक उच्च न्यायालय के समक्ष 2013 की दांडिक याचिका सं. 10864 फाइल की । इस याचिका में तारीख 8 जुलाई, 2013 को आदेश पारित करते हुए, यह मत व्यक्त किया गया कि मामला लम्बित रहने के दौरान चूंकि पुलिस ने अंतिम रिपोर्ट फाइल कर दी थी इसलिए, उन याचियों को विचारण न्यायालय के समक्ष अंतिम रिपोर्ट को चुनौती देने की स्वतंत्रता है ।

5. अपीलार्थियों के अनुसार, उच्च न्यायालय द्वारा पारित आदेश काउंसेल द्वारा किए गए त्रुटिपूर्ण कथन पर आधारित हैं, क्योंकि न तो अन्वेषण पूरा हुआ था न ही इस न्यायालय में अंतिम रिपोर्ट फाइल की गई थी । इसलिए, इन अपीलार्थियों ने सम्पूर्ण कार्यवाहियों को अभिखंडित करने की ईप्सा करते हुए, एक अन्य 2014 की दांडिक याचिका सं. 101017

फाइल की । इस याचिका में अपीलार्थियों द्वारा यह आधार लिया गया था कि सम्पूर्ण परिवाद में कोई भ्रष्टाचार करने के बारे में कोई अभिकथन नहीं था जहां तक कि वे संबंधित थे । यह भी निवेदन किया कि दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 156(3) के अधीन आगे अन्वेषण का निर्देश देने और परिवाद का संज्ञान लेने के पूर्व विचारण न्यायालय का स्वयं यह समाधान होना चाहिए था कि सम्यक् मंजूरी प्राप्त की गई है जैसी कि भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 19 के साथ पठित दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 190 के अधीन अपेक्षित था और चूंकि ऐसी मंजूरी प्राप्त नहीं की गई थी इसलिए विचारण न्यायालय द्वारा आगे अन्वेषण के लिए ऐसा कोई आदेश पारित नहीं किया जा सकता था ।

यह उल्लिखित किया जा सकता है कि परिवाद फाइल किए जाने के समय, अपीलार्थी उन कार्यालयों में स्थानांतरित हो गए थे जिसमें वे अपनी प्रोन्नति द्वारा पद ग्रहण किए हुए थे । तथापि, उन्होंने यह निवेदन किया कि स्थानांतरण होने पर भी वे निरन्तर लोक पद धारण किए हुए थे और इसलिए, ऐसी मंजूरी प्राप्त करने की अपेक्षा आज्ञापक थी ।

6. तथापि, उच्च न्यायालय ने अपीलार्थियों द्वारा लिए गए पूर्वोक्त दलीलों को अभिखंडित कर दिया और उनके द्वारा फाइल याचिका को खारिज कर दिया । यद्यपि, उच्च न्यायालय के समक्ष याचिका अपीलार्थियों द्वारा संयुक्त रूप से फाइल की गई थी फिर भी उन्होंने उक्त निर्णय को चुनौती देते हुए इस न्यायालय के समक्ष पृथक् अपीलें फाइल करने का चुनाव किया था । तथापि, उनके द्वारा फाइल अपीलों का एक ही उद्देश्य था कि उच्च न्यायालय द्वारा पारित आक्षेपित निर्णय को चुनौती दी जाए ।

7. इस तथ्यात्मक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए, हम विचारण के लिए उद्भूत विधि के प्रश्नों का उल्लेख करते हैं :–

> "(1) क्या दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 156(3) के अधीन आगे अन्वेषण का निर्देश देते हुए पारित आदेश, विधिमान्य मंजूरी के अभाव में लोक सेवक के संबंध में पारित किया जा सकता था और क्या यह अनिल कुमार और अन्य **बनाम** एम. के. अय्यप्पा और एक अन्य [(2013) 10 एस. सी. सी. 705] तथा मनहारी भाई मुलजीभाई ककाड़िया और एक अन्य **बनाम** शैलेशभाई मोहनभाई पटेल और अन्य [(2012) 10 एस. सी. सी. 517] वाले मामलों में इस न्यायालय के निर्णयों के प्रतिकूल है ।

(2) क्या एक लोक सेवक जो उसी पद पर नहीं है और स्थानांतरित हो जाता है (चाहे प्रोन्नति द्वारा या अन्यथा दूसरे स्थानांतरण द्वारा) वह भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 19(1) के अधीन संरक्षण खो देता है, यद्यपि वह निरन्तर एक लोक सेवक बना रहता है, यद्यपि भिन्न पद पर ?"

8. चूंकि, मंजूरी प्राप्त करने की अपेक्षा, भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 19(1) में अन्तर्विष्ट है, इसलिए, इसे प्रस्तुत करना समुचित होगा । हमारे प्रयोजनों के लिए, भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 19 की उपधारा (1) को पुनः प्रस्तुत करना पर्याप्त होगा जिसे हम यहां नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं :–

"19. **अभियोजन के लिए पूर्व मंजूरी का आवश्यक होना** – (1) कोई न्यायालय धारा 7, धारा 10, धारा 11, धारा 13 और धारा 15 के अधीन दंडनीय किसी ऐसे अपराध का संज्ञान, जिसकी बाबत यह अभिकथित है कि वह लोक सेवक द्वारा किया गया है, (जैसा लोकपाल और लोकायुक्त अधिनियम, 2013) में अन्यथा उपबंधित है, उसके सिवाय निम्नलिखित की पूर्व मंजूरी के बिना नहीं करेगा –

(क) ऐसे व्यक्ति की दशा में, जो संघ के मामलों में, नियोजित है और जो अपने पद से केन्द्रीय सरकार द्वारा या उसकी मंजूरी से हटाए जाने के सिवाय नहीं हटाया जा सकता है, केन्द्रीय सरकार ;

(ख) ऐसे व्यक्ति की दशा में, जो राज्य के मामलों के संबंध में नियोजित है और जो अपने पद से राज्य सरकार द्वारा या उसकी मंजूरी से हटाए जाने के सिवाय नहीं हटाया जा सकता है, केन्द्रीय सरकार ;

(ग) किसी अन्य व्यक्ति की दशा में, उसे उसके पद से हटाने के लिए, सक्षम प्राधिकारी ।"

9. जैसा कि उक्त धारा की मूल भाषा से स्पष्ट है कि न्यायालय, इस उपबंध में उल्लिखित कतिपय धाराओं के अधीन एक अपराध का संज्ञान लेने से निवारित होता है यदि अभियोजन लोक सेवक के विरुद्ध होता है जब तक कि सरकार (केन्द्र या राज्य, जैसी स्थिति हो) की पूर्व मंजूरी प्राप्त नहीं कर ली जाती है । हमारे प्रयोजन के लिए सुसंगत यह है कि यह धारा

एक अपराध का संज्ञान लेने से वर्जित करती है । यह प्रश्न कि क्या यह दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 156(3) के अधीन अन्वेषण का निर्देश देने में भी लागू होता है । उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय में यह मत लिया है कि वर्जन, संज्ञान लेने से है जो अन्वेषक अधिकारी द्वारा अन्वेषण के प्रक्रम पर लागू नहीं होता है । यह मत व्यक्त किया कि मंजूरी, मात्र अन्वेषण के पश्चात् अपेक्षित होती है और वह भी तब जब अन्वेषण के पश्चात् यह पाया जाता है कि अन्वेषण रिपोर्ट में यह सारवान् सत्यता है कि इस सीमा तक अपराध का संज्ञान लिया जा सकता है । उच्च न्यायालय ने दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 190 को निर्दिष्ट किया, जिसमें यह अनुध्यात है कि किसी भी अपराध का संज्ञान तीन दशाओं में लिया जा सकता है अर्थात् (क) उन तथ्यों का, जिनसे ऐसा अपराध बनता है, परिवाद प्राप्त होने पर, या (ख) ऐसे तथ्यों के बारे में पुलिस रिपोर्ट पर जिनसे अपराध बनता है या पुलिस अधिकारी से भिन्न किसी व्यक्ति से प्राप्त इत्तिला पर, या (ग) स्वतः जब मजिस्ट्रेट यह अपेक्षा करता है कि ऐसा अपराध किया गया है । यह प्रास्थिति, दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 190 के परिशीलन से पूर्णतः स्पष्ट होती है और हम इसे नीचे उद्धृत कर रहे हैं :–

> "190. **मजिस्ट्रेटों द्वारा अपराधों का संज्ञान** – (1) इस अध्याय के उपबंधों के अधीन रहते हुए, कोई प्रथम वर्ग मजिस्ट्रेट और उपधारा (2) के अधीन विशेषतया सशक्त किया गया कोई द्वितीय वर्ग मजिस्ट्रेट, किसी भी अपराध का संज्ञान निम्नलिखित दशाओं में कर सकता है –
>
> (क) उन तथ्यों का, जिनसे ऐसा अपराध बनता है, परिवाद प्राप्त होने पर,
>
> (ख) ऐसे तथ्यों के बारे में पुलिस रिपोर्ट पर,
>
> (ग) पुलिस अधिकारी से भिन्न किसी व्यक्ति से प्राप्त इत्तिला पर, या स्वयं अपनी इस जानकारी पर कि ऐसा अपराध किया गया है ।
>
> (2) मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट किसी द्वितीय वर्ग मजिस्ट्रेट को ऐसे अपराधों का, जिनकी जांच या विचारण करना उसकी क्षमता के अंदर है, उपधारा (1) के अधीन संज्ञान करने के लिए सशक्त कर सकता है ।"

10. जब परिवाद प्राप्त किया जाता है तो अभिलेख न्यायालय, परिवादी के प्रारंभिक साक्ष्य, जिसके आधार पर उसका स्वयं का यह समाधान होता है कि क्या पर्याप्त साक्ष्य अभिलेख पर मौजूद है जिनसे

प्रथमदृष्ट्या ऐसा अपराध बनता है । इसी प्रकार, दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 173(2) के अधीन अन्वेषण की समाप्ति पर फाइल पुलिस रिपोर्ट और उसके परिशीलन पर यदि मजिस्ट्रेट का स्वयं उन तथ्यों के बारे में समाधान होता है, जिनसे ऐसा अपराध बनता है । इसी प्रकार की स्थिति तीसरी दशा में भी है । इस आधार पर, उच्च न्यायालय ने यह राय दी है कि चूंकि पूर्व मंजूरी, मात्र संज्ञान लेने के समय ही अपेक्षित है, जो प्रक्रम दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 156(3) के अधीन अन्वेषण करने का आदेश देने के पश्चात् आता है, परिवाद का अन्वेषण करने का निर्देश देने के प्रक्रम पर ऐसी मंजूरी अपेक्षित नहीं होती है ।

11. उच्च न्यायालय द्वारा अपनाया गया उपर्युक्त मत, **मनहारी भाई मुलजीभाई ककाड़िया** (उपर्युक्त) तथा **अनिल कुमार** (उपर्युक्त) वाले मामलों में इस न्यायालय के निर्णय के प्रतिकूल है । **मनहारी भाई मुलजीभाई ककाड़िया** (उपर्युक्त) वाले मामले में तथ्य यह थे कि प्रत्यर्थी ने मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट के समक्ष एक दांडिक परिवाद फाइल किया, यह अभिकथन करते हुए कि अपीलार्थी ने कथित कृत्य करते हुए, भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 420, 467, 468, 471 और 120ख के अधीन दंडनीय अपराध कारित किया है । मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ने दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 202 के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए, तारीख 18 जून, 2004 के अपने आदेश द्वारा पुलिस निरीक्षक द्वारा जांच कराने का निर्देश दिया । अन्वेषक अधिकारी ने मामले का अन्वेषण किया और परिवाद का एक संक्षिप्त रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए यह राय दी कि कोई अपराध नहीं किया गया है । मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ने तारीख 16 अप्रैल, 2005 को उक्त रिपोर्ट स्वीकार कर ली और परिवाद खारिज कर दिया । प्रत्यर्थी-परिवादी ने उक्त आदेश के विरुद्ध उच्च न्यायालय के समक्ष दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 401 के साथ पठित धारा 397 के अधीन एक दांडिक पुनरीक्षण याचिका फाइल की, उसके बाद अपीलार्थियों ने पुनरीक्षण कार्यवाहियों में प्रत्यर्थियों के रूप में स्वयं को अभिवाचित करने की ईप्सा करते हुए, एक आवेदन फाइल किया ताकि उन्हें भी मामले में सुना जा सके । तारीख 5 अगस्त, 2005 को उच्च न्यायालय ने उक्त आवेदन खारिज कर दिया । उक्त आदेश के विरुद्ध विशेष इजाजत द्वारा अपील की सुनवाई की गई । इस न्यायालय ने पुनरीक्षण कार्यवाहियों में अपीलार्थियों को अभिवाचित करने की अनुज्ञा देते हुए उच्च न्यायालय के आदेश को अपास्त कर दिया । न्यायालय ने दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 के

उपबंधों अर्थात् धारा 202 को भी उल्लिखित किया जो अभियुक्त व्यक्ति को मजिस्ट्रेट द्वारा जांच के दौरान हस्तक्षेप करने की अनुज्ञा नहीं देता है । तथापि, यह अभिनिर्धारित किया था कि यद्यपि जांच का निर्देश देते समय मजिस्ट्रेट, परिवाद पर अपने न्यायिक विवेक का प्रयोग करता है और इसलिए, यह मामले का संज्ञान लेने की कोटि में आएगा । इस परिप्रेक्ष्य में न्यायालय ने निम्नलिखित तरीके से शब्द "संज्ञान" को स्पष्टीकृत किया :–

> "34. शब्द 'संज्ञान', संहिता के कतिपय धाराओं में व्यापक शब्द के रूप में लिया गया है । इसमें अधिकारिता का प्रयोग करने में सभी शक्तियां और प्राधिकार समाविष्ट होती हैं और एक अपराध किए जाने के बारे में प्राप्त परिवाद या पुलिस रिपोर्ट या किसी सूचना में किए गए अभिकथनों को नोटिस में लेने की प्राधिकारिता होती है । दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 200, 202 और 203 के संदर्भ में अभिव्यक्ति 'संज्ञान लेना' का प्रयोग, न्यायिक विवेक लागू करते हुए, परिवाद या प्रथम सूचना रिपोर्ट या यह सूचना कि एक अपराध किया गया है, को नोटिस में लेने के भावार्थ में किया गया है । इसका आवश्यक रूप से अभिप्राय प्रक्रिया जारी करने से नहीं है ।"

12. उपर्युक्त निर्दिष्ट द्वितीय निर्णय, **अनिल कुमार** (उपर्युक्त) वाले मामले में प्रत्यक्ष तौर पर इस मुद्दे पर विचार किया गया । उस मामले में, विचार के लिए एकमात्र प्रश्न यह था कि क्या भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 19 के अधीन मंजूरी, दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 156(3) के अधीन एक लोक सेवक के विरुद्ध अन्वेषण का आदेश करने के लिए पूर्व शर्त है, यहां तक कि पूर्व-संज्ञान के प्रक्रम पर भी । इस प्रश्न का सकारात्मक रूप में उत्तर देते हुए, न्यायालय ने निम्नलिखित तरीके से विधिक स्थिति पर चर्चा की है :–

> "13. अभिव्यक्ति 'संज्ञान' जो दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 197 में अभिव्यक्त है, विचार के लिए इस न्यायालय के तीन न्यायाधीशों के न्यायपीठ के समक्ष उत्तर प्रदेश राज्य **बनाम** पारसनाथ सिंह [(2009) 6 एस. सी. सी. 372 = (2009) 2 एस. सी. सी. (एल. एण्ड एस.) 200] वाले मामले में आया और इस न्यायालय ने निर्णय के पैरा 6 में निम्नलिखित मत व्यक्त किया है –
>
> > '6. .....10. .....और मजिस्ट्रेट द्वारा किसी अपराध का संज्ञान लेने की अधिकारिता, संहिता, 1973 की

धारा 109 में उपबंधित है, या तो परिवाद की प्राप्ति पर या पुलिस रिपोर्ट पर या पुलिस अधिकारी से भिन्न किसी व्यक्ति से प्राप्त इत्तिला पर या स्वयं अपनी इस जानकारी पर कि ऐसा अपराध किया गया है, किसी न्यायालय द्वारा किसी अपराध का संज्ञान लेना संहिता, 1973 की धारा 197 द्वारा वर्जित है जब तक कि समुचित प्राधिकारी से इसकी मंजूरी प्राप्त नहीं कर ली जाती है, यदि अपराध शासकीय कर्तव्यों का निर्वहन करते हुए किया गया है । मंजूरी न केवल उन व्यक्तियों के लिए विनिर्दिष्ट है जिन्हें संरक्षण मिला हुआ है अपितु यह उन शर्तों और परिस्थितियों में भी विनिर्दिष्ट हैं जिनमें यह उपलब्ध होगा और इस विधि का प्रभाव तभी होता है यदि शर्तें पूरी की जाती हैं । लोक सेवक को मिलने वाला संरक्षण आज्ञापक प्रकृति का होता है जिसे इस अभिव्यक्ति 'कोई न्यायालय पूर्व मंजूरी के बिना ऐसे अपराध का संज्ञान नहीं लेगा' में व्यक्त किया गया है । शब्द 'नहीं' और 'लेगा' का प्रयोग पूर्णतया यह स्पष्ट करता है कि किसी अपराध का संज्ञान लेने की न्यायालय की शक्ति का प्रयोग अनन्य और पूर्ण हैं । वे संज्ञान लेने से वर्जित हैं । परिवाद को उसके नोटिस में नहीं लिया जा सकता है । ब्लैक्स ला डिक्शनरी के अनुसार, शब्द 'संज्ञान' का अभिप्राय अधिकारिता या अधिकारिता का प्रयोग या मामलों का विचारण और अवधारण करने की शक्ति से है । सामान्य भाषा में, इसका अभिप्राय नोटिस लेने से है । इसलिए, एक न्यायालय परिवाद ग्रहण करने से या उसको नोटिस में लेने से या अधिकारिता का प्रयोग करने से वर्जित होता है यदि यह उस लोक सेवक के संबंध में होता है जो ऐसे अपराध का अभियुक्त है जिसके बारे में अपने पदीय कर्तव्यों के निर्वहन के दौरान कारित करना अभिकथित किया गया है । (जैसा कि हिमाचल प्रदेश राज्य **बनाम** एम. पी. गुप्ता [(2004) 2 एस. सी. सी. 349, 358, पैरा 10 = (2004) एस. सी. सी. (क्रिमिनल) 539] वाले मामले में मत व्यक्त किया गया है ।'

14. पश्चिमी बंगाल राज्य **बनाम** मोहम्मद खालिद [(1995) 1 एस. सी. सी. 684 = (1995) एस. सी. सी. (क्रिमिनल) 266] वाले मामले में, इस न्यायालय ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया है –

'13. यहां यह उल्लेख करना आवश्यक है कि अपराध का संज्ञान लेना, प्रक्रिया जारी करने के समान नहीं होता है । संज्ञान प्रारम्भिक प्रक्रम पर लिया जाता जब मजिस्ट्रेट परिवाद में उल्लिखित तथ्यों या पुलिस रिपोर्ट या किसी अन्य व्यक्ति से प्राप्त सूचना पर अपने न्यायिक विवेक को लागू करता है कि अपराध किया गया है । प्रक्रिया जारी करना एक पश्चात्वर्ती प्रक्रम है जब न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत सामग्री पर विचार करने के पश्चात् न्यायालय उन अपराध करने वालों के विरुद्ध कार्यवाही करने का विनिश्चय करता है जिनके विरुद्ध प्रथमदृष्ट्या मामला बनता है जैसा कि कर्नाटक राज्य **बनाम** पास्टर पी. राजू [(2006) 6 एस. सी. सी. 728, 734, पैरा 13 = (2006) 3 एस. सी. सी. (क्रिमिनल) 179] वाले मामले में विचार किया गया था ।'

उपर्युक्त अभिव्यक्ति के अभिप्राय पर, इस न्यायालय द्वारा सुब्रमणियम स्वामी [(2012) 3 एस. सी. सी. 64 = (2012) 1 एस. सी. सी. (क्रिमिनल) 1041 = (2012) 2 एस. सी. सी. (एल. एण्ड एस.) 666] वाले मामले में भी विचार किया गया था ।

15. इसमें उपर्युक्त निर्दिष्ट निर्णयों से यह स्पष्टतः उपदर्शित होता है कि शब्द 'संज्ञान' का एक व्यापक अर्थ है और इसे मात्र अपराध का संज्ञान लेने के प्रक्रम तक सीमित नहीं किया जा सकता है । जब एक विशेष न्यायाधीश, दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 156(3) के अधीन अन्वेषण के लिए परिवाद को निर्दिष्ट करता है तो सुस्पष्टतः वह अपराध का संज्ञान नहीं लेता है और इसलिए, यह पूर्व-संज्ञान प्रक्रम होता है और इसकी पश्चात्वर्ती-संज्ञान प्रक्रम से तुलना नहीं की जा सकती है । जब एक विशेष मजिस्ट्रेट, दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 200 के अधीन प्रस्तुत परिवाद पर अपराध का संज्ञान लेता है और अगले कदम में वह दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 202 के अधीन कार्यवाही करता है । परिणामतः, एक विशेष न्यायाधीश, पूर्व-संज्ञान प्रक्रम पर भी दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 156(3) के अधीन अन्वेषण के लिए मामले को निर्दिष्ट करता है ।

* * * * *

21. अपीलार्थियों के विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने यह दलील दी कि मंजूरी की अपेक्षा, न केवल प्रक्रियात्मक प्रकृति की है अपितु और

यह प्रत्यक्षतः या अन्यथा, भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 19(3) को भी निष्फल बना देता है । हम, इस दलील को स्वीकार करने में कठिनाई महसूस कर रहे हैं । धारा 19 की उपधारा 3 उस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए है, जो उन परिस्थितियों में लागू होते हैं जहां एक विशेष न्यायाधीश पहले ही निष्कर्ष, दंडादेश या आदेश दे चुका होता है । ऐसी दशा में, इसे न्यायालय द्वारा मंजूरी के अभाव के आधार पर अपील, पुष्टि या पुनरीक्षण में उलटा या परिवर्तित नहीं किया जा सकता है । इसका अभिप्राय यह नहीं है कि मंजूरी प्राप्त करने की अपेक्षा, आज्ञापक अपेक्षा नहीं है । जब एक बार यह उल्लिखित कर दिया जाता है कि पूर्व-मंजूरी नहीं थी, जैसा कि इसमें उपर्युक्त निर्दिष्ट विभिन्न निर्णयों में पहले ही उपदर्शित किया जा चुका है, मजिस्ट्रेट, दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 156(3) के अधीन शक्तियों का अवलंब लेते हुए, एक लोक सेवक के विरुद्ध अन्वेषण का आदेश जारी नहीं कर सकता है । उपर्युक्त विधिक प्रास्थिति को, जैसा कि पहले ही उपदर्शित किया जा चुका है, स्पष्टतः पारस नाथ सिंह [(2009) 6 एस. सी. सी. 372 = (2009) 2 एस. सी. सी. (एल. एण्ड एस.) 2000] और सुब्रमणियम स्वामी [(2012) 3 एस. सी. सी. 64 = (2012) 1 एस. सी. सी. (क्रिमिनल) 1041 = (2012) 2 एस. सी. सी. (एल. एण्ड एस.) 666] वाले मामलों में स्वीकार किया गया है ।"

पूर्वोक्त निर्णयों के निर्णयसार को ध्यान में रखते हुए, हमें, इस विधि के प्रश्न का उत्तर नकारात्मक देने में कोई हिचकिचाहट नहीं है, जैसा कि उपर्युक्त पैरा 7 में उल्लिखित किया गया है । दूसरे शब्दों में, हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 156(3) के अधीन आगे अन्वेषण करने का निर्देश देने का आदेश, विधिमान्य मंजूरी के अभाव में पारित नहीं किया जा सकता है ।

13. इसके साथ ही, अब हम इस द्वितीय प्रश्न पर विचार करते हैं कि क्या एक लोक सेवक जो उस पद पर नहीं है जब अपराध अभिकथित तौर पर किया गया था, यद्यपि वह एक लोक सेवक के रूप में निरन्तर बना हुआ है, भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 19(1) के अधीन संरक्षण खो देता है ? प्रत्यर्थियों की दलील यह थी कि भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 19 के अधीन मंजूरी अपेक्षित नहीं है क्योंकि अपीलार्थियों का उस पद से स्थानांतरण हो गया है जिसे वे सुसंगत समय

पर धारण कर रहे थे । अपने इस अभिवाक् के समर्थन में कि यद्यपि स्थानांतरण/प्रोन्नति, पर भी अपीलार्थी लोक सेवक बने हुए थे, ऐसी मंजूरी अपेक्षित थी, यह निवेदन किया कि भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 19 का उद्देश्य लोक सेवक को परेशानी से संरक्षण करने का है और इसलिए, भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 19 के अधीन शक्तियों का प्रयोग मात्र औपचारिकता नहीं है । चूंकि, सरकार, मंजूरी प्राधिकारी के रूप में स्वयं के समक्ष प्रस्तुत सम्पूर्ण सामग्रियों और साक्ष्यों को ध्यान में रखते हुए, अपना विवेक लागू करना होता है और इसकी परीक्षा करने पर इस निष्कर्ष पर पहुंचना होता है कि क्या मंजूरी दी जा सकती है या नहीं । यह भी तर्क दिया गया कि मंजूरी, तुच्छ और कल्पनात्मक अभियोजन को सुनिश्चित तौर पर हतोत्साहित करने का एक हथियार है और यह निर्दोष के लिए एक रक्षोपाय है किन्तु यह दोषी के लिए कवच नहीं है । पूर्वोक्त तर्कों के समर्थन में, **हिमाचल प्रदेश राज्य** बनाम **निशांत सरीन**[1] और **मनसुख लाल विट्ठल दास चौहान** बनाम **गुजरात राज्य**[2] वाले मामलों का अवलंब लिया ।

14. अपीलार्थियों द्वारा निर्दिष्ट पूर्वोक्त निर्णयों में, भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 19 में निहित विधि के सामान्य प्रतिपादना और प्रयोजन को कथित किया गया है । दूसरी ओर, जहां तक इस प्रश्न का उत्तर देने से संबंध है, हमारा यह निष्कर्ष है कि इसी प्रकार का प्रश्न **अभय सिंह चौटाला** बनाम **केन्द्रीय जांच ब्यूरो**[3] वाले मामले में विचार के लिए आया था । उस मामले में, अपीलार्थी विधायक थे जब उनके विरुद्ध भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 के अधीन आरोप विरचित किए गए थे । तथापि, पूर्ववर्ती समयावधि के दौरान कारित दोषपूर्ण कृत्य से संबंधित आरोप थे, जिसके दौरान भी वे विधायक या सांसद हो गए थे । आरोप, उनके वर्तमान विधायक के कालावधि से संबंधित नहीं थे जिसके दौरान आरोप विरचित किए गए थे और विचारण आरम्भ किए गए थे । उस तारीख को जब आरोप विरचित किए गए थे तो भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 19 के अधीन कोई मंजूरी प्राप्त नहीं की गई थी । मंजूरी के बारे में आक्षेप, उस विशेष न्यायाधीश के समक्ष उद्भूत किया गया था जिन्होंने सामान्य आदेश में यह अभिनिर्धारित किया था कि

---

[1] (2010) 14 एस. सी. सी. 527.
[2] (1997) 7 एस. सी. सी. 622.
[3] (2011) 7 एस. सी. सी. 141.

आरोप पत्र में यह अभिकथन अन्तर्विष्ट नहीं है कि अपीलार्थियों ने विधायक के रूप में अपने वर्तमान पद का दुरुपयोग किया था और इसलिए, कोई मंजूरी आवश्यक नहीं थी । उच्च न्यायालय ने दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 482 के अधीन आक्षेपित आदेश में उक्त अभियोजन में हस्तक्षेप नहीं किया । इस न्यायालय ने उच्च न्यायालय के पूर्वोक्त मत को अपरिपक्व ठहराते हुए, अपीलों को खारिज कर दिया । कई निर्णयों पर चर्चा करने के पश्चात्, यह अभिनिर्धारित किया कि यद्यपि जब अपीलार्थी जांच अवधि के दौरान उस मामले में, एक से अधिक पद धारण करते थे, जिसमें उन्हें पद का दुरुपयोग करना अभिकथित है, तथापि, मंजूरी की कोई अपेक्षा नहीं रही होगी यदि उस तारीख को जब संज्ञान लिया गया था, वे उस पद को धारण नहीं कर रहे थे । यह अभिनिर्धारित किया कि सुसंगत समय वह तारीख है जिस तारीख को संज्ञान लिया गया है । यदि उस तारीख को अपीलार्थी एक सरकारी सेवक नहीं था तो मंजूरी का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था । यह भी अभिनिर्धारित किया कि यद्यपि वे लोक सेवक बने हुए थे किन्तु भिन्न क्षमता में अथवा उससे भिन्न पद धारण किए हुए थे जिनके बारे में दुरुपयोग किया जाना अभिकथित है, तो भी मंजूरी का प्रश्न नहीं उठता है । यह निर्णय के पैराग्राफ 54 और 56 के परिशीलन से पता चल सकता है जिसे हम नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं :–

> "54. विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने 'विधिक कल्पना' के सिद्धांत के आधार पर अपने तर्क का समर्थन करने की कोशिश की है । हम यह नहीं समझते हैं कि किस प्रकार 'विधिक कल्पना' का सिद्धांत इस मामले में कार्य कर सकता है । यह हो सकता है कि इस मामले में अपीलार्थी उस जांच अवधि के दौरान एक से अधिक पद धारण करते रहे हों जिसके दौरान उनके बारे में पद का दुरुपयोग किया जाना अभिकथित है, तथापि, इस प्रश्न के बारे में कोई संदेह नहीं है कि यदि उस तारीख को जब संज्ञान लिया गया वे उस पद को धारण नहीं कर रहे थे । सुसंगत समय वह तारीख होती है जिस तारीख को संज्ञान लिया जाता है । जैसा कि एस. ए. वेंकटरमण **बनाम** राज्य (ए. आई. आर. 1958 एस. सी. 107 = 1958 क्रिमिनल ला जर्नल 254) में अभिनिर्धारित किया गया है । यदि उस तारीख को अपीलार्थी एक लोक सेवक नहीं था तो किसी मंजूरी का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था । यदि वह निरन्तर एक लोक सेवक बना रहता है किन्तु भिन्न क्षमता में या उससे भिन्न पद धारण करता है जिस पद पर रहते

हुए दुरुपयोग किया जाना अभिकथित है तो भी मंजूरी का प्रश्न नहीं उठता है और उस मामले में किसी संदेह का प्रश्न भी नहीं उद्भूत है क्योंकि संदेह मात्र तभी उद्भूत हो सकता है जब मंजूरी आवश्यक हो । वर्तमान अपीलार्थियों के मामले में कोई संदेह होने का प्रश्न नहीं था क्योंकि आधारभूत तौर पर अपीलार्थियों के बारे में मंजूरी द्वारा कोई संरक्षण प्राप्त करने का प्रश्न ही नहीं उठता था ।

* * * * *

56. इस प्रकार, हमारा यह स्पष्ट मत है कि उच्च न्यायालय पूर्णतया प्रकाश सिंह बादल **बनाम** पंजाब राज्य (2007) 1 एस. सी. सी. 1 वाले मामले के विनिश्चय का अवलंब लेते हुए यह अभिनिर्धारित करने में सही था कि दोनों अपीलों में अपीलार्थी सम्पूर्णतः भिन्न पद या एक से अधिक पदों का दुरुपयोग किया है, जो वे उस तारीख को धारण करते थे जब संज्ञान लिया गया था और इसलिए, भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 19 के अधीन मंजूरी आवश्यक नहीं थी, जैसा कि के. करुणाकरण **बनाम** केरल राज्य (2000) 3 एस. सी. सी. 155 वाले मामले में अभिनिर्धारित किया गया है और बाद के विनिश्चय प्रकाश सिंह बादल **बनाम** पंजाब राज्य (उपर्युक्त) वाले मामले में भी अभिनिर्धारित किया गया है । अपीलों में कोई गुणागुण नहीं है और इन्हें खारिज किया जाता है ।"

15. पूर्वोक्त उद्धृत पैराग्राफ 54 में, **एस. ए. वेंकटरमण** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय के निर्णय के प्रतिनिर्देश किया गया है । उस मामले में, भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 के संदर्भ विवाद्यक पर विचार किया गया था जिसमें सुसंगत उपबंध, वर्तमान भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1988 के अनुच्छेद 19 के अनुरूप धारा 6 था । इस न्यायालय ने धारा 6 के उपबंधों का निर्वचन करते हुए, यह अभिनिर्धारित किया कि यद्यपि जब तात्पर्यित अपराध, उस समय पर एक व्यक्ति द्वारा कारित किया जाता है, जब वह एक लोक सेवक था किन्तु वह उस तारीख लोक सेवक नहीं रह गया था जब उसके विरुद्ध न्यायालय द्वारा उस अपराध का संज्ञान लिया गया था जो उसके द्वारा कारित किया जाना अभिकथित है तो ऐसी मंजूरी की आवश्यकता नहीं रह गई थी ।

16. इसी प्रकार, **प्रकाश सिंह बादल और एक अन्य** बनाम **पंजाब राज्य और अन्य** (उपर्युक्त) वाले मामले में अपीलार्थी की दलील यह थी

कि मंजूरी प्राप्त करने की अनुज्ञा सम्पूर्ण सेवा के दौरान आवश्यक थी, का उत्तर निम्नलिखित तरीके से नकारात्मक दिया जाता है :–

> "24. तर्क, स्पष्टतः कायम रखे जाने योग्य नहीं है क्योंकि भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 19(1), समय और अपराध से संबंधित है ।
>
> भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 19(1) को उपर्युक्त उद्धृत किया गया है ।
>
> 25. धारा 7, 10, 11, 13 और 15 के रेखांकित सिद्धांत को उपर्युक्त उल्लिखित किया गया है । उपर्युक्त धाराओं में से प्रत्येक यह उपदर्शित करते हैं कि प्रत्येक लोक सेवक द्वारा परितोषण लेना (धारा 7), बिना प्रतिफल के मूल्यवान चीज प्राप्त करना (धारा 11), आपराधिक अवचार के कृत्य करना (धारा 13), प्राधिकार के अधीन कृत्य होते हैं किन्तु जो वस्तुतः लोक सेवक के स्वयं की कृपा या फायदे के लिए होते हैं । धारा 7, 10, 11, 13 और 15, पूर्वोक्त कथित कृत्यों में लागू होते हैं । इसलिए, यदि एक लोक सेवक अपनी पश्चात्वर्ती प्रास्थिति में ऐसे किसी आपराधिक कृत्यों का अभियुक्त नहीं है तो रिष्टि नियम का अवलंब लेने का प्रश्न ही उद्भूत नहीं होता है । भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 19(1)(क) के अधीन लोक सेवकों का संरक्षण, लोक सेवकों की कृपा या फायदों के लिए प्राधिकार के प्रभाव या प्राधिकार के अधीन किए जाने वाले समय संबंधित अपराधों तक ही सीमित किया गया है, जैसा कि धारा 7, 10, 11, 13 और 15 में वर्गीकृत किया गया है । यह न्यायालय द्वारा प्रतिपादित परीक्षण के निमित्त सिद्धांत है अर्थात् पद के दुरुपयोग का परीक्षण ।"

17. **अभय सिंह चौटाला** (उपर्युक्त) और **प्रकाश सिंह बादल** (उपर्युक्त) वाले मामलों में निर्णयों के परिशीलन से यह स्पष्टतः दर्शित होता है कि यदि लोक सेवक ने एक से अधिक सम्पूर्णतः भिन्न पद या पदों का दुरुपयोग किया है जिसे वह उस तारीख को धारण करता है जब संज्ञान लिया गया है तो भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 19 के अधीन मंजूरी लेना आवश्यक नहीं है । यह भी स्पष्ट होता है कि जहां लोक सेवक ने पद का दुरुपयोग किया है जिसे वह जांच अवधि के दौरान धारण करता था किन्तु उस पद को धारण करने से हटा दिया गया है या भिन्न पद धारण करता है तो मंजूरी आवश्यक नहीं होगी । इसी प्रकार,

जहां अभिकथित अवचार एक से किसी भिन्न क्षमता में किया जाता है जिसे वह संज्ञान लेते समय धारण करता है तो मंजूरी लेने की आवश्यकता नहीं होगी । तथापि, एक विवेकीय कारक जिसे उल्लिखित किया जाना है, यह है कि इन दोनों मामलों में अभियुक्त व्यक्ति, विधान सभा के सदस्य/ राजनैतिक पद की हैसियत में लोक सेवक थे । वे सरकारी कर्मचारियों के रूप में लोक सेवक नहीं थे तथापि, इन निर्णयों में अन्तर्विष्ट सविस्तार चर्चा से यह उपदर्शित होता है कि इसमें जो अधिकथित सिद्धांत समाविष्ट हैं और वे सभी लोक सेवकों के मामलों में लागू होते हैं, जिनमें वे सभी सरकारी कर्मचारी सम्मिलित हैं जो अन्यथा भी संविधान, 1950 के अनुच्छेद 309 और 311 के उपबंधों के अधीन सांविधानिक संरक्षण पाते हैं । दृष्टांतः, हम **आर. एस. नायक** बनाम **ए. आर. अंतुले**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के निर्णय से निम्नलिखित पैरा को उद्धृत कर सकते हैं, जिसे **प्रकाश सिंह बादल** (उपर्युक्त) वाले मामले के निर्णय के अन्य पैराग्राफों के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है :–

> "23. भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 161, 164 और 165 तथा भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 5 में विहित अपराध लोक सेवक के पद से आंतरिक और अपृथक्करणीय संबंध रखते हैं । एक लोक सेवक पद धारण करता है जो उसे लोक सेवक के रूप में दिया जाता है और उस पद पर प्रदत्त शक्तियों का इसके साथ उपयोग करता है । साधारणतया, शक्ति, वैयक्तिक व्यक्ति को प्रदत्त नहीं की जाती है । विधि के शासन द्वारा शासित समाज में, शक्ति पद को प्रदत्त की जाती है या कानूनी प्रास्थिति द्वारा अर्जित की जाती है और वैयक्तिक तौर पर पद धारण करना या उसकी प्रास्थिति पर प्रदत्त किया गया पद या शक्ति से निकलने वाले प्रास्थिति का प्रयोग किया जाता है एकमात्र पद धारण करने वाले के पास ही पद का दुरुपयोग या कुप्रयोग करने का अवसर होता है । यह मंजूरी, भ्रष्टाचार की प्रवृत्ति को रोकने के लिए शक्ति को अच्छी तरह से नियंत्रित करने को संहिताबद्ध करती है । जो पद धारण करता है उसे ही भ्रष्टाचार हेतुक के लिए इसके उपयोग का अवसर मिलता है । इसलिए, भ्रष्टाचार आचरण प्रत्यक्ष तौर पर अंशदायी होता है और उस पद पर प्रदत्त शक्तियों से निकलता है । व्यक्ति और पद के बीच

---

[1] (1984) 2 एस. सी. सी. 183.

आंतरिक संबंध और आंतरिक स्वतंत्रता से वह सारवान् होता है और पृथक्करणीय नहीं होता है । धारा 6 की उपधारा 1 के प्रत्येक तीनों खंडों में प्रयुक्त अभिव्यक्ति 'पद' है और मंजूरी प्रदान करने की शक्ति उस सक्षम प्राधिकारी को प्रदत्त होती है जो लोक सेवक को उसके पद से हटा सकता है और धारा 6, लोक सेवक द्वारा कारित अपराधों का संज्ञान लेने के पूर्व मंजूरी की अपेक्षा करता है । लोक सेवक द्वारा पद की शक्ति का दुरुपयोग या कुप्रयोग करते हुए अपराध कारित किया जाता है और यह उस पद से होता है और उसे उस पद से हटाने का प्राधिकार उस प्राधिकारी के पास होता है जो मंजूरी प्रदान करने का हकदार होता है । हटाया जाना, पद और पद के धारक द्वारा दुरुपयोग करने के बीच आंतरिक संबंध को समाप्त करने के बारे में होता है और पद के धारक को पद से हटाकर पृथक् किया जाता है । इसलिए, जब एक लोक सेवक कार्यालयकृत करते हुए कृत्यों या निषिद्ध कृत्यों से विधिमान्य पारितोषित के अलावा पारितोषित लेने के अपराध का अभियुक्त होता है (भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 161) या एक लोक सेवक धारा 161 और धारा 163 के अधीन दंडनीय अपराधों का दुष्प्रेरण करता है (भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 164) या एक लोक सेवक, ऐसे लोक सेवक द्वारा किसी कार्यवाहियों या कारबार संव्यवहार से संबंधित व्यक्ति से प्रतिफल के बिना कोई मूल्यवान चीज प्राप्त करता है (भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 165) या भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 5 के अधीन यथापरिभाषित आपराधिक अवचार कारित करता है तो वह विभिन्न अपराधों में संलिप्त होता है, जिसके बारे में कहा जा सकता है कि वह लोक सेवक के रूप में अपने द्वारा धारित शक्ति या पद का लोक सेवक के रूप में दुरुपयोग या कुप्रयोग करता है । भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 6(1) के तीनों उपखंडों में अभिव्यक्त 'पद' से स्पष्टतः यह दर्शित होता है कि पद, जिसका लोक सेवक भ्रष्ट हेतुक के लिए दुरुपयोग या कुप्रयोग करता है, जिसके लिए वह अभियोजित किया जाता है और जिसके संबंध में अभियोजित करने की मंजूरी सक्षम प्राधिकारी द्वारा आवश्यक होती है जो उसे उस पद से हटाने का हकदार होता है जिसका वह दुरुपयोग करता है । पद और इसके दुरुपयोग के बीच का यह आन्तरिक संबंध तब होता है जब यह धारा 6 के किसी अर्थ में आता है और यह

आन्तरिक संबंध स्पष्टतः, उस सक्षम प्राधिकारी द्वारा मंजूरी के लिए उपबंध करने वाले धारा 6 में उपबंध को समझने के लिए संकेत उपबंधित करता है जो मंजूरी प्राप्त करते हुए, न्यायालय में जाने से पूर्व लोक सेवक की कार्यवाही का न्यायनिर्णयन करने के लिए सक्षम होता है वह लोक सेवक के विरुद्ध न्यायालय द्वारा अपराधों का संज्ञान लेने के पूर्व होता है । इसलिए, यह निर्विवाद रूप से प्रकट होता है कि अभियोजित करने की मंजूरी उस सक्षम प्राधिकारी द्वारा दी जा सकती है जो लोक सेवक को उस पद से हटा सकता है जिसका वह दुरुपयोग या कुप्रयोग करता है क्योंकि प्राधिकारी ही एकमात्र यह जानने के लिए समर्थ होता है कि क्या लोक सेवक द्वारा पद का दुरुपयोग या कुप्रयोग किया गया है और न कि किसी अन्य श्रेणी के बाहरी व्यक्ति द्वारा । कई निर्णयों में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि वह प्राधिकारी जो मंजूरी देने का हकदार होता है उसे मंजूरी देने के पूर्व मामले के तथ्यों, एकत्रित साक्ष्यों और अन्य आनुषंगिक तथ्यों पर विचार करने में अपना विवेक लागू करना चाहिए । मंजूरी प्रदान करना एक आदर्श औपचारिकता नहीं है अपितु यह एक अतिमहत्वपूर्ण और अतिपवित्र कार्य है जो तुच्छ अभियोजनों के विरुद्ध सरकारी सेवकों के संरक्षण को हटाता है और इसलिए पूर्वोक्त आवश्यकताओं का किसी अभियोजन के पूर्व कठोरतः अनुपालन किया जाना चाहिए जिससे कि लोक सेवक के विरुद्ध कार्यवाही की जा सके {देखें : मोहम्मद इकबाल अहमद **बनाम** आंध्र प्रदेश राज्य (1979) 4 एस. सी. सी. 172 = 1979 एस. सी. सी. (क्रिमिनल) 926 = ए. आई. आर. 1979 एस. सी. 677 = [1979] 2 एस. सी. आर. 1007} । विधानमंडल ने सलाहकारी तौर पर सक्षम प्राधिकारी को एक लोक सेवक को पद से हटाने के लिए मंजूरी प्रदान करने के लिए सुस्पष्टत: यह कारण होना चाहिए कि प्राधिकारी अकेले ही समर्थ हो जब उसके समक्ष प्रस्तुत तथ्यों और साक्ष्यों से वह यह न्यायनिर्णयन कर सके कि क्या गंभीर अपराध कारित किए गए हैं या अभियोजन तुच्छ या अनुमानों पर आधारित हैं । प्राधिकारी अकेले ही यह न्यायनिर्णयन करने के लिए सक्षम होता है कि क्या अभिकथित तथ्यों से यह प्रकट होता है कि एक लोक सेवक द्वारा पद का दुरुपयोग या कुप्रयोग किया गया है । वह प्राधिकारी यह जानने की प्रास्थिति में होता है कि उस पद पर प्रदत्त शक्तियां क्या हैं जिसे लोक सेवक

धारण करता है और किस प्रकार भ्रष्ट हेतुक के लिए उस शक्ति का दुरुपयोग किया जा सकता है और क्या प्रथमदृष्ट्या ऐसा किया गया है । सक्षम प्राधिकारी को ही पद धारण करने वाले लोक सेवक द्वारा निर्वहन किए जाने वाले कृत्यों और उसकी प्रकृति के बारे में जानकारी होती है और यह कि क्या उसका दुरुपयोग या कुप्रयोग किया गया है । पद से लोक सेवक को हटाने वाले सक्षम प्राधिकारी और लोक सेवक द्वारा धारित पद की प्रकृति जिसके विरुद्ध मंजूरी ईप्सित होती है, के बीच ऊर्ध्वाधर पद सोपान होते हैं जिससे पद सोपान दर्शित होता है और इसलिए, वह ही पद के कृत्यों और कर्तव्यों के बारे में जानकारी रखते हुए निष्कर्ष निकाल सकता है और यह कि लोक सेवक द्वारा इसका दुरुपयोग या कुप्रयोग किया गया है । विधान-मंडल ने स्पष्टतः यह उपबंधित किया है कि वह प्राधिकारी ही मंजूरी प्रदान करने के लिए सक्षम होता है जो उस लोक सेवक को हटाने का हकदार होता है जिसके विरुद्ध पद से हटाने की ईप्सा की गई है ।"

18. वर्तमान अपीलार्थियों के मामले में, मंजूरी द्वारा अपीलार्थियों को कोई संरक्षण देने का प्रश्न ही नहीं है । उच्च न्यायालय ने **प्रकाश सिंह बादल** (उपर्युक्त) वाले मामले में दिए गए विनिश्चय को पूर्णरूपेण सही ही अवलंब लिया है, यह अभिनिर्धारित करने में कि दोनों अपीलों में अपीलार्थियों ने एक से भिन्न पद या पदों का पूर्णतया दुरुपयोग किया है जिसे वे उस तारीख को धारण करते थे जिस तारीख को संज्ञान लिया गया था और इसलिए, भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 19 के अधीन मंजूरी लेनी आवश्यक नहीं थी । क्या एक लोक सेवक ने उस पद का दुरुपयोग किया है जिसे वह जांच अवधि के दौरान धारण करता था किन्तु, उसे वह पद धारण करने से रोक दिया गया था या वह भिन्न पद धारण करता था तो मंजूरी लेना आवश्यक नहीं होगा । जहां अभिकथित अवचार एक से कुछ भिन्न क्षमता में किया गया है जिसे वह संज्ञान लेते समय धारण करता है तो मंजूरी लेने की आवश्यकता नहीं होगी ।

19. जहां तक अपीलार्थियों का यह तर्क कि उनके द्वारा अभिकथित कृत्य कारित करने के बारे में, परिवाद में कोई विनिर्दिष्ट प्रकथन नहीं है, का संबंध है, हम इस तर्क से सहमत होने में असमर्थ हैं । जैसा कि, उपर्युक्त पहले ही इंगित किया जा चुका है, इन दोनों अपीलार्थियों के विरुद्ध अभिकथन यह है कि तारीख 17 जनवरी, 2003 को अभियुक्त

संख्या 1 द्वारा घटनास्थल का निरीक्षण करने के पश्चात् प्रथम अपीलार्थी (अभियुक्त संख्या 3) जो तहसीलदार के रूप में कार्य कर रहा था, ने उसी दिन इसकी सिफारिश की थी और इसके पश्चात्, द्वितीय अपीलार्थी (अभियुक्त संख्या 3), जो सहायक आयुक्त के रूप में कार्य कर रहा था, ने ठीक उसी दिन एक पृष्ठांकन इस प्रभाव का किया कि संपत्ति अर्जन की विषय-वस्तु नहीं है । इस आधार पर, यह अभिकथित है कि इन कर्मचारियों ने अपनी पदीय प्रास्थिति का दुरुपयोग किया है । हम, यह अभिलिखित कर सकते हैं कि अपीलार्थियों के विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी है कि वे मात्र न्यायालय डिक्री पर कार्य कर रहे थे । तथापि, इस मामले के तथ्यों पर दो सही स्पष्टीकरण हो सकते हैं, जैसा कि मामले में अभिकथित है, चूंकि यह अभिकथित है कि इन दोनों अपीलार्थियों ने यह पता नहीं लगाया कि उसी भूमि के संबंध में, दो भिन्न नामों से दो डिक्रियां थीं, और यह भी कि प्रश्नगत 10 एकड़ भूमि पहले ही अर्जित की जा चुकी थी और यह डिक्री की विषय-वस्तु नहीं हो सकती थी । मामले के इन पहलुओं पर प्रथमदृष्ट्या इन अपीलार्थियों द्वारा देखा जाना चाहिए था । इसलिए, पूर्वोक्त तात्पर्यित प्रतिरक्षा के आधार पर, कार्यवाहियां अभिखंडित नहीं की जा सकती हैं । यह साक्ष्य का मामला होगा जिसके आधार पर अपीलार्थियों की सदोषिता के बारे में न्यायनिर्णयन किया जाएगा ।

20. पूर्वोक्त चर्चा से हमारा यह निष्कर्ष है कि संज्ञान लेने के समय पर मंजूरी प्राप्त करने के विवाद्यक पर उच्च न्यायालय का निर्णय सही नहीं हो सकता है जहां तक कि यह वर्तमान मामले के तथ्यों में उपर्युक्त विरचित प्रश्न सं. 1 का संबंध है, जहां तक कि प्रश्न संख्या 2 का संबंध है, यह सही ही विनिश्चित किया गया है । इसका प्रभाव यह अभिनिर्धारित करना होगा कि मंजूरी की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि अपीलार्थी संज्ञान लेते समय वह पद धारण नहीं कर रहे थे जिसके बारे में, दुरुपयोग किया जाना अभिकथित है ।

21. परिणामस्वरूप, ये अपीलें असफल होती हैं और तद्नुसार, इन्हें खर्चों का आदेश दिए बिना खारिज किया जाता है ।

अपीलें खारिज की गईं ।

क.

गोविंदास्वामी

बनाम

केरल राज्य

15 सितम्बर, 2016

न्यायमूर्ति रंजन गोगोई, न्यायमूर्ति प्रफुल्ल सी. पंत और
न्यायमूर्ति यू. यू. ललित

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) – धारा 376 और 397 – बलात्संग और लूट – अभियुक्त द्वारा रेलगाड़ी के महिला डिब्बे में चढ़कर अकेली यात्रा कर रही विपदग्रस्त पर हमला – उसे अभिकथित रूप से चलती गाड़ी से धक्का दिया जाना – उसके साथ क्षतिग्रस्त हालत में बलात्संग और उसका सामान लूटा जाना – आजीवन कारावास – मरणोत्तर परीक्षा रिपोर्ट, डी. एन. ए. रेखाचित्र और डाक्टर के साक्ष्य से यह साबित होने पर कि अभियुक्त ने ही विपदग्रस्त के साथ बलात्संग किया था और अपराध करने के पश्चात् उसका मोबाइल फोन आदि ले गया था तथा अपराध जिस पाश्विक और घृणास्पद रीति में किया गया, उसको देखते हुए उस पर अधिरोपित आजीवन कारावास का दंडादेश न्यायोचित है ।

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) – धारा 300 और 325 – हत्या – मृत्यु दंड – आशय – अभियुक्त द्वारा रेलगाड़ी के महिला डिब्बे में चढ़कर अकेली यात्रा कर रही मृतका पर हमला और उसे अभिकथित रूप से चलती गाड़ी से नीचे गिराकर क्षतिग्रस्त हालत में बलात्संग – चिकित्सा साक्ष्य से यह दर्शित होना कि विपदग्रस्त की मृत्यु उसे पहुंची क्षतियों और मैथुन करने के लिए उसे ऊर्ध्वमुख स्थिति में रखने के कारण हुई थी – मृतका द्वारा अपने को बचाने के लिए स्वयं चलती गाड़ी से कूदने की संभाव्यता को न नकारा जाना – मृतका को पहुंची इन क्षतियों के लिए अभियुक्त को उत्तरदायी ठहराने के लिए कोई साक्ष्य न होना – अभियुक्त द्वारा मृतका को क्षतिग्रस्त दशा में ऊर्ध्वमुख स्थिति में रखने का आशय उसके साथ बलात्संग करना था न कि उसकी हत्या और यह भी कि अभियुक्त को यह ज्ञान था कि उसके ऐसे कृत्य से उसकी मृत्यु होना संभाव्य है – इसलिए उसकी धारा 302 के अधीन दोषसिद्धि और दंडादेश

को अपास्त करके हमला आदि के कृत्य के लिए धारा 325 के अधीन दोषसिद्ध और दंडादिष्ट करना उचित होगा ।

मृतका/विपदग्रस्त लड़की, आयु लगभग 23 वर्ष, एर्नाकुलम में कार्य कर रही थी और एर्नाकुलम में ही नियोजित अनूप नामक व्यक्ति के साथ उसकी सगाई हुई थी । विवाह समारोह के लिए मृतका एर्नाकुलम टाउन रेलवे स्टेशन से शोरनुर अपने घर जाने के लिए एर्नाकुलम-शोरनुर सवारी गाड़ी में सवार हुई । मृतका अंतिम डिब्बे के महिला प्रभाग में सवार हुई । उस डिब्बे के महिला प्रभाग में मृतका के साथ-साथ अन्य यात्री भी थे । जब गाड़ी मुल्लूरकारा पहुंची, तो डिब्बे के महिला प्रभाग में बैठी सभी अन्य महिला यात्री वहां उतर गईं और इसलिए मृतका भी उनके साथ नीचे उतर गई और जल्दी से अंतिम डिब्बे के ठीक आगे लगे महिला डिब्बे में चढ़ गई । गाड़ी वल्लाथोल नगर रेलवे स्टेशन पर पहुंची, जहां वह थोड़ी देर के लिए रुकी । अभियुक्त-अपीलार्थी, जो कि एक आदतन अपराधी है, ने देखा कि मृतका महिला डिब्बे में अकेली है और जैसे ही गाड़ी वल्लाथोल नगर रेलवे स्टेशन से चली और शोरनुर की ओर बढ़ने लगी तो वह महिला डिब्बे में चढ़ गया । डिब्बे के अंदर अभियुक्त ने मृतका पर हमला किया और उसके सिर को कई बार डिब्बे की दीवारों से टकराया । मृतका रो रही थी और चीख-पुकार कर रही थी । महिला डिब्बे से अगले डिब्बे में यात्रा कर रहे व्यक्तियों (अभि. सा. 4 और अभि. सा. 40) जिन्होंने मृतका के रोने और चिल्लाने की आवाज सुनी थी और जंजीर खींचकर गाड़ी रुकवाना चाहते थे किंतु एक अन्य यात्री के यह कहने पर कि महिला गाड़ी से कूद गई है और बचकर भाग गई है तो उन्होंने जंजीर नहीं खींची । अभियोजन पक्षकथन के अनुसार अभियुक्त द्वारा मृतका को चलती गाड़ी से पटरी पर गिरा दिया/धक्का दे दिया था और वह रेल पटरी के विनिमय (क्रॉसओवर) पर मुंह के बल गिरी थी । अभियुक्त-अपीलार्थी भी दूसरी तरफ से चलती गाड़ी से नीचे कूद गया था और विपदग्रस्त को पटरी से उठाकर एक अन्य स्थान पर ले गया और उस पर लैंगिक हमला किया । उसके पश्चात् उसने विपदग्रस्त का सामान लूटा और उसके मोबाइल फोन सहित उस स्थान से भाग गया । जब गाड़ी शोरनुर रेलवे स्टेशन पर पहुंची तो उक्त साक्षियों ने गाड़ी के गार्ड को घटना के बारे में शिकायत की, जिसके बाद मृतका और अभियुक्त दोनों की तलाश शुरू हुई । परिणामतः, मृतका बुरी तरह से क्षतिग्रस्त हालत में रेल पटरी के पास पड़ी हुई पाई गई और उसके तुरंत पश्चात् अभियुक्त को भी गिरफ्तार किया गया । विपदग्रस्त को अस्पताल में भर्ती कराया गया, जहां क्षतियों के कारण उसकी मृत्यु हो गई । अभियुक्त

को प्रश्नगत अपराध कारित करने के लिए आरोपित किया गया और जिनके लिए विचारण न्यायालय द्वारा उसे भारतीय दंड संहिता की धारा 376, 394, 397 और 302 के अधीन दोषी पाया गया तथा आजीवन कारावास तथा मृत्युदंड से दंडादिष्ट किया गया और इसकी पुष्टि उच्च न्यायालय द्वारा की गई । अभियुक्त-अपीलार्थी ने व्यथित होकर उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल की । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील भागतः मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – जहां तक भारतीय दंड संहिता की धारा 376 के अधीन अपराध का संबंध है, मरणोत्तर परीक्षा रिपोर्ट, डी. एन. ए. रेखाचित्र और अभि. सा. 64 तथा अभि. सा. 70 के साक्ष्य पर विचार करने के पश्चात् इस बात पर तनिक भी संदेह नहीं किया जा सकता है कि अभियुक्त-अपीलार्थी ही वह व्यक्ति था जिसने उक्त अपराध किया था । डी. एन. ए. रेखाचित्र से इस संविवाद का पटाक्षेप हो जाता है और मामले में किसी संदेह और बहस की गुंजाइश के बिना इससे अभियुक्त का दायित्व स्पष्ट हो जाता है । इसलिए इस न्यायालय को भारतीय दंड संहिता की धारा 376 के अधीन अभियुक्त की दोषसिद्धि की पुष्टि करने में कोई कठिनाई नहीं है । उक्त अपराध उस मृतका के साथ किया गया था जिसके शरीर पर पहले ही अत्यधिक क्षतियां पहुंची हुई थीं, इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए इस न्यायालय का यह मत है कि अभियुक्त द्वारा न केवल भारतीय दंड संहिता की धारा 376 के अधीन अपराध किया गया था, अपितु यह अपराध इतने पाश्विक और हास्यास्पद रीति में किया गया था, जो विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा अधिनिर्णीत और उच्च न्यायालय द्वारा अभिपुष्ट आजीवन दंडादेश के अधिरोपण को न्यायोचित ठहराता है । जहां तक भारतीय दंड संहिता की धारा 397 के साथ पठित धारा 394 के अधीन अपराध का संबंध है, यह दर्शित करने के लिए अभिलेख पर पर्याप्त साक्ष्य है कि अभियुक्त अपराध कारित करने के पश्चात् मृतका का मोबाइल फोन ले गया था और उसे, वास्तव में, अभि. सा. 10, माणिक्यन को बेचा था और उसने इसे पुनः अभि. सा. 10, बेबी वर्गीज को बेचा था जिससे पुलिस द्वारा इस मोबाइल फोन को अभिगृहीत किया गया था । (पैरा 13 और 14)

यह न्यायालय भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन दंडनीय अपराध के लिए अभियुक्त की सदोषिता पर विचार करेगा और यदि अभियुक्त को इसके लिए दायी ठहराया जाए तो वह समुचित दंड क्या होगा जो उसे दिया जाना चाहिए । अभि. सा. 64 के साक्ष्य से, विशिष्ट

रूप से क्षति सं. 1 और 2 के प्रतिनिर्देश करते हुए यह दर्शित होता है कि मृतका की मृत्यु क्षति सं. 1 और 2 के संयोजन और उनसे उद्भूत हुई जटिलताओं, जिनके अंतर्गत वायु मार्गों में रक्त का स्राव होने और परिणामस्वरूप आक्सीजन की अत्यधिक कमी से मस्तिष्क क्षतिग्रस्त होने से हुई थी । डाक्टर (अभि. सा. 64) की राय में, मस्तिष्क क्षतिग्रस्त इस तथ्य के कारण हुआ था कि मृतका को लैंगिक हमले के प्रयोजन के लिए ऊर्ध्वमुख स्थिति में रखा गया था । ऐसी स्थिति में, जहां यह प्रमाणित और स्वीकार किया गया है कि मृत्यु क्षति सं. 1 और 2 के कारण तथा मृतका को जिस स्थिति में रखा गया था, उसके कारण वायु मार्गों में रक्त का स्राव होने से हुई थी, तब इस महत्वपूर्ण तथ्य पर विचार करना आवश्यक है कि क्या अभियुक्त उस क्षति सं. 2 के लिए उत्तरदायी है जो मृतका को स्पष्ट रूप से चलती गाड़ी से गिरने के कारण पहुंची थी । क्षति सं. 2 पर विचार करने से पूर्व न्यायालय यह मत व्यक्त करना चाहेगा कि इस न्यायालय की यह राय है कि महिला डिब्बे में क्या घटित हुआ था उस संबंध में अभि. सा. 4 और अभि. सा. 40 के साक्ष्य और इसके साथ-साथ अभि. सा. 64 और मरणोत्तर परीक्षा रिपोर्ट को ध्यान में रखते हुए क्षति सं. 1 के लिए अभियुक्त के दायित्व का पुनःअवधारण करने की आवश्यकता नहीं है । तथापि, जहां तक क्षति सं. 2 का संबंध है, जब तक सटीक और विश्वसनीय साक्ष्य के आधार पर मृतका को गाड़ी से गिराने के आरोप के लिए अभियुक्त को संबद्ध न किया जा सकता हो, अर्थात् अभियुक्त द्वारा मृतका को गाड़ी से धक्का देने और मृतका द्वारा स्वयं गाड़ी से कूदने की संभाव्यता को नहीं नकारा जाता है, तब तक आवश्यक रूप से उक्त क्षति के लिए अभियुक्त का दायित्व नहीं बनता है । अभि. सा. 64 द्वारा यह अभिसाक्ष्य दिया गया है कि मृतका की मृत्यु उस पर लैंगिक हमला करने के लिए उसे ऊर्ध्वमुख स्थिति में रखने के कारण हुई थी । तथापि, यह अभिनिर्धारित करने के लिए कि अभियुक्त भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन दायी है, यह अपेक्षित है कि क्या अभियुक्त का आशय मृत्यु कारित करने का था या उसे यह ज्ञान था कि उसके कृत्य से मृत्यु होना संभाव्य है । अभि. सा. 64 के अनुसार, मृतका को ऊर्ध्वमुख स्थिति में रखने का अभियुक्त का आशय उस पर लैंगिक हमला करने के प्रयोजन के लिए था । यह भी नहीं माना जा सकता है कि अभियुक्त को ऐसा अपेक्षित ज्ञान था कि उन परिस्थितियों में उसके उस कृत्य से मृत्यु कारित हो सकती है, क्योंकि स्वयं अभि. सा. 64 का साक्ष्य इस आशय का है कि ऐसा ज्ञान और जानकारी, वस्तुतः, चिकित्सा और पैरा-चिकित्सा स्टाफ के प्रशिक्षण के

पाठ्यक्रम में अलग-अलग हो जाती है । मृतका घटना के पश्चात् कई दिनों तक जीवित रही थी और अंततः उसकी मृत्यु अस्पताल में हुई थी, यह तथ्य भी स्पष्ट रूप से अभियुक्त द्वारा मृतका को ऊर्ध्वमुख स्थिति में रखने का कृत्य करके उसकी मृत्यु कारित करने के किसी आशय को नकारता है । इसलिए ऊपर चर्चा किए गए तथ्यों की समग्रता में, अभियुक्त को क्षति सं. 2 के लिए दायी नहीं ठहराया जा सकता है । इसी प्रकार, मृतका को ऊर्ध्वमुख स्थिति में रखने से मृत्यु कारित करने के आशय या ऐसा ज्ञान होने का आरोप अभियुक्त पर नहीं लगाया जा सकता है कि उस कृत्य से मृत्यु कारित हो सकती है । तद्नुसार, इस न्यायालय का यह मत है कि यह अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता है कि अभियुक्त के विरुद्ध भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन अपराध बनता है जिससे कि उसे इसके लिए दायी ठहराया जा सके । बल्कि, इस न्यायालय का यह मत है कि अभियुक्त पर लगाए गए हमला आदि करने के कृत्य के अपराध पर भारतीय दंड संहिता की धारा 325 ज्यादा समुचित रूप से लागू होगी । तद्नुसार, यह न्यायालय अभियुक्त-अपीलार्थी को उक्त अपराध का दोषी पाता है और यह अपराध करने के लिए उसे सात वर्ष का कठोर कारावास भुगतने का दंडादेश देता है । (पैरा 15 और 17)

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2014 की दांडिक अपील सं. 1584-1585.

2012 की दांडिक अपील सं. 149 में केरल उच्च न्यायालय, एर्नाकुलम के तारीख 17 दिसम्बर, 2013 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री बी. ए. अलोर, प्रसनजीत सरकार, सतीश नायर के. आर. और राहुल गुप्ता

प्रत्यर्थी की ओर से सर्वश्री थॉमस पी. जोसफ, ज्येष्ठ अधिवक्ता, निशरजन शोनकर, (सुश्री) अनु के. जॉय और गजेन्द्र किचि (जोगी सारिया की ओर से)

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति रंजन गोगोई ने दिया ।

न्या. गोगोई – अभियुक्त-अपीलार्थी को भारतीय दंड संहिता, 1860

की धारा 302 के अधीन दोषसिद्ध किया गया है और मृत्यु दंडादेश दिया गया है । उसे भारतीय दंड संहिता की धारा 376 के अधीन भी दोषसिद्ध किया गया है और कठोर आजीवन कारावास भुगतने का दंडादेश दिया गया है । इसके अतिरिक्त, उसे भारतीय दंड संहिता की धारा 397 के साथ पठित धारा 394 तथा धारा 447 के अधीन दंडनीय अपराधों के लिए भी दोषी पाया गया है, जिनके लिए उसे अलग से क्रमशः सात वर्ष तथा तीन माह का कठोर कारावास भुगतने के लिए दंडादिष्ट किया गया है । अपील में उच्च न्यायालय द्वारा अभियुक्त-अपीलार्थी की दोषसिद्धि और उस पर अधिरोपित दंडादेशों की पुष्टि की गई है ।

2. संक्षेप में अभियोजन पक्षकथन यह है कि मृतका/विपदग्रस्त लड़की, आयु लगभग 23 वर्ष, एर्नाकुलम में कार्य कर रही थी और उसकी अनूप नामक व्यक्ति (अभि. सा. 76) के साथ सगाई हुई थी, जो एर्नाकुलम में ही नियोजित था । उनका विवाह समारोह तारीख 2 फरवरी, 2011 को शोरनुर में मृतका के घर पर होना था । अभि. सा. 76 को अपने परिवार के सदस्यों के साथ उस दिन मृतका के घर जाना था । तद्नुसार, मृतका तारीख 1 फरवरी, 2011 को लगभग 5.30 बजे अपराह्न में एर्नाकुलम टाउन रेलवे स्टेशन से शोरनुर अपने घर जाने के लिए एर्नाकुलम-शोरनुर सवारी गाड़ी में सवार हुई । मृतका अंतिम डिब्बे के महिला प्रभाग में सवार हुई । उस डिब्बे के महिला प्रभाग में मृतका के साथ-साथ अन्य यात्री भी थे । जब गाड़ी मुल्लूरकारा पहुंची, तो डिब्बे के महिला प्रभाग में बैठी सभी अन्य महिला यात्री वहां उतर गईं और इसलिए मृतका भी उनके साथ नीचे उतर गई और जल्दी से अंतिम डिब्बे के ठीक आगे लगे महिला डिब्बे में चढ़ गई । गाड़ी वल्लाथोल नगर रेलवे स्टेशन पर पहुंची, जहां वह थोड़ी देर के लिए रुकी ।

3. अभियोजन पक्ष के अनुसार, अभियुक्त-अपीलार्थी, जो कि एक आदतन अपराधी है, ने देखा कि मृतका महिला डिब्बे में अकेली है । जैसे ही गाड़ी वल्लाथोल नगर रेलवे स्टेशन से चली और शोरनुर की ओर बढ़ने लगी तो अभियुक्त-अपीलार्थी महिला डिब्बे में चढ़ गया । अभियोजन पक्ष का यह अभिकथन है कि डिब्बे के अंदर अभियुक्त ने मृतका पर हमला किया और वास्तव में, उसके सिर को कई बार डिब्बे की दीवारों से टकराया । अभियोजन पक्ष का यह भी अभिकथन है कि मृतका रो रही थी और चीख-पुकार कर रही थी । अभियोजन का यह पक्षकथन है कि अभियुक्त द्वारा मृतका को चलती गाड़ी से पटरी पर गिरा दिया/धक्का दे

दिया और वह रेल पटरी के विनिमय (क्रॉसओवर) पर मुंह के बल गिरी । अभियुक्त-अपीलार्थी भी दूसरी तरफ से चलती गाड़ी से नीचे कूद गया और विपदग्रस्त को पटरी से उठाकर एक अन्य स्थान पर ले गया और उस पर लैंगिक हमला किया । उसके पश्चात् उसने विपदग्रस्त का सामान लूटा और उसके मोबाइल फोन सहित उस स्थान से भाग गया ।

4. अभियोजन का यह भी पक्षकथन है कि अभि. सा. 4, टोमी देवसिया और अभि. सा. 40, अब्दुल शुक्कुर महिला डिब्बे के आगे जुड़े साधारण डिब्बे में यात्रा कर रहे थे । अभियोजन पक्ष के अनुसार, उक्त साक्षियों ने मृतका की चिल्लाने की आवाज सुनी थी । अभि. सा. 4 गाड़ी रुकवाने के लिए अलार्म जंजीर खींचना चाहता था, किंतु उसे एक अधेड़ आयु के व्यक्ति ने, जो डिब्बे के दरवाजे पर खड़ा था, यह कह कर रोक दिया कि लड़की गाड़ी से कूद गई है तथा बच कर भाग गई है और इन परिस्थितियों में उसे मामले में कोई आगे कार्यवाही नहीं करनी चाहिए क्योंकि ऐसा करने से उन सभी को न्यायालय के चक्कर काटने पड़ सकते हैं । तथापि, जब गाड़ी 10 मिनट के अंदर शोरनुर रेलवे स्टेशन पर पहुंची, तो अभि. सा. 4 और अभि. सा. 40 गाड़ी के गार्ड अभि. सा. 34, जोबी सकरिया के पास गए और घटना के बारे में शिकायत की, जिसके बाद मृतका और अभियुक्त दोनों की तलाश शुरू हुई । परिणामतः, मृतका बुरी तरह से क्षतिग्रस्त हालत में रेल पटरी के पास पड़ी हुई पाई और उसके तुरंत पश्चात् अभियुक्त को भी जिन परिस्थितियों में गिरफ्तार किया गया उनका इस न्यायालय को उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है । अभियोजन पक्ष के अनुसार, मृतका को स्थानीय अस्पताल ले जाया गया और उसके पश्चात् उसे चिकित्सा महाविद्यालय अस्पताल, थ्रिसुर ले जाया गया, जहां तारीख 6 फरवरी, 2011 को क्षतियों के कारण उसकी मृत्यु हो गई । यही परिस्थितियां हैं जिनमें अभियुक्त को प्रश्नगत अपराध कारित करने के लिए आरोपित किया गया और जिनके लिए उसे दोषी पाया गया तथा पहले उल्लिखित अनुसार दंडादिष्ट किया गया ।

5. अभियोजन पक्ष द्वारा अपने पक्षकथन के समर्थन में बहुत सारे साक्षियों (कुल 83) की परीक्षा कराई गई और सौ से अधिक दस्तावेज प्रदर्शित किए गए । इस अपील के लिए अभि. सा. 4, 40, 64 और 70 के साक्ष्य की अवेक्षा करना पर्याप्त होगा । मरणोत्तर परीक्षा रिपोर्ट (प्रदर्श पी-69) और डी. एन. ए. रेखाचित्र (प्रदर्श पी-2) पर भी विनिर्दिष्ट ध्यान देने की आवश्यकता है और उसके सुसंगत भाग को भी उद्धृत किया जाना आवश्यक होगा ।

6. जैसा कि पहले ही उल्लेख किया गया है, अभि. सा. 4 और अभि. सा. 40 साधारण डिब्बे में यात्रा कर रहे थे, जो महिला डिब्बे के ठीक आगे जुड़ा था । दोनों साक्षियों के अनुसार, उन्होंने महिला डिब्बे से किसी स्त्री के चिल्लाने और रोने की आवाज सुनाई दी और हालांकि अभि. सा. 4 गाड़ी की अलार्म जंजीर खींचना चाहता था किंतु उसे एक अधेड़ आयु के व्यक्ति ने रोक दिया, जिसने उन्हें यह कहा कि इस बात को आगे न बढ़ाया जाए क्योंकि वह स्त्री गाड़ी से उतर गई है और अपना बचाव कर लिया है । अभि. सा. 4 और अभि. सा. 40 के अनुसार, जैसे ही गाड़ी शोरनुर रेलवे स्टेशन पर पहुंची, उन्होंने इस मामले को अभि. सा. 34, गाड़ी के गार्ड के ध्यान में लाया । उसके पश्चात् मृतका को बरामद और अभियुक्त को गिरफ्तार किया गया ।

7. अभि. सा. 64, डा. शेरली वासु ने, जो उस समय चिकित्सा महाविद्यालय अस्पताल, थ्रिसुर के न्यायालयिक विज्ञान विभाग में आचार्य और विभागाध्यक्ष के रूप में कार्यरत थे, पांच अन्य डाक्टरों (जिनकी भी परीक्षा कराई गई थी) की सहायता से मृतका की मरणोत्तर परीक्षा की । अभि. सा. 64 के अनुसार, उसे मृतका के शरीर पर मृत्युपूर्व की 24 क्षतियां पाई थीं, जिनका ब्यौरा उसके द्वारा मरणोत्तर परीक्षा रिपोर्ट (प्रदर्श पी-69) में वर्णित किया गया है । मृतका को पहुंचीं/कारित हुईं प्रत्येक क्षति के ब्यौरे पर विचार करना तो आवश्यक नहीं है, फिर भी जहां तक क्षति सं. 1 और 2 का संबंध है, महत्वपूर्ण होने के कारण अभि. सा. 64 के साक्ष्य पर विनिर्दिष्ट ध्यान देने की आवश्यकता है और इसलिए इसे नीचे उद्धृत किया जाता है :–

> "क्षति सं. 1 उसे सुन्न और निश्चेतन बनाने के लिए पर्याप्त है । यह क्षति सिर में चक्कर पैदा करने और निरुत्तर करने के लिए समर्थ है । यही घाव मृत्यु का अनन्य कारण नहीं हो सकते हैं । यह क्षति केवल तब कारित होगी यदि सिर को बलपूर्वक किसी सख्त चपटी सतह से आगे-पीछे टकराया जाए । यह आवश्यक नहीं है कि इससे पूरी तरह बेहोश हो जाए । किंतु विपदग्रस्त कुछ कर नहीं सकता है । संख्यांक 1 पर वर्णित क्षति बालों को दाएं हाथ से पीछे से पकड़कर किसी चपटी सतह से 4-5 बार टकराने से कारित की गई है । इन क्षतियों के फोटो प्रदर्श पी-70, सीडी में विस्तार से रखे गए हैं । मैंने अध्यपेक्षा में सूचीबद्ध विषयों का भी स्वतंत्र मूल्यांकन किया और मेरी समझ में जो बात आई, वह यह है कि चपटी और कठोर वस्तु से

विपदग्रस्त का सिर कई बार टकराने के पश्चात् और निश्चेतन करने के पश्चात् नीचे गिरा दी गई । (प्र.) यदि बालों को पीछे से पकड़कर (गाड़ी की) दीवार से टकराया जाए तो ऐसा होगा ? (उ.) हां । ऐसा होगा ।

क्षति सं. 2. यह क्षति बाईं आंख के नीचे से ठोढ़ी की हड्डी तक पहुंची है । इसके अतिरिक्त, होठों पर और इसके नीचे तक है । जंभिका और जबड़े पर अस्थिभंग हैं । लगभग 13 दांत टूट कर अलग हो गए हैं । बाएं गाल की हड्डी चूर-चूर हो गई है । ठोढ़ी की हड्डी और गाल पर रगड़ का ऊर्ध्वाधर लंबा चिह्न दिखाई पड़ता है । इस प्रकार, राय में यह बात और सम्मिलित हो जाती है कि मृतका पटरी की चिकनी सतह पर गिरी और आगे (पीछे) घिसटी । ठोढ़ी पर नीचे घिसटने का 5 से. मी. का चिह्न दिखाई पड़ा । मरणोत्तर परीक्षा के लिए अनुरोध-पत्र में चलती गाड़ी से धक्का देने की बात कही गई है । इस प्रकार, यद्यपि गाड़ी चल रही थी किंतु गति न के बराबर थी । यह क्षति कारित होने में गाड़ी की गति की केवल नगण्य भूमिका है । गति की बात अनदेखी करने योग्य है । यह दिखाई पड़ता है कि चूंकि क्षति सं. 1 के परिणामस्वरूप वह निश्चेतन हो गई थी, इसलिए स्वाभाविक परावर्तन के अभाव में चेहरे को ढलान का पूरा जोर सहन करना पड़ा । यदि वह सुन्न नहीं होती और सजग होती तो उसने हाथों को आगे की ओर किया होता और हाथों पर कुछ-न-कुछ गिरने का असर दिखाई पड़ता । कोहनियों, कलाइयों और प्रबाहु के आंतरिक किनारों पर गिरने की कोई क्षति नहीं थी । गिरने की कोई सहज क्रिया नहीं थी । संख्यांक 2 की क्षतियां ऐसी हैं जो 5 से 8 फुट की ऊंचाई से उस व्यक्ति के भार (42 कि. ग्रा.) वाले व्यक्ति के गिरने पर पहुंच सकती हैं । ये क्षतियां तब पहुंचेंगी यदि यह भाग (दाएं गाल की हड्डी पर आड़े-तिरछे) गाड़ी की पटरी पर टकराता है । मैंने तारीख 9.2.2011 को सी. आई. चेलाक्कारा के साथ इस घटना-स्थल का दौरा किया ।

5 पटरियां दिखाई गईं । ये आर-पार दिखाई पड़ती हैं । यह समझ में आता है कि ऐसा तब घटित हो सकता है जब चलती गाड़ी से अगली क्रास पटरी के नजदीक गिरे । सामान्य तौर पर दो पटरियां समान्तर जाती हैं । यह ऐसा स्थान नहीं है । बाएं गाल की हड्डी पूरी तरह से चकनाचूर हुई है । हड्डी इसलिए चकनाचूर हुई क्योंकि

जंभिका के अंदर वायु-कोष्ठ होते हैं ।"

8. मृत्यु के कारण के बारे में मरणोत्तर परीक्षा में वर्णित अभि. सा. 64 की राय निम्नलिखित है :–

> "मृत व्यक्ति की मृत्यु कठोर वस्तु से टकराने और उस पर गिरने के परिणामस्वरूप सिर पर पहुंची कुंद क्षतियों तथा उनके संकुलिकरण, जिसमें वायु मार्गों में (मानसिक आघात के पश्चात् बेहोशी की असंरक्षित दशा के दौरान) रक्त का स्राव होना और उसके परिणामस्वरूप मस्तिष्क का आक्सीजन की अत्यधिक कमी के कारण क्षतिग्रस्त होना भी है, के कारण हुई । उस पर हमले और जबरदस्ती मैथुन करने के परिणामस्वरूप पहुंची क्षतियां भी दिखाई दीं । उसमें मृत्यु के समय बहु अंगों के निष्क्रिय होने के लक्षण हैं ।"

9. अभि. सा. 64 ने अपने साक्ष्य में यह भी स्पष्ट किया कि वायु मार्गों में रक्त का स्राव विपदग्रस्त को, अधिसंभाव्यतः, मैथुन के लिए उर्ध्वमुख स्थिति में रखे जाने के कारण हो सकता है और जिसके परिणामस्वरूप आक्सीजन की अत्यधिक कमी के कारण मस्तिष्क क्षतिग्रस्त हो सकता है ।

10. जहां तक अभियुक्त-अपीलार्थी के विरुद्ध भारतीय दंड संहिता की धारा 376 के अधीन अभिकथित अपराध का संबंध है, मरणोत्तर परीक्षा रिपोर्ट के अन्य भागों और अभि. सा. 64 के साक्ष्य की भी विनिर्दिष्ट अवेक्षा करना आवश्यक है । मरणोत्तर परीक्षा रिपोर्ट का सुसंगत भाग नीचे उद्धृत किया जाता है :–

> "श्रोणी (पेल्विक) संरचना : मूत्राशय खाली था, गर्भाशय और इसके उपांग सामान्य प्रतीत हुए, गुहिका खाली थी, अंतर्गर्भाशय में संकुलन दिखाई दिया और ग्रीवा ओएस वर्तुलनीय थी । दाएं अंडाशय में पोलिसाइसटिक परिवर्तन दिखाई दिए । मेरुदंड अविकल था ।
>
> योनि द्वार और भिति पर सभी ओर नीलापन दिखाई दिया, मूत्रमार्ग द्वार के ठीक पीछे यह नीलापन ज्यादा स्पष्ट था । योनिच्छद हाल ही में पूरी तरह से लगभग 5.00 बजे के आकार में फटा हुआ दिखाई दिया (जैसा कि किनारों की सूजन और अत्यधिक रक्त प्रवाह से सुझाव मिलता है) तथा 1.00 बजे के आकार का स्वाभाविक कटाव था ।
>
> (टिप्पणी – हाल ही में किया गया मैथुन)"

11. अभि. सा. 70 डा. आर. श्रीकुमार, संयुक्त निदेशक (अनुसंधान) जो न्यायालयिक विज्ञान प्रयोगशाला, त्रिवेन्द्रम में सहायक निदेशक, डी. एन. ए. का कार्यभार संभाल रहे थे, का साक्ष्य और परीक्षण रिपोर्ट (प्रदर्श पी-2) भी उल्लेखनीय है ।

12. अभि. सा. 70 ने अपने अभिसाक्ष्य में यह कथन किया कि परीक्षण करने के पश्चात् प्रदर्श पी-2 के पृष्ठ सं. 19 और 20 पर परिणाम अभिलिखित किए गए :–

> "मद सं. 1(क) और 2(ख) में विपदग्रस्त के यौनिक स्राव अंतर्विष्ट हैं, जबकि मद 2(क) विपदग्रस्त से एकत्रित किया गया यौनिक लेपन है । मद 3(क) काटकर खोला गया वस्त्र (तात्विक वस्तु-1) है और मद 18 एक फटी हुई लुंगी (तात्विक वस्तु-5) है । मद सं. 8 अभियुक्त के रक्त का नमूना है ।
>
> अभि. सा. 70 के अनुसार, डी. एन. ए. टाइपिंग के अनुसार मद सं. 1(1), 2(क), 2(ख), 3(क) और 18 पर वीर्य के धब्बे अभियुक्त के वीर्य के हैं जिसका रक्त का नमूना मद सं. 8 में है ।
>
> इसके अतिरिक्त, अभि. सा. 70 के साक्ष्य से यह स्पष्ट है कि अभियुक्त के कपड़ों अर्थात् पैंट [मद सं. 13 (तात्विक वस्तु-8)], जांघिया [मद सं. 14 (तात्विक वस्तु-21)], कमीज [मद सं. 17 (तात्विक वस्तु-6)] पर विपदग्रस्त का रक्त [मद 1(ख)] पाया गया था ।"

13. जहां तक भारतीय दंड संहिता की धारा 376 के अधीन अपराध का संबंध है, मरणोत्तर परीक्षा रिपोर्ट (प्रदर्श पी-69), डी. एन. ए. रेखाचित्र (प्रदर्श पी-2) और अभि. सा. 64 तथा अभि. सा. 70 के साक्ष्य पर विचार करने के पश्चात् इस बात पर तनिक भी संदेह नहीं किया जा सकता है कि अभियुक्त-अपीलार्थी ही वह व्यक्ति था जिसने उक्त अपराध किया था । डी. एन. ए. रेखाचित्र, जिसे ऊपर उद्धृत किया गया है, से इस संविवाद का पटाक्षेप हो जाता है और किसी संदेह और बहस की गुंजाइश के बिना इससे अभियुक्त का दायित्व मामले में स्पष्ट हो जाता है । इसलिए हमें भारतीय दंड संहिता की धारा 376 के अधीन अभियुक्त की दोषसिद्धि की पुष्टि करने में कोई कठिनाई नहीं है । उक्त अपराध उस मृतका के साथ किया गया था जिसके शरीर पर पहले ही अत्यधिक क्षतियां पहुंचीं हुई थीं, इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए हमारा यह मत है कि अभियुक्त द्वारा न केवल भारतीय दंड संहिता की धारा 376 के अधीन अपराध किया गया था,

अपितु यह अपराध इतने पाश्विक और हास्यास्पद रीति में किया गया था जो विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा अधिनिर्णीत और उच्च न्यायालय द्वारा अभिपुष्ट आजीवन दंडादेश के अधिरोपण को न्यायोचित ठहराता है ।

14. जहां तक भारतीय दंड संहिता की धारा 397 के साथ पठित धारा 394 के अधीन अपराध का संबंध है, यह दर्शित करने के लिए अभिलेख पर पर्याप्त साक्ष्य है कि अभियुक्त अपराध कारित करने के पश्चात् मृतका का मोबाइल फोन ले गया था और उसे, वास्तव में, अभि. सा. 10, माणिक्यन को बेचा था और उसने इसे पुनः अभि. सा. 10, बेबी वर्गीज को बेचा था जिससे पुलिस द्वारा इस मोबाइल फोन को अभिगृहीत किया गया था ।

15. इस बात को ध्यान में रखते हुए यह न्यायालय भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन दंडनीय अपराध के लिए अभियुक्त की सदोषिता पर विचार करेगा और यदि अभियुक्त को इस प्रकार दायी ठहराया जाए तो वह समुचित दंड क्या होगा जो उसे दिया जाना चाहिए । अभि. सा. 64 के साक्ष्य से, विशिष्ट रूप से क्षति सं. 1 और 2 के प्रति निर्देश करते हुए, जिसका ब्यौरा ऊपर उद्धृत किया गया है, से यह दर्शित होता है कि मृतका की मृत्यु क्षति सं. 1 और 2 के संयोजन और उनसे उद्भूत हुई जटिलताओं, जिनके अंतर्गत वायु मार्गों में रक्त का स्राव होने और परिणामस्वरूप आक्सीजन की अत्यधिक कमी से मस्तिष्क क्षतिग्रस्त होने से हुई थी । डाक्टर (अभि. सा. 64) की राय में, मस्तिष्क क्षतिग्रस्त इस तथ्य के कारण हुआ था कि मृतका को लैंगिक हमले के प्रयोजन के लिए उर्ध्वमुख स्थिति में रखा गया था । ऐसी स्थिति में, जहां यह प्रमाणित और स्वीकार किया गया है कि मृत्यु क्षति सं. 1 और 2 के कारण तथा मृतका को जिस स्थिति में रखा गया था, उसके कारण वायु मार्गों में रक्त का स्राव होने से हुई थी, तब इस महत्वपूर्ण तथ्य पर विचार करना आवश्यक है कि क्या अभियुक्त उस क्षति सं. 2 के लिए उत्तरदायी है जो मृतका को स्पष्ट रूप से चलती गाड़ी से गिरने के कारण पहुंची थी । क्षति सं. 2 पर विचार करने से पूर्व हम यह मत व्यक्त करना चाहेंगे कि हमारी यह राय है कि महिला डिब्बे में क्या घटित हुआ था उस संबंध में अभि. सा. 4 और अभि. सा. 40 के साक्ष्य और इसके साथ-साथ अभि. सा. 64 और मरणोत्तर परीक्षा रिपोर्ट (प्रदर्श पी-69) को ध्यान में रखते हुए क्षति सं. 1 के लिए अभियुक्त के दायित्व का पुनःअवधारण करने की आवश्यकता नहीं है । तथापि, जहां तक क्षति सं. 2 का संबंध है, जब तक सटीक और विश्वसनीय साक्ष्य के आधार पर मृतका को गाड़ी से गिराने के आरोप के

लिए अभियुक्त को संबद्ध न किया जा सकता हो, अर्थात् अभियुक्त द्वारा मृतका को गाड़ी से धक्का देने और मृतका द्वारा स्वयं गाड़ी से कूदने की संभाव्यता को नहीं नकारा जाता है, तब तक आवश्यक रूप से उक्त क्षति के लिए अभियुक्त का दायित्व नहीं बनता है ।

16. इस बारे में राज्य की ओर से विद्वान् काउंसेल ने मृतका को पहुंची क्षति सं. 1, जैसा कि अभि. सा. 64 द्वारा अभिसाक्ष्य दिया गया है, को निर्दिष्ट किया और यह दलील दी कि मृतका की सुसंगत समय पर जो बिगड़ी मानसिक स्थिति थी, उसे देखते हुए उसके लिए यह विनिश्चय करना संभव नहीं था कि वह गाड़ी से बाहर छलांग लगा दे । यह आवश्यक नहीं है कि उक्त प्रतिपादना आवश्यक रूप से गलत हो, तो भी जिस बात की अनदेखी नहीं की जा सकती है वह इस बाबत अभि. सा. 4 और अभि. सा. 40 का साक्ष्य है, जो इस आशय का है कि उन्हें डिब्बे के दरवाजे पर खड़े एक अधेड़ आयु के व्यक्ति द्वारा यह बताया गया था कि लड़की गाड़ी से कूद गई है और अपना बचाव कर लिया है । अभियुक्त के विरुद्ध प्रतीत होने वाली परिस्थितियों का मूल्यांकन अभिलेख पर के मौखिक साक्ष्य के मुकाबले करना चाहिए और जो निष्कर्ष निकले वह किसी अन्य संभाव्यता को स्वीकार न करते हुए आवश्यक रूप से एकमात्र संभव निष्कर्ष होना चाहिए । हमारे सुविचारित मत में, किसी अन्य निष्कर्ष का अपवर्जन करके ऊपर उल्लिखित तथ्यों को ध्यान में रखते हुए ऐसा निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है ।

17. अभि. सा. 64 द्वारा यह अभिसाक्ष्य दिया गया है कि मृतका की मृत्यु उस पर लैंगिक हमला करने के लिए उसे ऊर्ध्वमुख स्थिति में रखने के कारण हुई थी । तथापि, यह अभिनिर्धारित करने के लिए कि अभियुक्त भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन दायी है, यह अपेक्षित है कि क्या अभियुक्त का आशय मृत्यु कारित करने का था या उसे यह ज्ञान था कि उसके कृत्य से मृत्यु होना संभाव्य है । अभि. सा. 64 के अनुसार, मृतका को ऊर्ध्वमुख स्थिति में रखने का अभियुक्त का आशय उस पर लैंगिक हमला करने के प्रयोजन के लिए था । यह भी नहीं माना जा सकता है कि अभियुक्त को ऐसा अपेक्षित ज्ञान था कि उन परिस्थितियों में उसके उस कृत्य से मृत्यु कारित हो सकती है, क्योंकि स्वयं अभि. सा. 64 का साक्ष्य इस आशय का है कि ऐसा ज्ञान और जानकारी, वस्तुतः, चिकित्सा और पैरा-चिकित्सा स्टाफ के प्रशिक्षण के पाठ्यक्रम में अलग-अलग हो जाती है । मृतका घटना के पश्चात् कई दिनों तक जीवित रही

थी और अंततः उसकी मृत्यु अस्पताल में हुई थी, यह तथ्य भी स्पष्ट रूप से अभियुक्त द्वारा मृतका को ऊर्ध्वमुख स्थिति में रखने का कृत्य करके उसकी मृत्यु कारित करने के किसी आशय को नकारता है । इसलिए ऊपर चर्चा किए गए तथ्यों की समग्रता में, अभियुक्त को क्षति सं. 2 के लिए दायी नहीं ठहराया जा सकता है । इसी प्रकार, मृतका को ऊर्ध्वमुख स्थिति में रखने से मृत्यु कारित करने के आशय या ऐसा ज्ञान होने का आरोप अभियुक्त पर नहीं लगाया जा सकता है कि उस कृत्य से मृत्यु कारित हो सकती है । तद्नुसार, हमारा यह मत है कि यह अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता है कि अभियुक्त के विरुद्ध भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन अपराध बनता है जिससे कि उसे इसके लिए दायी ठहराया जा सके । बल्कि, हमारा यह मत है कि अभियुक्त पर लगाए गए हमला आदि करने के कृत्य के अपराध पर भारतीय दंड संहिता की धारा 325 ज्यादा समुचित रूप से लागू होगी । तद्नुसार, हम अभियुक्त-अपीलार्थी को उक्त अपराध का दोषी पाते हैं और यह अपराध करने के लिए उसे सात वर्ष का कठोर कारावास भुगतने का दंडादेश देते हैं ।

18. परिणामतः और ऊपर की गई चर्चा को ध्यान में रखते हुए, हम अभियुक्त-अपीलार्थी द्वारा फाइल की गई अपील को भागतः मंजूर करते हैं । जबकि भारतीय दंड संहिता की धारा 376, धारा 397 के साथ पठित धारा 394 और धारा 447 के अधीन दोषसिद्धि उक्त अपराध करने के लिए अधिरोपित दंडादेशों को कायम रखा जाता है, किंतु भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन दोषसिद्धि को अपास्त किया जाता है और इसे भारतीय दंड संहिता की धारा 325 के अधीन अपराध में परिवर्तित किया जाता है । भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन अपराध करने के लिए मृत्यु दंडादेश को अपास्त किया जाता है और इसके बजाय अभियुक्त को सात वर्ष का कठोर कारावास भुगतने का दंडादेश दिया जाता है । अधिरोपित सभी दंडादेश साथ-साथ चलेंगे । तद्नुसार, विद्वान् विचारण न्यायालय और उच्च न्यायालय का आदेश उपातंरित किया जाता है ।

अपील भागतः मंजूर की गई ।

जस.

संसद् के अधिनियम

अनुसूचित जनजाति और अन्य परंपरागत वन निवासी (वन अधिकारों की मान्यता) अधिनियम, 2006

(2007 का अधिनियम संख्यांक 2)

[29 दिसंबर, 2006]

वन में निवास करने वाली ऐसी अनुसूचित जनजातियों और अन्य परंपरागत वन निवासियों के, जो ऐसे वनों में पीढ़ियों से निवास कर रहे हैं, किंतु उनके अधिकारों को अभिलिखित नहीं किया जा सका है, वन अधिकारों और वन भूमि में अधिभोग मान्यता देने और निहित करने; वन भूमि में इस प्रकार निहित वन अधिकारों को अभिलिखित करने के लिए संरचना का और वन भूमि के संबंध में अधिकारों को ऐसी मान्यता देने और निहित करने के लिए अपेक्षित साक्ष्य की प्रकृति का उपबंध करने के लिए अधिनियम

वन में निवास करने वाली अनुसूचित जनजातियों और अन्य परंपरागत वन निवासियों के, मान्यताप्राप्त अधिकारों में, दीर्घकालीन उपयोग के लिए जिम्मेदारी और प्राधिकार, जैव विविधता का संरक्षण और पारिस्थितिकी संतुलन को बनाए रखना और वन में निवास करने वाली अनुसूचित जनजातियों और अन्य परंपरागत वन निवासियों की जीविका तथा खाद्य सुरक्षा को सुनिश्चित करते समय वनों की संरक्षण व्यवस्था को सुदृढ़ करना भी सम्मिलित है ;

और औपनिवेशिक काल के दौरान तथा स्वतंत्र भारत में राज्य वनों को समेकित करते समय उनकी पैतृक भूमि पर वन अधिकारों और उनके निवास को पर्याप्त रूप से मान्यता नहीं दी गई थी, जिसके परिणामस्वरूप वन में निवास करने वाली उन अनुसूचित जनजातियों और अन्य परंपरागत वन निवासियों के प्रति ऐतिहासिक अन्याय हुआ है, जो वन पारिस्थितिकी प्रणाली को बचाने और बनाए रखने के लिए अभिन्न अंग है ;

और यह आवश्यक हो गया है कि वन में निवास करने वाली अनुसूचित जनजातियों और अन्य परंपरागत वन निवासियों की, जिसके अंतर्गत वे जनजातियां भी हैं, जिन्हें राज्य के विकास से उत्पन्न हस्तक्षेप के कारण अपने निवास दूसरी जगह बनाने के लिए मजबूर किया गया था, लंबे समय से चली आ रही भूमि संबंधी असुरक्षा तथा वनों में पहुंच के अधिकारों पर ध्यान दिया जाए ;

भारत गणराज्य के सतावनवें वर्ष में संसद् द्वारा निम्नलिखित रूप में यह अधिनियमित हो :–

अध्याय 1

प्रारंभिक

1. संक्षिप्त नाम और प्रारंभ – (1) इस अधिनियम का संक्षिप्त नाम अनुसूचित जनजाति और अन्य परंपरागत वन निवासी (वन अधिकारों की मान्यता) अधिनियम, 2006 है ।

(2) इसका विस्तार जम्मू-कश्मीर राज्य के सिवाय सम्पूर्ण भारत पर है ।

(3) यह उस तारीख को प्रवृत्त होगा, जो केन्द्रीय सरकार राजपत्र में अधिसूचना द्वारा नियत करे ।

2. परिभाषाएं – इस अधिनियम में, जब तक कि संदर्भ से अन्यथा अपेक्षित न हो,–

(क) "सामुदायिक वन संसाधन" से ग्राम की परंपरागत या रूढ़िगत सीमाओं के भीतर रूढ़िगत सामान्य वन भूमि या चरागाही समुदायों की दशा में भू-परिदृश्य का मौसमी उपयोग अभिप्रेत है, जिसके अंतर्गत आरक्षित वन, संरक्षित वन और संरक्षित ऐसे क्षेत्रों की भूमि है जैसे अभ्यारण्य और राष्ट्रीय उद्यान जिन पर समुदायों की परंपरागत पहुंच थी ;

(ख) "संकटपूर्ण वन्य जीव आवास" से राष्ट्रीय उद्यानों और अभ्यारण्यों के ऐसे क्षेत्र अभिप्रेत हैं, जहां वैज्ञानिक और वस्तुनिष्ठ मानदंडों के आधार पर, मामलेवार, विनिर्दिष्ट रूप से और स्पष्ट रूप से यह स्थापित किया गया है कि ऐसे क्षेत्र वन्य जीव संरक्षण के प्रयोजनों के लिए अनतिक्रांत रखे जाने के लिए अपेक्षित हैं जैसाकि केन्द्रीय सरकार के पर्यावरण और वन मंत्रालय द्वारा ऐसी विशेषज्ञ

समिति से परामर्श की खुली प्रक्रिया के पश्चात् अवधारित और अधिसूचित की जाए, जिसमें उस सरकार द्वारा नियुक्त उस परिक्षेत्र से विशेषज्ञ सम्मिलित होंगे जिसमें धारा 4 की उपधारा (1) और उपधारा (2) से उद्भूत प्रकियात्मक अपेक्षाओं के अनुसार ऐसे क्षेत्रों का अवधारण करने में जनजातीय मंत्रालय का एक प्रतिनिधि भी सम्मिलित होगा ;

(ग) "वन में निवास करने वाली अनुसूचित जनजाति" से अनुसूचित जनजातियों के ऐसे सदस्य या समुदाय अभिप्रेत हैं, जो प्राथमिक रूप से वनों में निवास करते हैं और जीविका की वास्तविक आवश्यकताओं के लिए वनों या वन भूमि पर निर्भर हैं और इसके अंतर्गत अनुसूचित जनजाति चरागाही समुदाय भी हैं ;

(घ) "वन भूमि" से किसी वन क्षेत्र के अंतर्गत आने वाली किसी प्रकार की भूमि अभिप्रेत है और उसके अंतर्गत अवर्गीकृत वन, असीमांकित विद्यमान वन या समझे गए वन, संरक्षित वन, आरक्षित वन, अभ्यारण्य और राष्ट्रीय उद्यान भी हैं ;

(ङ) "वन अधिकारों" से धारा 3 में निर्दिष्ट वन अधिकार अभिप्रेत है ;

(च) "वन ग्राम" से ऐसी बस्तियां अभिप्रेत हैं, जो किसी राज्य सरकार के वन विभाग द्वारा वन संबंधी संक्रियाओं के लिए वनों के भीतर स्थापित की गई हैं या जो वन आरक्षण प्रक्रिया के माध्यम से वन ग्रामों में संपरिवर्तित की गई हैं और जिनके अंतर्गत वन बस्ती ग्राम, नियत मांग धृति, ऐसे ग्रामों के लिए सभी प्रकार की वन कृषि बस्तियां भी हैं, चाहे वे किसी भी नाम से ज्ञात हों और इसके अंतर्गत सरकार द्वारा अनुज्ञात कृषि तथा अन्य उपयोगों के लिए भूमि भी है ;

(छ) "ग्राम सभा" से ऐसी ग्राम सभा अभिप्रेत है, जो ग्राम के सभी वयस्क सदस्यों से मिलकर बनेगी और ऐसे राज्यों की दशा में, जिनमें कोई ग्राम पंचायत नहीं है, पाड़ा, टोला और ऐसी अन्य परंपरागत ग्राम संस्थाएं और निर्वाचित ग्राम समितियां भी हैं जिनमें महिलाओं की पूर्ण और अनिर्बंधित भागीदारी है ;

(ज) "आवास" के अंतर्गत ऐसा क्षेत्र भी है, जिसमें आदिम जनजाति समूहों और कृषि पूर्व समुदायों और अन्य वन निवासी अनुसूचित जनजातियों के आरक्षित वनों और संरक्षित वनों में

परंपरागत आवास और ऐसे अन्य आवास सम्मिलित हैं ;

(झ) "गौण वन उत्पाद" के अंतर्गत पादप मूल के सभी गैर-इमारती वनोत्पाद हैं, जिनमें, बांस, झाड़ झंकाड़, ठूंठ, बैंत, तुसार, कोया, शहद, मोम, लाख, तेंदू या केंदू पत्ते, औषधीय पौधे और जड़ी बूटियां, मूल, कन्द और इसी प्रकार के उत्पाद सम्मिलित हैं ;

(ञ) "नोडल अभिकरण" से धारा 11 में विनिर्दिष्ट नोडल अभिकरण अभिप्रेत है ;

(ट) "अधिसूचना" से राजपत्र में प्रकाशित अधिसूचना अभिप्रेत है ;

(ठ) "विहित" से इस अधिनियम के अधीन बनाए गए नियमों द्वारा विहित अभिप्रेत है ;

(ड) "अनुसूचित क्षेत्र" से संविधान के अनुच्छेद 244 के खंड (1) में निर्दिष्ट अनुसूचित क्षेत्र अभिप्रेत है ;

(ढ) "सतत उपयोग" का वही अर्थ होगा जो जैव विविधता अधिनियम, 2002 (2003 का 18) की धारा 2 के खंड (ण) में है ;

(ण) "अन्य परंपरागत वन निवासी" से ऐसा कोई सदस्य या समुदाय अभिप्रेत है, जो 31 दिसंबर, 2005 से पूर्व कम से कम तीन पीढ़ियों तक प्राथमिक रूप से वन या वन भूमि में निवास करता रहा है और जो जीविका की वास्तविक आवश्यकताओं के लिए उन पर निर्भर है ।

स्पष्टीकरण – इस खंड के प्रयोजन के लिए "पीढ़ी" से पच्चीस वर्ष की अवधि अभिप्रेत है ;

(त) "ग्राम" से निम्नलिखित अभिप्रेत है –

(i) पंचायत उपबंध (अनुसूचित क्षेत्रों पर विस्तार) अधिनियम, 1996 (1996 का 40) की धारा 4 के खंड (ख) में निर्दिष्ट कोई ग्राम ; या

(ii) अनुसूचित क्षेत्रों से भिन्न पंचायतों से संबंधित किसी राज्य विधि में ग्राम के रूप में निर्दिष्ट कोई क्षेत्र ; या

(iii) वन ग्राम, पुरातन निवास या बस्तियां और असर्वेक्षित ग्राम, चाहे वे ग्राम के रूप में अधिसूचित हों या नहीं ; या

(iv) उन राज्यों की दशा में, जहां पंचायतें नहीं हैं, पारम्परिक ग्राम, चाहे वे किसी भी नाम से ज्ञात हों ;

(थ) "वन्य पशु" से वन्य जीव (संरक्षण) अधिनियम, 1972 (1972 का 53) की अनुसूची 1 से 4 में विनिर्दिष्ट पशु की ऐसी प्रजातियां अभिप्रेत हैं, जो प्रकृति में वन्य के रूप में पाई जाती हैं ।

अध्याय 2

वन अधिकार

3. वन में निवास करने वाली अनुसूचित जनजातियों और अन्य परंपरागत वन निवासियों के वन अधिकार – (1) इस अधिनियम के प्रयोजनों के लिए, वन में निवास करने वाली अनुसूचित जनजातियों और अन्य परंपरागत वन निवासियों के सभी वन भूमि पर निम्नलिखित वन अधिकार होंगे, जो व्यक्तिगत या सामुदायिक भूधृति या दोनों को सुरक्षित करते हैं, अर्थात् :–

(क) वन में निवास करने वाली अनुसूचित जनजाति और अन्य परंपरागत वन निवासियों के किसी सदस्य या किन्हीं सदस्यों द्वारा निवास के लिए या जीविका के लिए स्वयं खेती करने के लिए व्यक्तिगत या सामूहिक अधिभोग के अधीन वन भूमि को धारित करने और उसमें रहने का अधिकार ;

(ख) निस्तार के रूप में सामुदायिक अधिकार, चाहे किसी भी नाम से ज्ञात हों, जिनके अंतर्गत तत्कालीन राजाओं के राज्यों, जमींदारी या ऐसे अन्य मध्यवर्ती शासनों में प्रयुक्त अधिकार भी सम्मिलित हैं ;

(ग) गौण वन उत्पादों के, जिनका गांव की सीमा के भीतर या बाहर पारंपरिक रूप से संग्रह किया जाता रहा है स्वामित्व संग्रह करने के लिए पहुंच, उनका उपयोग और व्ययन का अधिकार रहा है ;

(घ) यायावरी या चरागाही समुदायों की मत्स्य और जलाशयों के अन्य उत्पाद, चरागाह (स्थापित और घुमक्कड़ दोनों) के उपयोग या उन पर हकदारी और पारम्परिक मौसमी संसाधनों तक पहुंच के अन्य सामुदायिक अधिकार ;

(ङ) वे अधिकार, जिनके अंतर्गत आदिम जनजाति समूहों और कृषि पूर्व समुदायों के लिए गृह और आवास की सामुदायिक भू-

धृतियां भी हैं ;

(च) किसी ऐसे राज्य में, जहां दावे विवादग्रस्त हैं, किसी नाम पद्धति के अधीन विवादित भूमि में या उस पर के अधिकार ;

(छ) वन भूमि पर हक के लिए किसी स्थानीय प्राधिकरण या किसी राज्य सरकार द्वारा जारी पट्टों या धृतियों या अनुदानों के संपरिवर्तन के अधिकार ;

(ज) वनों के सभी वन ग्रामों, पुराने आवासों, असर्वेक्षित ग्रामों और अन्य ग्रामों के बसने और संपरिवर्तन के अधिकार, चाहे वे राजस्व ग्रामों में लेखबद्ध हों, अधिसूचित हों अथवा नहीं ;

(झ) ऐसे किसी सामुदायिक वन संसाधन का संरक्षण, पुनरुज्जीवित या संरक्षित या प्रबंध करने का अधिकार, जिसकी वे सतत् उपयोग के लिए परंपरागत रूप से संरक्षा और संरक्षण कर रहे हैं ;

(ञ) ऐसे अधिकार, जिनको किसी राज्य की विधि या किसी स्वशासी जिला परिषद् या स्वशासी क्षेत्रीय परिषद् की विधियों के अधीन मान्यता दी गई है या जिन्हें किसी राज्य की संबंधित जनजाति की किसी पारंपरिक या रूढ़िगत विधि के अधीन जनजातियों के अधिकारों के रूप में स्वीकार किया गया है ;

(ट) जैव विविधता तक पहुंच का अधिकार और जैव विविधता तथा सांस्कृतिक विविधता से संबंधित बौद्धिक संपदा और पारंपरिक ज्ञान का सामुदायिक अधिकार ;

(ठ) कोई ऐसा अन्य पारंपरिक अधिकार जिसका, यथास्थिति, वन में निवास करने वाली उन अनुसूचित जनजातियों या अन्य परंपरागत वन निवासियों द्वारा रूढ़िगत रूप से उपभोग किया जा रहा है, जो खंड (क) से खंड (ट) में वर्णित हैं, किंतु उनमें किसी प्रजाति के वन्य जीव का शिकार करने या उन्हें फंसाने या उनके शरीर का कोई भाग निकालने का परंपरागत अधिकार नहीं है ;

(ड) यथावत पुनर्वास का अधिकार, जिसके अंतर्गत उन मामलों में आनुकल्पिक भूमि भी है जहां अनुसूचित जनजातियों और अन्य परंपरागत वन निवासियों को 13 दिसंबर, 2005 के पूर्व किसी भी प्रकार की वन भूमि से पुनर्वास के उनके वैध हक प्राप्त किए बिना अवैध रूप से बेदखल या विस्थापित किया गया हो ।

(2) वन (संरक्षण) अधिनियम, 1980 (1980 का 69) में किसी बात के होते हुए भी, केन्द्रीय सरकार, सरकार द्वारा व्यवस्थित निम्नलिखित सुविधाओं के लिए वन भूमि के परिवर्तन का उपबंध करेगी जिसके अंतर्गत प्रति हेक्टेयर पचहत्तर से अनधिक पेड़ों का गिराया जाना भी है, अर्थात् :–

(क) विद्यालय ;

(ख) औषधालय या अस्पताल ;

(ग) आंगनबाड़ी ;

(घ) उचित कीमत की दुकानें ;

(ङ) विद्युत और दूरसंचार लाइनें ;

(च) टंकियां और अन्य लघु जलाशय ;

(छ) पेय जल की आपूर्ति और जल पाइपलाइनें ;

(ज) जल या वर्षा जल संचयन संरचनाएं ;

(झ) लघु सिंचाई नहरें ;

(ञ) अपारंपरिक ऊर्जा स्त्रोत ;

(ट) कौशल उन्नयन या व्यावसायिक प्रशिक्षण केन्द्र ;

(ठ) सड़कें ; और

(ड) सामुदायिक केन्द्र :

परंतु वन भूमि के ऐसे परिवर्तन को तभी अनुज्ञात किया जाएगा, जब –

(i) इस उपधारा में वर्णित प्रयोजनों के लिए परिवर्तित की जाने वाली वन भूमि ऐसे प्रत्येक मामले में एक हेक्टेयर से कम है ; और

(ii) ऐसी विकासशील परियोजनाओं की अनापत्ति इस शर्त के अधीन रहते हुए होगी कि उसकी सिफारिश ग्राम सभा द्वारा की गई हो ।

अध्याय 3

वन अधिकारों की मान्यता, उनका पुनःस्थापन और निहित होना तथा संबंधित विषय

4. वन में निवास करने वाली अनुसूचित जनजातियों और अन्य परंपरागत वन निवासियों के वन अधिकारों की मान्यता और उनका निहित होना – (1) तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि में अंतर्विष्ट किसी बात के

होते हुए भी और इस अधिनियम के उपबंधों के अधीन रहते हुए, केन्द्रीय सरकार, –

(क) ऐसे राज्यों या राज्यों के उन क्षेत्रों में वन में निवास करने वाली अनुसूचित जनजातियों के, जहां उन्हें धारा 3 में उल्लिखित सभी वन अधिकारों की बाबत अनुसूचित जनजातियों के रूप में घोषित किया गया है ;

(ख) धारा 3 में उल्लिखित सभी वन अधिकारों की बाबत अन्य परंपरागत वन निवासियों के वनाधिकारों को,

मान्यता प्रदान करती है और उनमें निहित करती है ।

(2) राष्ट्रीय उद्यानों और अभ्यारण्यों के संकटग्रस्त वन्य जीव आवासों में इस अधिनियम के अधीन मान्यताप्राप्त वन अधिकारों को, पश्चात्वर्ती रूप में उपान्तरित या पुनःस्थापित किया जा सकेगा, परंतु किसी भी वन अधिकार धारक को पुनःस्थापित नहीं किया जाएगा या किसी भी रीति में उनके अधिकारों पर वन जीव संरक्षण के लिए अनतिक्रांत क्षेत्रों के सृजन के प्रयोजनों के लिए निम्नलिखित सभी शर्तों के पूरा करने की दशा में के सिवाय प्रभाव नहीं पड़ेगा, अर्थात्, –

(क) विचाराधीन सभी क्षेत्रों में धारा 6 में यथा विनिर्दिष्ट अधिकारों की मान्यता और निहित करने की प्रक्रिया पूरी हो ;

(ख) राज्य सरकार के संबद्ध अभिकरणों द्वारा वन्य जीव संरक्षण अधिनियम, 1972 (1972 का 53) के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए यह स्थापित किया गया है कि अधिकारों के धारकों की उपस्थिति के वन्य पशुओं पर क्रियाकलाप या प्रभाव अपरिवर्तनीय नुकसान करने के लिए पर्याप्त हैं और उक्त प्रजाति के अस्तित्व और उनके निवास के लिए खतरा है ;

(ग) राज्य सरकार यह निष्कर्ष निकाल चुकी है कि सहअस्तित्व जैसे अन्य युक्तियुक्त विकल्प उपलब्ध नहीं हैं ;

(घ) एक पुनर्व्यवस्थापन या अनुकल्पी पैकेज तैयार और संसूचित किया गया है जो प्रभावित व्यष्टियों और समुदायों के लिए सुनिश्चित जीविका का उपबंध करता है और ऐसे प्रभावित व्यष्टियों और समुदायों की केन्द्रीय सरकार की सुसंगत विधियों और नीति में दी गई अपेक्षाओं को पूरा करने की व्यवस्था करता है ;

(ङ) प्रस्तावित पुनर्व्यवस्थापन और पैकेज के लिए संबद्ध क्षेत्रों में ग्राम सभाओं की स्वतंत्र सूचित सहमति लिखित में प्राप्त कर ली गई है ;

(च) कोई पुनर्व्यवस्थापन तभी होगा जब पुनर्वास अवस्थान पर सुविधाएं और भूमि आबंटन वायदा किए गए पैकेज के अनुसार पूरी की गई हों :

परंतु संकटग्रस्त वन्य जीव आवास, जिससे अधिकार धारकों को इस प्रकार वन्य जीव संरक्षण के प्रयोजनों के लिए पुनःस्थापित किया जाता है, पश्चात्वर्ती रूप से राज्य सरकार या केन्द्रीय सरकार या किसी एकक द्वारा किसी अन्य उपयोगों के लिए अपवर्तित नहीं किया जाएगा ।

(3) वन भूमि और उसके निवासियों की बाबत किसी राज्य या संघ राज्यक्षेत्र के संबंध में वन में निवास करने वाली अनुसूचित जनजातियों और अन्य परंपरागत वन निवासियों को, इस अधिनियम के अधीन वन अधिकारों की मान्यता देना और उनका निहित किया जाना इस शर्त के अध्यधीन होगा कि ऐसी जनजातियों या जनजाति समुदायों या अन्य परंपरागत वन निवासियों ने 13 दिसंबर, 2005 से पूर्व वन भूमि अधिभोग में ले ली थी ।

(4) उपधारा (1) द्वारा प्रदत्त कोई अधिकार वंशागत होगा किंतु संक्रमणीय या अन्तरणीय नहीं होगा और विवाहित व्यक्तियों की दशा में पति-पत्नी दोनों के नाम में संयुक्त रूप से और यदि किसी घर का मुखिया एकल व्यक्ति है तो एकल मुखिया के नाम में रजिस्ट्रीकृत होगा तथा सीधे वारिस की अनुपस्थिति में वंशागत अधिकार अगले निकटतम संबंधी को चला जाएगा ।

(5) जैसा अन्यथा उपबंधित है उसके सिवाय, किसी वन में निवास करने वाली अनुसूचित जनजाति या अन्य परंपरागत वन निवासियों का कोई सदस्य उसके अधिभोगाधीन वन भूमि से तब तक बेदखल नहीं किया जाएगा या हटाया नहीं जाएगा जब तक कि मान्यता और सत्यापन प्रक्रिया पूरी नहीं हो जाती है ।

(6) जहां उपधारा (1) द्वारा मान्यताप्राप्त और निहित वन अधिकार धारा 3 की उपधारा (1) के खंड (क) में वर्णित भूमि के संबंध में हैं, वहां ऐसी भूमि इस अधिनियम के प्रारंभ की तारीख को किसी व्यष्टि या कुटुम्ब या समुदाय के अधिभोगाधीन होगी और ऐसी भूमि वास्तविक अधिभोग के अधीन क्षेत्र तक निर्बंधित होगी और किसी भी दशा में इसका क्षेत्र चार

हेक्टेयर से अधिक का नहीं होगा ।

(7) वन अधिकार, सभी विल्लंगमों और प्रक्रिया संबंधी अपेक्षाओं से मुक्त रूप में प्रदत्त किया जाएगा, जिसमें वन (संरक्षण) अधिनियम, 1980 (1980 का 69) के अधीन अनापत्ति इस अधिनियम में विनिर्दिष्ट के सिवाय वन भूमि में अपयोजन के लिए "शुद्ध वर्तमान मूल्य" और प्रतिकरात्मक वन रोपण का संदाय करने की अपेक्षा सम्मिलित हैं ।

(8) इस अधिनियम के अधीन मान्यताप्राप्त और निहित वन अधिकारों में वन में निवास करने वाली अनुसूचित जनजातियों और अन्य परंपरागत वन निवासियों के वन भूमि अधिकार सम्मिलित होंगे जो यह साबित कर सकते हैं कि वे राज्य विकास हस्तक्षेप के कारण भूमि प्रतिकर के बिना उनके निवास और खेती से विस्थापित किए गए थे और जहां भूमि का उपयोग उक्त अर्जन से पांच वर्ष के भीतर उस प्रयोजन के लिए नहीं किया गया है, जिसके लिए वह अर्जित की गई थी ।

5. वन अधिकारों के धारकों के कर्तव्य – किसी वन्य अधिकार के धारक, उन क्षेत्रों में जहां इस अधिनियम के अधीन किन्हीं वन अधिकारों के धारक हैं, ग्राम सभा और ग्राम स्तर की संस्थाएं निम्नलिखित के लिए सशक्त हैं, –

(क) वन्य जीव, वन और जैव विविधता का संरक्षण करना ;

(ख) यह सुनिश्चित करना कि लगा हुआ जलागम क्षेत्र, जल स्रोत और अन्य पारिस्थितिकीय संवेदनशील क्षेत्र पर्याप्त रूप से संरक्षित हैं ;

(ग) यह सुनिश्चित करना कि वन में निवास करने वाली अनुसूचित जनजातियों और अन्य परंपरागत वन निवासियों का निवास किसी प्रकार के विनाशकारी व्यवहारों से संरक्षित हैं जो उनकी सांस्कृतिक और प्राकृतिक विरासत को प्रभावित करती हैं ;

(घ) यह सुनिश्चित करना कि सामुदायिक वन संसाधनों तक पहुंच को विनियमित करने और ऐसे किसी क्रियाकलाप को रोकने के लिए, जो वन्य जीव, वन और जैव विविधता पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है, ग्राम सभा में लिए गए विनिश्चयों का पालन किया जाता है ।

अध्याय 4

वन अधिकारों को निहित करने के लिए प्राधिकारी और प्रक्रिया

6. वन में निवास करने वाली अनुसूचित जनजातियों और अन्य परंपरागत वन निवासियों में वन अधिकारों को निहित करने के लिए प्राधिकारी और उसकी प्रक्रिया – (1) ग्राम सभा को, ऐसे किसी व्यष्टिक या सामुदायिक वन्य अधिकारों या दोनों की प्रकृति और सीमा को अवधारित करने के लिए प्रक्रिया आरंभ करने का प्राधिकार होगा जो इस अधिनियम के अधीन इसकी अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर वन में निवास करने वाली अनुसूचित जनजातियों और अन्य परंपरागत वन निवासियों को, दावे स्वीकार करते हुए, उनके समेकन और सत्यापन तथा ऐसी रीति में, जो विहित की जाए, सिफारिश किए गए प्रत्येक दावे के क्षेत्र को अंकित करते हुए, मानचित्र तैयार करके दिए जा सकेंगे और तब ग्राम सभा उस आशय का संकल्प पारित करेगी तथा उसके पश्चात् उसकी एक प्रति उपखंड स्तर की समिति को अग्रेषित करेगी ।

(2) ग्राम सभा के संकल्प से व्यथित कोई व्यक्ति उपधारा (3) के अधीन गठित उपखंड स्तर की समिति को कोई याचिका दे सकेगा और उपखंड स्तर की समिति ऐसी याचिका पर विचार करेगी और उसका निपटारा करेगी :

परंतु प्रत्येक ऐसी याचिका ग्राम सभा द्वारा संकल्प पारित करने की तारीख से साठ दिन के भीतर दी जाएगी :

परंतु यह और कि ऐसी याचिका का, व्यथित व्यक्तियों के विरुद्ध निपटारा तब तक नहीं किया जाएगा जब तक उन्हें अपने मामले को प्रस्तुत करने के लिए युक्तियुक्त अवसर नहीं दे दिया गया हो ।

(3) राज्य सरकार, ग्राम सभा द्वारा पारित संकल्प की परीक्षा करने के लिए एक उपखंड स्तर की समिति का गठन करेगी और वन अधिकारों का अभिलेख तैयार करेगी तथा इसे उपखंड अधिकारी के माध्यम से अंतिम विनिश्चय के लिए जिला स्तर की समिति को अग्रेषित करेगी ।

(4) उपखंड स्तर की समिति के विनिश्चय से व्यथित कोई व्यक्ति, उपखंड स्तर की समिति के विनिश्चय की तारीख से साठ दिन के भीतर जिला स्तर की समिति को कोई याचिका दे सकेगा और जिला स्तर की समिति ऐसी याचिका पर विचार करेगी और उसका निपटारा करेगी :

परंतु ग्राम सभा के संकल्प के विरुद्ध कोई याचिका जिला स्तर की समिति के समक्ष सीधे तब तक नहीं दी जाएगी जब तक वह पहले उपखंड स्तर की समिति के समक्ष न दी गई हो और उसके द्वारा उस पर विचार न कर लिया गया हो :

परंतु यह और कि याचिका का, व्यथित व्यक्तियों के विरुद्ध निपटारा तब तक नहीं किया जाएगा जब तक उन्हें अपने मामले को प्रस्तुत करने के लिए युक्तियुक्त अवसर नहीं दे दिया गया हो ।

(5) राज्य सरकार, उपखंड स्तर की समिति द्वारा तैयार किए गए वन अधिकारों के अभिलेख पर विचार करने और उनका अंतिम रूप से अनुमोदन करने के लिए एक जिला स्तर की समिति का गठन करेगी ।

(6) वन अधिकारों के अभिलेख पर जिला स्तर की समिति का विनिश्चय अंतिम और आबद्धकर होगा ।

(7) राज्य सरकार, वन अधिकारों को मान्यता देने और उन्हें निहित करने की प्रक्रिया को मानीटर करने और ऐसी विवरणियों और रिपोर्टों को, जो उस अभिकरण द्वारा मांगी जाएं, नोडल अभिकरण को प्रस्तुत करने के लिए एक राज्य स्तर की मानीटरी समिति का गठन करेगी ।

(8) उपखंड स्तर की समिति, जिला स्तर की समिति और राज्य स्तर की मानीटरी समिति में राज्य सरकार के राजस्व विभाग, वन विभाग और जनजातीय मामले विभाग के अधिकारी और समुचित स्तर पर पंचायती राज संस्थाओं के तीन सदस्य होंगे, जिन्हें संबंधित पंचायती राज संस्थाओं द्वारा नियुक्त किया जाएगा, जिनमें से दो सदस्य अनुसूचित जनजातियों के होंगे और कम से कम एक महिला होगी, जैसा विहित किया जाए ।

(9) उपखंड स्तर की समिति, जिला स्तर की समिति और राज्य स्तर की मानीटरी समिति की संरचना और कृत्य तथा उनके द्वारा अपने कृत्यों के निर्वहन में अनुसरित की जाने वाली प्रक्रिया वह होगी, जो विहित की जाए ।

अध्याय 5

अपराध और शास्तियां

7. इस अधिनियम के अधीन प्राधिकरणों और समितियों के सदस्यों या अधिकारियों द्वारा अपराध – जहां कोई प्राधिकरण या समिति या ऐसे प्राधिकरण या समिति का कोई अधिकारी या सदस्य इस अधिनियम या

उसके अधीन वन अधिकारों की मान्यता से संबंधित बनाए गए किसी नियम के किन्हीं उपबंधों का उल्लंघन करेगा तो वह या वे इस अधिनियम के अधीन अपराध के दोषी समझे जाएंगे और अपने विरुद्ध कार्यवाही किए जाने और जुर्माने से, जो एक हजार रुपए तक का हो सकेगा, दंडित किए जाने के भागी होंगे :

परंतु इस उपधारा की कोई भी बात इस धारा में निर्दिष्ट प्राधिकरण या समिति के किसी सदस्य या विभागाध्यक्ष या किसी व्यक्ति को दंड का भागी नहीं बनाएगी यदि वह यह साबित कर देता है कि अपराध उसकी जानकारी के बिना किया गया था या उसने ऐसे अपराध के किए जाने का निवारण करने के लिए सब सम्यक् तत्परता बरती थी ।

8. अपराधों का संज्ञान – कोई भी न्यायालय इस अधिनियम की धारा 7 के अधीन किसी अपराध का तब तक संज्ञान नहीं लेगा जब तक कि कोई वन में निवास करने वाली अनुसूचित जनजाति, किसी ग्राम सभा के संकल्प से संबंधित किसी विवाद के मामले में या किसी उच्च प्राधिकारी के विरुद्ध किसी संकल्प के माध्यम से ग्राम सभा, राज्य स्तर की मानीटरी समिति को साठ दिन से अन्यून की सूचना नहीं दे देती है और राज्य स्तर की मानीटरी समिति ने ऐसे प्राधिकारी के विरुद्ध कार्यवाही न कर ली हो ।

अध्याय 6

प्रकीर्ण

9. प्राधिकरण, आदि के सदस्यों का लोक सेवक होना – अध्याय 4 में निर्दिष्ट प्राधिकारियों का प्रत्येक सदस्य और इस अधिनियम द्वारा या उसके अधीन प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करने वाला प्रत्येक अन्य अधिकारी भारतीय दंड संहिता,1860 (1860 का 45) की धारा 21 के अर्थान्तर्गत लोक सेवक समझे जाएंगे ।

10. सद्भावपूर्वक की गई कार्रवाई के लिए संरक्षण – (1) इस अधिनियम के अधीन सद्भावपूर्वक की गई या की जाने के लिए आशयित किसी बात के लिए कोई भी वाद, अभियोजन या अन्य विधिक कार्यवाही केन्द्रीय सरकार या राज्य सरकार के किसी अधिकारी या कर्मचारी के विरुद्ध नहीं होगी ।

(2) इस अधिनियम के अधीन सद्भावपूर्वक की गई या की जाने के लिए आशयित किसी बात से हुए या हो सकने वाले किसी नुकसान के लिए कोई भी वाद या अन्य विधिक कार्यवाही केन्द्रीय सरकार या राज्य

सरकार या उसके किसी अधिकारी या अन्य कर्मचारी के विरुद्ध नहीं होगी ।

(3) इस अधिनियम के अधीन सद्भावपूर्वक की गई या की जाने के लिए आशयित किसी बात के लिए कोई भी वाद या अन्य विधिक कार्यवाही अध्याय 4 में यथानिर्दिष्ट किसी प्राधिकरण, जिसके अंतर्गत उसका अध्यक्ष, उसके सदस्य, सदस्य सचिव, अधिकारी और अन्य कर्मचारी भी हैं, के विरुद्ध नहीं होगी ।

11. नोडल अभिकरण – जनजाति मामलों से संबंधित भारत सरकार का मंत्रालय या केन्द्रीय सरकार द्वारा इस निमित्त प्राधिकृत कोई अधिकारी या प्राधिकारी इस अधिनियम के उपबंधों के कार्यान्वयन के लिए नोडल अभिकरण होगा ।

12. केन्द्रीय सरकार की निदेश जारी करने की शक्ति – अध्याय 4 में निर्दिष्ट प्रत्येक प्राधिकारी इस अधिनियम द्वारा या उसके अधीन अपने कर्तव्यों का निर्वहन करने और अपनी शक्तियों का प्रयोग करने में, ऐसे साधारण या विशेष निदेशों के अध्यधीन होगा जो केन्द्रीय सरकार, समय-समय पर, लिखित में दे ।

13. अधिनियम का किसी अन्य विधि के अल्पीकरण में न होना – इस अधिनियम और पंचायत उपबंध (अनुसूचित क्षेत्रों पर विस्तार) अधिनियम, 1996 (1996 का 40) में अन्यथा उपबंधित के सिवाय इस अधिनियम के उपबंध तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि के उपबंधों के अतिरिक्त होंगे, न कि उनके अल्पीकरण में ।

14. नियम बनाने की शक्ति – (1) केन्द्रीय सरकार, इस अधिनियम के उपबंधों को कार्यान्वित करने के लिए अधिसूचना द्वारा और पूर्व प्रकाशन की शर्त के अधीन रहते हुए नियम, बना सकेगी ।

(2) विशिष्टतया और पूर्वगामी शक्तियों की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, ऐसे नियम निम्नलिखित सभी या किन्हीं विषयों के लिए उपबंध कर सकेंगे, अर्थात् :–

(क) धारा 6 में विनिर्दिष्ट प्रक्रिया के कार्यान्वयन के लिए प्रक्रिया संबंधी ब्यौरे ;

(ख) धारा 6 की उपधारा (1) के अधीन दावों को प्राप्त करने, उन्हें समेकित करने और उनका सत्यापन करने तथा वन अधिकारों के प्रयोग के लिए सिफारिश किए गए प्रत्येक दावे का क्षेत्र अंकित

करते हुए मानचित्र तैयार करने की प्रक्रिया और उस धारा की उपधारा (2) के अधीन उपखंड समिति को याचिका देने की रीति ;

(ग) धारा 6 की उपधारा (8) के अधीन उपखंड स्तर की समिति, जिला स्तर की समिति और राज्य स्तर की मानीटरी समिति के सदस्यों के रूप में नियुक्त किए जाने वाले राज्य सरकार के राजस्व विभाग, वन विभाग और जनजाति मामले विभाग के अधिकारियों का स्तर ;

(घ) धारा 6 की उपधारा (9) के अधीन उपखंड स्तर की समिति, जिला स्तर की समिति और राज्य स्तर की मानीटरी समिति की संरचना और उसके कृत्य तथा उनके द्वारा अपने कृत्यों के निर्वहन में अपनाई जाने वाली प्रक्रिया ;

(ङ) कोई अन्य विषय, जो विहित किया जाना अपेक्षित है या विहित किया जाए ।

(3) इस अधिनियम के अधीन बनाया गया प्रत्येक नियम बनाए जाने के पश्चात्, यथाशीघ्र, संसद् के प्रत्येक सदन के समक्ष, जब वह सत्र में हो, कुल तीस दिन की अवधि के लिए रखा जाएगा । यह अवधि एक सत्र में अथवा दो या अधिक आनुक्रमिक सत्रों में पूरी हो सकेगी यदि उस सत्र के या पूर्वोक्त आनुक्रमिक सत्रों के ठीक बाद के स्तर के अवसान के पूर्व दोनों सदन उस नियम में कोई परिवर्तन करने के लिए सहमत हो जाएं तो वह नियम ऐसे परिवर्तित रूप में ही प्रभावी होगा । यदि उक्त अवसान के पूर्व दोनों सदन सहमत हो जाएं कि वह नियम नहीं बनाया जाना चाहिए तो तत्पश्चात् वह नियम, यथास्थिति, केवल ऐसे उपांतरित रूप में ही प्रभावी होगा या निष्प्रभाव हो जाएगा; तथापि, ऐसे किसी परिवर्तन या निष्प्रभाव होने से उस नियम के अधीन पहले की गई किसी बात की विधिमान्यता पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा ।

कार्यालय आदेश तारीख 13 फरवरी, 2017 के अनुसार विधि साहित्य प्रकाशन द्वारा प्रकाशित पाठ्य पुस्तकों पर छूट देने की सूची

क्रम सं.	पुस्तक का नाम, लेखक का नाम व प्रकाशन वर्ष (संस्करण)	पुस्तक की मुद्रित कीमत (रुपयों में)	7 वर्ष से पुराने संस्करण पर 35% छूट के पश्चात कीमत (रुपयों में)	8 से 15 वर्ष पुराने संस्करण पर 50% छूट के पश्चात कीमत (रुपयों में)	15 वर्ष से अधिक पुराने संस्करण पर 75% छूट के पश्चात कीमत (रुपयों में)
1.	भारत का विधिक इतिहास - श्री सुरेन्द्र मधुकर - 1989	30	–	–	8
2.	माल विक्रय और परक्राम्य लिखत विधि - डा. एन. वी. परांजपे - 1990	40	–	–	10
3.	वाणिज्य विधि - डा. आर. एल. भट्ट - 1993	108	–	–	27
4.	अपकृत्य विधि के सिद्धांत - श्री शर्मन लाल अग्रवाल - 1993	40	–	–	10
5.	अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रमुख निर्णय - डा. एस. सी. खरे - 1996	115	–	–	29
6.	श्रम विधि - श्री गोपी कृष्ण अरोड़ा - 1996	452	–	–	113
7.	संविदा विधि -डा. रामगोपाल चतुर्वेदी-1998	275	–	–	69
8.	चिकित्सा न्यायशास्त्र और विष विज्ञान - डा. सी. के. पारिख - 1999	293	–	–	74
9.	आधुनिक पारिवारिक विधि - श्री राम शरण माथुर - 2000	429	–	–	108
10	भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम (कालजयी निर्णय) - विधि साहित्य प्रकाशन - 2000	225	–	–	57
11.	हिन्दू विधि - डा. रवीन्द्र नाथ - 2001	425	–	–	106
12.	भारतीय भागीदारी अधिनियम - श्री माधव प्रसाद - 2001	165	–	–	41
13.	प्रशासनिक विधि - डा. कैलाश चन्द्र जोशी - 2001	200	–	–	50
14.	भारतीय दंड संहिता - डा. रवीन्द्र नाथ - 2002	741	–	–	185
15.	विधिक उपचार - डा. एस. के. कपूर - 2002	311	–	–	78
16.	विधि शास्त्र - डा. शिवदत्त शर्मा - 2005	580	–	290	–
17.	मानव अधिकार - डा. शिवदत्त शर्मा - 2006	120	–	60	–

विधि साहित्य प्रकाशन
(विधायी विभाग)
विधि और न्याय मंत्रालय
भारत सरकार
भारतीय विधि संस्थान भवन,
भगवान दास मार्ग, नई दिल्ली-110001

भारत के समाचारपत्रों के रजिस्ट्रार द्वारा रजिस्ट्रीकृत रजि. सं. 16288/68

सादर

विधि साहित्य प्रकाशन द्वारा तीन मासिक निर्णय पत्रिकाओं – उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका, उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका और उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिका का प्रकाशन किया जाता है । उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका में उच्चतम न्यायालय के चयनित निर्णयों को और उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका तथा उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिकाओं में देश के विभिन्न उच्च न्यायालयों के क्रमशः चयनित सिविल और दांडिक निर्णयों को हिन्दी में प्रकाशित किया जाता है । इन पत्रिकाओं को और अधिक आकर्षक बनाने के लिए इनमें जनवरी, 2010 के अंक से महत्वपूर्ण केन्द्रीय अधिनियमों का प्राधिकृत हिन्दी पाठ पाठकों की सुविधा के लिए शृंखलाबद्ध रूप से प्रकाशित किया जा रहा है । तीनों निर्णय पत्रिकाओं की वार्षिक कीमत केवल ₹ 495/- है । उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका की वार्षिक कीमत ₹ 225/- है, उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका की वार्षिक कीमत ₹ 135/- है और उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिका की वार्षिक कीमत ₹ 135/- है । तीनों मासिक निर्णय पत्रिकाओं के नियमित ग्राहक बनकर हिन्दी के प्रचार-प्रसार के इस महान यज्ञ के भागी बन कर अनुगृहीत करें ।

विधि साहित्य प्रकाशन

(विधायी विभाग)

विधि और न्याय मंत्रालय

भारत सरकार

भारतीय विधि संस्थान भवन,

भगवान दास मार्ग, नई दिल्ली-110001

दूरभाष : 011-23387589, 23385259, 23382105